CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

269

वेद-विद्या

वासुदेवशरण अग्रवाल

रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वेद-विद्या

लेखक

वासुदेवशरण अग्रवाल

प्रकाशक

रामप्रसाद एण्ड सन्स

पुस्तक प्रकाशक—आगरा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रकाशक
रामप्रसाद एण्ड सन्स
पुस्तक प्रकाशक
आगरा

294.5921
AGR

मूल्य
पांच रुपये

मुद्रक
बलदेव दास
संसार प्रेस,
काशीपुरा, वाराणसी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

श्रद्धेय पण्डित रामदत्त जी शुक्ल

आप प्राचीन ऋषियों की परम्परा में वेदों के अनन्य उपासक थे। बाल ब्रह्मचारी के रूप में आपने जन्म पर्यन्त वेद विद्या की आराधना की। वैदिक संस्कृति आपके लिये सर्वस्व थी। २५ वर्षों तक आपके पवित्र सहवास का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपके वेद स्वाध्याय के संतत सत्र से मुझे प्रेरणा मिली। वेदों और पुराणों के प्रति आपने मेरी निष्ठा को दृढ़ किया। वेदार्थ का उन्मुक्त दान आपसे मैंने प्राप्त किया। ब्राह्मणों में प्रतिपादित परम्परागत वेदव्याख्या के प्रति आपकी जो आस्था थी उससे मैं भी लाभान्वित हुआ। आप अक्षर ब्रह्म के द्रष्टा थे। भूतों से ऊपर देव संस्कृति आपके जीवन का श्वास-प्रश्वास थी। आपके साथ की उन अनेक प्रेरणात्मक स्मृतियों से आज भी उपकृत

आपके अन्तेवासी

वासुदेवशरण अग्रवाल

द्वारा

यह वेदविद्या पुस्तक

ऋषि दयानन्द दीक्षा शताब्दी

के अवसर पर आपको समर्पित है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भूमिका

वेद का भारतीय अर्थ है विश्वात्मक ज्ञान। यह ठीक है कि शब्दराशि की संज्ञा भी वेद है, पर यह स्थूल अर्थ उसका एक अंश मात्र है। विश्व ज्ञान की समष्टि अनादि और अनन्त है। वह अविनाशी अक्षर-तत्त्व है। उसे परा वाक् कहते हैं। वह ब्रह्म का ही दूसरा रूप है। इस प्रकार के वेद तत्त्व से सृष्टि का उद्गम और विकास हुआ है, अर्थात् सृष्टि के मूल में ज्ञान की शक्ति है, वह ज्ञान जो विराट् मन के अन्तहीन एवं देश और काल से अतीत किसी अचिन्त्य और अप्रतर्क्य केन्द्र में निहित है। ऐसे केन्द्र को गुहा या अव्यक्त कहते हैं। यह ध्रुव सत्य है कि व्यक्त जगत् का मूल कोई अव्यक्त तत्त्व है। धर्म, दर्शन और विज्ञान की साक्षी इस ओर समान है। गणित के अव्यक्त बिन्दु का दृष्टान्त इस विषय में पर्याप्त है। जो व्यक्त बिन्दु है वही तीन बिन्दुओं के रूप में इधर-उधर विस्तार पाकर रेखा बनता है। रेखा से वर्ग और वर्ग से घन का जन्म होता है। अन्ततः घन का अस्तित्व व्यक्त बिन्दु के अधीन है और व्यक्त बिन्दु अव्यक्त की सामर्थ्य का आकांक्षी है। अव्यक्त वह है जिसमें देश और काल का सम्पर्क नहीं। देश और काल ही विश्व के नाम रूप हैं। नाम रूप की बहुत बड़ी सत्ता है। इस दुर्धर्ष सत्ता का नाम ही विश्व है। विश्व नाना रूपों की समष्टि है। एक का नाना भाव में आना ही सृष्टि है। जो एक है वह नाना या बहुधा से अतीत है। वही गणित के शब्दों में एकमेवाद्वितीयम् या अद्वितीय एक है। वह निष्कल और अखंड एकत्व है जिसमें अंश, कला, खंड, भेद व्यष्टि भाव, बहुभाव या नाना भाव की छाया नहीं है। अव्यक्त बिन्दु और उससे उद्गत व्यक्त रूप यही सृष्टि का द्विविरुद्ध भाव है। कोई रचना ऐसी नहीं जो इसके क्षेत्र से बाहर हो। शुद्ध एक तत्त्व स्वरूप से रसात्मक है। वह

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आनन्दमय है । वही एक देव विश्व का मूल है । उसमें बाह्य वर्ण या रूप की कल्पना नहीं । किन्तु जैसे ही वह अव्यक्त एक व्यक्ति के मानस में प्रकट होता है उसमें वर्ण, रूप, आकार, संख्या, कला आदि के भाव या परिणाम प्रकट हो जाते हैं । एक अखंड मन नाना केन्द्रों में विभक्त हो जाता है । एक समष्टिगत चित्तत्त्व नाना केन्द्रों में या नाना बिन्दुओं पर चिदंश के रूपों में प्रतिबिम्बित होता है । यही सृष्टि है जिसका परिचय हम सबको हो रहा है और हम स्वयं जिसके साक्षी हैं । जब एक रसतत्त्व केन्द्र विशेष में स्फुट होता है तो उसे बल कहते हैं । प्रत्येक केन्द्र या बिन्दु की रचना बलों की सृष्टि है । असीम रस का सीमाभाव में बन्धन यही बल का रूप है । बलों से ही रूपों का निर्माण होता है । एक-एक मन या बुद्धि एक-एक बल है जो रस के धरातल पर व्यक्त होता है । रस शान्ति है, बल क्षोभ है । रस साम्य है, बल वैषम्य है । गति और आगति का स्पन्दन जहाँ नहीं है वही शान्त स्थिति-भाव है । गति-आगति के उदय से ही एक रसात्मक स्थिति तत्त्व क्षोभ में परिवर्तित होता है ।

इन दृष्टान्तों को चाहे जितनी दूर तक ले जाया जा सकता है । जिसे परा वाक् कहते हैं वही मूल वेद या ज्ञानमयी सत्ता है । वह विश्व की नाना ज्ञानकृत कलाओं का एक मूल स्रोत है उसी से अक्षरात्मक शब्दों और उनके अर्थों का उत्थान होता है । ये शब्द और उनके अर्थ हम जब चाहें प्राप्त कर लेते हैं । आकाश में इनका भंडार भरा है । हमारे कंठ के प्रयत्न या वायु के आघात से ये शब्द प्रकट होते हैं और तत्काल विलीन हो जाते हैं । शब्द को ही वाक् कहते हैं । शब्द या वाक् आकाश का गुण है । आकाश पंचभूतों में सबसे सूक्ष्म है । कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म अव्यक्त मूल तत्त्व सर्वप्रथम महत् या विश्वात्मक रूप में परिणत होता है । उस महत् या विराट् में व्यक्तिगत मानस केन्द्र स्फुट होते हैं । उन मानस केन्द्रों में शक्ति या रजोगुण के तारतम्य या स्पन्दन से पंचभूतों का निर्माण होता है । इन पञ्चभूतों में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सबसे पहला सूक्ष्म तत्त्व आकाश है। आकाश सर्व व्यापक और अखण्ड है किन्तु वह निश्चित रूप से भौतिक रचना है। आकाश का गुण शब्द या वाक् है। वह भी भौतिक है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इस क्रम से पंच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति पंचभूतों के रूप में होती है। यही भौतिक विश्व है। सृष्टि का जो अव्यक्त मूल है उसे तत् कहा जाय तो यह विश्व एतत् है। उस तत् की कोई मात्रा, सीमा या इयत्ता नहीं। उसकी ही मात्रा, सीमा या इयत्ता से यह विश्व बनता है। अतएव पंचभूतों के पंचगुणों को उस मूल अव्यक्त तत्त्व की तन्मात्रा कहा जाता है। शब्द पहली तन्मात्रा है। शब्दराशिमय जो वेद है वह तन्मात्रा के धरातल पर भौतिक और सीमित है। किन्तु उसके पीछे जो ज्ञान की समष्टि है वह अव्यक्त अखण्ड असीम है। उसकी कोई मात्रा नहीं। वह दिव्य वाक् है। जो दिव्य है उसे ही अमृत कहते हैं। जो पंचभूतों में या उनकी तन्मात्राओं में परिच्छिन्न हो जाता है वह मर्त्य होता है। वह देश-काल, नाम-रूप, जन्म और विनाश के अधीन होता है। इस दृष्टि से आकाश की जो शब्दार्थमयी वाक् है उसे मर्त्या वाक् कहते हैं। मानवीय मन का खण्डात्मक ज्ञान मर्त्या वाक् के अधीन है। किन्तु इस भौतिक आकाश का जो स्रोत है उसे ही परम आकाश या परम व्योम कहते हैं। अनादि अनन्त मूल वेद का उद्गम वही परम व्योम है। वही परा वाक् या अमृत वाक् कही जाती है। ज्ञान का वह स्रोत वैदिक भाषा में वाक् का अमृत समुद्र भी कहा जाता है। उसे ही ब्रह्म सरोवर कहते हैं। वही बुद्धि का अव्यक्त सर है। उसी सरोवर का जल प्रत्येक व्यक्ति के मानस-कमंडलु में आता रहता है। यही वाक् तत्त्व ब्रह्मा के कमण्डलु का जल है जिससे चार वेदों और पंचभूतों की सृष्टि होती है। कमण्डलु का अर्थ इसी ओर संकेत करता है। वेदों में अनिरुक्त और अमूर्त प्रजापति के लिये 'क' संकेत है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' में उसी का आवाहन है। उस अव्यक्त 'क' तत्त्व के अनेक नाम हैं। परोक्ष या संकेत भाषा में उसे ही ऊर्ध्व, गुहा, अजायमान, हिरण्यगर्भ या नम्य प्रजापति

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कहा जाता है। उस अव्यक्त का व्यक्त भाव में प्रकट होना ही 'क' प्रजापति या केन्द्र के चारों ओर मण्डल का निर्माण है। अव्यक्त बिन्दु का मण्डल ही कमण्डलु है। कमण्डलु एक पात्र है; उसे ही आवपन कहते हैं। यह सारा विश्व आवपन है। उसका प्रत्येक रूप एक-एक आवपन है। प्रत्येक मन अपने-अपने बृंहणात्मक या वृद्धि को प्राप्त होनेवाले प्रजापति का मंडल या कमण्डलु है। इस पात्र में जो जल है वह उसी अव्यक्त ज्ञान सरोवर से आया हुआ अंश है। इसे ही सरस्वती वाक् कहते हैं। वह जो मूलभूत परा वाक् है उसे वेदों में परमेष्ठिनी वाक् या आम्भृणी वाक् कहा गया है।

इस प्रकार जो मौलिक वेद विद्या है वह विश्व का समष्टि ज्ञान है। उसी ज्ञान से बुद्धि और मन के द्वारा भौतिक वाक् की और विश्व की रचना होती है। वाक् की सृष्टि ही वेदसृष्टि है। ब्रह्म का जितना गुणमय विस्तार है उतनी ही यह वाङ्मयी या भूतात्मक सृष्टि है। मन-प्राण-वाक् यही विश्व का त्रिविध विस्तार है और यही अव्यय प्रजापति का रूप है। यही विश्व का मूलभूत त्रिक है। त्रिक वेदविद्या का आधार है। विश्वविद्या ही वेदविद्या है। तीन वेदों को त्रयीविद्या कहते हैं। त्रयीविद्या त्रिक की ही संज्ञा है। तीन अग्नियाँ, तीन पुरुष, तीन गुण, तीन मात्राएँ, तीन लोक, तीन देव—ये सब मूलभूत त्रयीविद्या का ही बहुविध विस्तार है। विश्व का एक-एक कण इस मूलभूत त्रिक से ही निर्मित हुआ है। एक-एक परमाणु या प्राणात्मक स्पन्दन रूपी जीवित घटक-कोश के अभ्यन्तर में त्रिक या त्रयीविद्या का अस्तित्व है। परमाणु या कोश दोनों का संस्थान एक-एक मंडल है। यह समस्त सृष्टि मंडलात्मक रचना है।

वैदिक भाषा में इस त्रिक का महत्त्वपूर्ण रूप पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक है। इन तीनों के संचालक शक्तितत्त्वों को अग्नि, वायु और सूर्य कहते हैं। वस्तुतः ये तीन एक ही मूलभूत अग्नि के तीन रूप हैं। इन्हें

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अग्नि के 'तीन भाई' कहा जाता है। जो पृथिवी पर अग्नि है वही द्युलोक में सूर्य या आदित्य है। उसे ही इन्द्र भी कहते हैं। अग्नि और इन्द्र दोनों ही दिव्य शक्तियों के रूप हैं। इनकी कल्पनाएँ विजड़ित नहीं, तरंगित हैं। यही वैदिक अर्थों की प्राणवन्त शैली थी। द्युलोक में भी इन्द्र है जिसे मघवा कहते हैं। अन्तरिक्ष में मरुत्वान् इन्द्र और पृथिवी पर अष्ट वसुओं की समष्टि वासव इन्द्र है। प्रत्येक देवता त्रिवृत् है। वह तीनों स्थानों में रहता है। उसका देवत्व यही है कि देश और काल में उसकी शक्ति प्रतिहत नहीं होती। अन्तरिक्ष में जो मरुत् हैं वे इन्द्र के सामन्त या सहचारी प्राण हैं। वे ही विद्युत् शक्ति या प्राण शक्ति के रूप हैं। उनसे सूक्ष्म जो प्रज्ञा या मानस शक्ति है वह इन्द्र का ही रूप है। एक दूसरे से अधिक सूक्ष्म है। यही उनका तारतम्य है। वही शक्ति स्थूल शरीर का संचालन करने वाली वैश्वानर अग्नि है जिससे अन्न का परिपाक और स्थूल देह में सप्त धातुओं की चिति होती है। स्थूल शरीर पंचभूतात्मक वाक् है; उसके भीतर प्राण है; और उसके भीतर सूक्ष्म चिति तत्व या प्रज्ञा या मन का निवास है। इन तीनों के मिलने से ही पुरुष का जीवन है। ये तीनों इस यज्ञ की अग्नियाँ हैं जो तीन वेदियों में दहक रही हैं।

इस प्रकार वेद-विद्या का लक्ष्य मानव-जीवन एवं विश्व-जीवन की रचना की व्याख्या करना है। सृष्टिविद्या ही वेदविद्या है। सृष्टिविद्या अनन्त है। वेदविद्या भी उसी प्रकार अन्तहीन है। जिस भूत के कार्य को देखें उसी में पूरा एक विश्व समाया हुआ है। अणुवीक्षण की शैली से भूतों का परिचय प्राप्त करना विज्ञान की पद्धति है। किन्तु प्रत्येक भूत के भीतर जो अक्षर प्राण तत्त्व है उसका दर्शन करना यह ऋषियों की शैली थी। इस विश्व में दो ही पदार्थ हैं—एक भूत, दूसरे देव। अक्षर, प्राण या जीवन तत्त्व को देव कहते हैं। मूलभूत एक देव अनेक देवों के रूप में प्रकट होता है। बृंहण या बहुभाव उसका स्वभाव है। वह आतप है। विश्व उसकी छाया है। सर्वत्र देव की शक्ति के दर्शन यही वैदिक दृष्टि है। भूतों के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नानात्व की खोज यह विज्ञान की पद्धति है। नाना भावों में ओतप्रोत जो एक अन्तर्यामी सूत्र है उसका दर्शन आर्ष चक्षु की विशेषता थी। वेदविद्या का लक्ष्य वही एक अविनाशी अक्षर तत्त्व है। उसके आनन्द और चैतन्य गुणों की साक्षात् अनुभूति वेदविद्या का फल है। वेद का रस बाह्य शब्दों में नहीं, अन्तर देवतत्त्व में है। देवतत्त्व वह है जो अमृत है, सर्वत्र है, देश काल के बन्धन से रहित है। वही आनन्दमयी चैतन्य सत्ता है।

वेद पूरे पट के समान है। उसके किसी भी धागे को कहीं से पकड़ें पूरा पट सामने आने लगता है। उसके लिये मानवी मन की बढ़ी हुई जिज्ञासा और एकाग्रता चाहिए। सूर्य, चन्द्र, आकाश, पर्वत, समुद्र, अग्नि, अश्वत्थ, वृक्ष, वन, अश्व, गौ, वृषभ इत्यादि जितने प्राणिरूप या पदार्थ हैं वे सब मानों खूँटियाँ हैं जिन पर वैदिक अर्थों को टाँग दिया गया है। इसे निदान विद्या कहते थे। शतपथ में लिखा है—**गायत्री वा एषा निदानेन** १।४।१।३६।—यह जो सृष्टि है उस सब की व्याख्या निदान विद्या के द्वारा अकेले गायत्री मंत्र में की जा सकती है। गायत्री समस्त त्रयी विद्या का प्रतीक और सब वेदों का सार है। यह तथ्य पहले कुछ शिथिल सा लगता है, किन्तु वैदिक दृष्टिकोण को एक बार समझ लेने पर यह परिभाषा स्पष्ट हो जाती है। गायत्री शक्तिमत् अक्षर तत्त्व का प्रतीक है। सूर्य और पृथिवी, अव्यक्त और व्यक्त, समष्टि और व्यष्टि, एक और नाना के मध्य में जो शक्ति का निरन्तर स्पन्दन है, वही गायत्री है। गायत्री ऐसा सुपर्ण या श्येन है जो यदि एक बार अपने पंखों को फड़फड़ाने लगे तो जीवन में समष्टिगत अमृत अक्षर देव-तत्त्व का फव्वारा छूटने लगता है। इसे ही वेदों में सुपर्ण के पतत्र या पंखों का संधमन कहा है। यह सुपर्ण सबके भीतर व्याप्त प्राण या जीवन का स्पन्दन है। यह एक अग्नि है। इसकी प्रदीप्त ज्वाला ही सुपर्ण या श्येन पक्षी है जो स्वर्ग या दिव्य समष्टि लोक से मानव के लिये अमृत का घट लाता है। दिव्य अमृत जीवन का भूतल पर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Funding: MIDF

अवतरण यही गायत्री के द्वारा सविता देव के वरेण्य तेज की उपलब्धि है। ज्ञान और कर्म की जो इकाई प्रतिपल जीवन में प्रकट हो रही है वही 'धी' है। मन या प्रज्ञा से ज्ञान की और प्राण या शक्ति से कर्म की अभिव्यक्ति हो रही है। दोनों का सम्मिलित रूप 'धियः' कहा जाता है। जीवन या आयुष्य 'धियः' का प्रकट रूप है। 'धियः' के मूल में सविता देव की शक्ति का दर्शन यदि होता रहे तो व्यक्ति का समष्टिगत देवतत्त्व के साथ सम्बन्ध बना रहता है। व्यक्ति मर्त्य है, देव अमृत है। मृत्यु में विषाद और अमृत में आनन्द है। आनन्दरूप अमृत का आस्वाद ही कर्मों का लक्ष्य है। इस प्रकार केवल गायत्री मंत्र ही समस्त वेद-विद्या का सार है। उसके आरम्भ में प्रणव की तीन मात्राएँ वाक् या ज्ञान की प्रतीक हैं, एवं भूर्भुवः स्वः रूप तीन व्याहृतियाँ तीन लोक हैं जिनके आवपन या पात्र में मन-प्राण-वाक् की रचना होती है। वेदविद्या बुद्धि का कुतूहल नहीं। वह पाण्डित्य का विलास भी नहीं है। वेद-विद्या का लक्ष्य प्राण या चैतन्य अमृत तत्त्व का साक्षात्कार है। इसीलिए कहा गया—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा दरिष्यति
य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

(ऋग्वेद १।१६४।३६)

अर्थात् व्यक्त मंत्रों की जितनी ऋचाएँ हैं उनका मूल स्रोत उस अक्षर तत्त्व में है जो परम व्योम या चिदाकाश में स्थित है। उस अक्षर या अविनाशी एक देव से ही सृष्टि के नाना देव उत्पन्न होते हैं और उसी के धरातल पर स्थित रहते हैं। जिसने उस 'तत्' प्रणवात्मा अक्षर को नहीं जान पाया, उसे शब्दमयी ऋचाओं से क्या लाभ हुआ? जिन्होंने उसे जाना उनका ही 'समास्या' या ऋषिगोष्ठियों में सम्मिलित होना सफल है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इस प्रकार वेदविद्या उनके लिये चरितार्थ है जो तत्त्व को स्वयं जानने और प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

वेद-विद्या का मर्म जानने के लिये कितनी ही विद्याओं पर ध्यान देना आवश्यक है, जैसे यज्ञविद्या, देवविद्या, लोकविद्या, प्राणविद्या, छन्दोविद्या, अग्नि-सोमविद्या, प्रजापतिविद्या, हृदयविद्या, त्रयीविद्या, अव्यय-अक्षर-क्षरत्रिपुरुषविद्या, पंचचितिविद्या, संवत्सरविद्या, मनुविद्या, विराज्विद्या, सदसद्विद्या, अमृतमृत्युविद्या, पर्यङ्कविद्या, अश्वत्थविद्या, निदानविद्या, सप्तहोतृ-विद्या, मधुविद्या, ऋत-सत्यविद्या, कूर्मविद्या, वेनविद्या, स्वयम्भूविद्या, परमेष्ठि-विद्या, अग्निविद्या, इन्द्रविद्या, मित्रावरुणविद्या, अदिति-दितिविद्या, गायत्री-विद्या, सवितृविद्या, इत्यादि। वेदमन्त्रों में अनेक परिभाषाएँ हैं। उनका पूरा कोश ही बनना आवश्यक है। पारिभाषिक शब्दावली का यथार्थ ज्ञान होने पर ही सृष्टिविद्या को आत्मसात् किया जा सकता है। यह महतोमहीयान् शास्त्र है। इसकी अपनी दुर्धर्ष सत्ता है। निरन्तर जिज्ञासा, स्वाध्याय, और ध्यानकृत संप्रश्न से वेदार्थ की समस्या का उत्तरोत्तर समाधान प्राप्त होता जाता है। ज्ञान के मधुमान् महासमुद्र की एक बूँद ही मानव का निजी ज्ञान है। मन की समाधि के अनुरूप ही वेदार्थ ज्ञान की क्षमता मानव को प्राप्त होती है।

'वेद-विद्या' नामक इस संग्रह में समय-समय पर लिखे हुए मेरे कुछ वैदिक निबन्धों का संग्रह है। इससे पूर्व 'उरुज्योति' नामक एक अन्य संग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। वेदार्थ के सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण परम्परागत ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषदों की शैली का अनुयायी है। संग्रह के कुछ लेख 'हिन्दी विश्वभारती' लखनऊ में पहले प्रकाशित हुए थे, जैसे जिज्ञासा, संप्रश्न, अनन्त, विराट् और वामन, अश्वत्थ, काल, देश, ऋत, सत्य। उसके संपादक श्री कृष्ण वल्लभ जी द्विवेदी ने मुझे उनके पुनःप्रकाशन की अनुमती प्रदान करने की कृपा की, इसके लिए मैं

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Funding: MIDF

उनका कृतज्ञ हूँ। मेरी भगवान् से प्रार्थना है कि इन लेखों के माध्यम से वेदार्थ के उद्घाटन का द्वार प्रशस्त हो।

अपने अनन्य सखा और वैदिक गुरु श्री पं० रामदत्त जी शुक्ल को महर्षि दयानन्द दीक्षा शताब्दी के अवसर पर इस ग्रन्थ को समर्पित करते हुए मुझे उनके वियोग में कुछ सान्त्वना प्राप्त हुई है।

काशी विश्वविद्यालय
मार्गशीर्ष शुक्ल ५, सं० २०१६
५ दिसम्बर १९५९

वासुदेवशरण

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Funding: MIDF

विषय-सूची

क्रम संख्या	पृष्ठ संख्या
१. वैदिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण	१
२. ऋषिर्दर्शनात्	१२
३. गुहा	३५
४. अंगिरस् अग्नि	४२
५. अमृत	५१
६. पुरुष प्रजापति	६६
७. आयुष्टोम	८९
८. सविता	९५
९. छंद-मर्यादा	१०२
१०. सोम	१०५
११. मेध तत्त्व	११३
१२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव	११६
१३. जिज्ञासा	१२६
१४. संप्रश्न	१३३
१५. अनन्त या सहस्र	१४२
१६. विराट् और वामन	१४९
१७. अश्वत्थ	१५८
१८. काल	१६७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१९. देश	१७७
२०. ऋत	१८५
२१. सत्य	१९५
२२. ज्योति	२०५
२३. पूर्ण कुम्भ	२१०
२४. वैदिक परिभाषाएँ	२२०
२५. प्रजापति-विद्या	२३४
२६. इन्द्र	२७७
२७. सरस्वती	२९९

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वेद विद्या

१. वैदिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण

विश्व की अनन्तता के विषय में आज विज्ञान ने विशिष्ट यन्त्रों की सहायता से कितने ही नए तथ्यों की जानकारी दी है। इस विश्व का विस्तार कितना है? इसकी रचना का सम्भाव्य क्रम किस प्रकार का है? इसके भौतिक स्वरूप की रचना किन तत्त्वों से हुई है? इन भौतिक तत्त्वों के पीछे प्रवर्तक शक्ति-तत्त्व क्या है और कैसे वह एक शक्ति अपनी विशेषता से भूत-भौतिक पदार्थ, मनस्तत्त्व और जीवन इन तीन रूपों में प्रकट हो रही है? इन सब प्रश्नों के समाधान का महान् प्रयत्न अर्वाचीन विज्ञान में पाया जाता है। विज्ञान की साक्षी मूल्यवान् है। उसके मूल में मानव-जाति की ठोस बौद्धिक साधना छिपी है। जिस प्रकार बहुत से श्रमिक तीक्ष्ण कुदालियों से खोदते हुए भूमिस्थ जल को खोज निकालते हैं, वैसे ही सृष्टि के अनेक नियमों को बुद्धि की प्रखर रश्मियों से अर्वाचीन वैज्ञानिकों ने ढूँढा है। आज लक्षानुलक्ष उत्कृष्ट मानव-मस्तिष्क विश्व-रहस्य की खोज में परिश्रम कर रहे हैं। उनके प्रयत्न सचाई से भरे हुए हैं। उनमें जो हार्दिक श्रम और तप है, उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। वस्तुतः वैज्ञानिक के लिए सच्ची पूजा के दो पुष्प समर्पित करना योग्य है।

ऋषि कौन?

जो व्यक्ति प्राचीन दर्शन की श्लाघा करते हुए अर्वाचीन विज्ञान को हेय मानते हों, उनका दृष्टिकोण अनुमोदनीय नहीं है। विज्ञान की भाषा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नए युग के ज्ञान-साधन की भाषा है। वैज्ञानिकों को सच्चा ऋषि कहना चाहिए। सत्य की जिज्ञासा ऋषित्व का प्रथम और अन्तिम लक्षण है। सत्य का साक्षात् दर्शन जिसे हो, वह ऋषि है। 'ऋषिर्दर्शनात्' इस परिभाषा की आयु यद्यपि कई सहस्र वर्ष पुरानी है, फिर भी उस में परिवर्तन का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। भारतवर्ष के मनीषियों ने ज्ञान-साधन का जो आदर्श स्थिर किया था, वह आज भी मान्य है। विश्व-सम्बन्धी ऊहापोह और तर्क-वितर्क आज की शैली में प्रत्यक्ष प्रयोग अर्थात् यन्त्र-साध्य अनुभव का विषय बन गए हैं। किन्तु सत्य को स्वयं पहचानने, सत्य का आविष्कार करने, विश्व के नियमों के पीछे सत्य का स्वयं दर्शन करने के आदर्श में पहले की अपेक्षा इस समय तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ है। अतएव यह कहना तथ्य का अपलाप न होगा कि **ऋषि वैज्ञानिक थे और वैज्ञानिक ऋषि हैं**। विश्व के मूल में जो ज्ञान और बल की क्रिया है, उसको समझने का लक्ष्य दोनों के सामने था। ऋषियों की एक दूसरी परिभाषा यास्क ने इस प्रकार दी है। **'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः'**—जिसने धर्म का साक्षात्कार या स्वयं अनुभव किया हो, वह ऋषि है। वस्तुतः **ऋषिर्दर्शनात्** सूत्र की यही व्याख्या है। इस व्याख्या में धर्म शब्द का क्या तात्पर्य है? आरम्भ में ही यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि मत, सम्प्रदाय या पंथ का पर्यायवाची जो धर्म शब्द है, उससे यहाँ दूर का भी प्रयोजन नहीं। धर्म उन नियमों की संज्ञा है जिनसे यह सृष्टि-प्रक्रिया गतिशील है। **धारणाद् धर्मः**—अर्थात् धारणात्मक तत्त्व का वाचक धर्म शब्द है। यह तो प्रत्यक्ष ही विदित होता है कि इस विचाली और क्षण-क्षण परिवर्तनशील विश्व के मूल में कोई ध्रुव तत्त्व अवश्य है। यदि ध्रुव प्रतिष्ठात्मक धरातल न हो तो विश्व का गत्यात्मक क्षणिक भाव कदापि सम्भव नहीं हो सकता। जितनी गति है, उसके लिए स्थिर आधार चाहिए। यदि ध्रुव में केन्द्र न हो तो चंचल परिधि की कल्पना हो ही नहीं सकती। परिधि में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ह्रास और वृद्धि की सम्भावना है, केन्द्र में नहीं। केन्द्र ही वह ध्रुव बिन्दु है? जो परिधि का नियामक है। वह अन्तर्यामी तत्त्व है। अन्तर्यामी उसे कहते हैं जो अन्तर में रहता हुआ बाहरी स्वरूप का नियमन करता है। जो अन्तर है उसे ही प्राचीन परिभाषा में और कई नामों से पुकारते थे। जैसे गुहा, हृदय, नाभि, उक्थ। उसे ही आज की भाषा में केन्द्र कहते हैं। केन्द्र या हृदय प्रतिष्ठा-तत्त्व का नाम है। जो क्षणिक है वही काल-प्रसारित है, वही गत्यात्मक और परिवर्तनशील होता है। उसके लिए स्थित्यात्मक नित्य धरातल आवश्यक है। स्थिति और गति की समष्टि ही विश्व है। विश्व का बाह्य रूप गति के आश्रित देश और काल में सदा परिवर्तनशील है।

गति और स्थिति

किन्तु क्षण-क्षण घटित होने वाले परिवर्तनों के मूल में एक अपरिवर्तनीय अव्यय तत्त्व अवश्य है। वस्तुतः जो स्थिति है वही गति-भाव को प्राप्त करती है। प्राचीन दार्शनिक परिभाषा के अनुसार स्थिति-तत्त्व का नाम आकाश और गति-तत्त्व का नाम वायु है। स्थिति और गति दोनों साक्षेप भाव हैं, किन्तु एक दूसरे के अविनाभूत हैं। कोरी गति स्थिति के बिना कभी नहीं रह सकती। सौ मील प्रति घंटे की गति और सहस्र मील प्रति घंटे की गति में क्या अन्तर है? उन दोनों का अन्तर यही है कि पहली गति में दूसरी की अपेक्षा स्थिति-भाव अधिक है। ऐसे ही दस सहस्र मील प्रति घंटे की गति सहस्र मील वाली गति से इस बात में भिन्न है कि पहली के गर्भ में स्थिति-भाव कम है, दूसरी में अधिक। तो वस्तुतः स्थिति और गति दोनों की कल्पना सापेक्ष तारतम्य पर आश्रित है। इसी प्रकार प्रकाश और अंधकार, शीत और उष्ण के द्वन्द भी तारतम्य के अधीन हैं। यह संसार इस प्रकार द्विविरुद्ध भावों से भरा हुआ है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही इस मौलिक तत्त्व को अपने-अपने ढंग से स्वीकार करते

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हैं। यहाँ तक कि नीले और लाल वर्णों का द्वन्द्व भी वास्तविक नहीं है, केवल सूर्य-रश्मियों के तारतम्य के अधीन है। जो रश्मियाँ लम्बाई में अधिक हैं वे लोहित वर्ण की व्यंजक हैं, जो ह्रस्व हैं वे नीले वर्ण की।

ह्रस्व और दीर्घ ये स्वयं भी क्या अन्तिम सत्य हैं ? इनका भेद केवल मन से माना हुआ एक तारतम्य है। ऊपर-नीचे, पहले-पीछे, पूर्व-पश्चिम, पर-अपर, गुरु-लघु आदि द्वन्द्वात्मक भेद केवल भाति-सिद्ध है सत्ता-सिद्ध नहीं, अर्थात् वे केवल इस रूप में जाने जाते हैं या दिखाई पड़ते हैं, वास्तविक नहीं हैं। विज्ञान की भाषा में वे सापेक्ष हैं, दर्शन की भाषा में वे प्रतीतिमात्र हैं। वैदिक प्रतीक या पुराण की भाषा में वे ऐसे यक्ष हैं जिनका रूप आकाश में दूर तक फैला हुआ भारी भरकम दिखाई देता है, पर जिनके पीछे तथ्य कुछ नहीं है। ऐसे पदार्थों को वैदिक भाषा में 'अभ्व' कहा गया है। जो हो कर भी कुछ न हो, उसे 'अभ्व' कहते हैं। **'नामरूपे ह वै महती अभ्वे महती यक्षे'** (शतपथ)—नाम और रूप ये दोनों बड़े अभ्व और बड़े यक्ष हैं।

प्रवर्तक शक्ति

आज यह विज्ञान का सत्य है कि नाम और रूप ही विश्व है। विज्ञान बताता है कि वस्तुएँ जैसी दिखाई पड़ रही हैं, वस्तुतः वे वैसी नहीं हैं। पौधे के मूल में कोई शक्ति है जो भौतिक परमाणुओं को पकड़ कर अपने वश में कर लेती है और उन्हें अपने संस्थान में ढाल कर रूप का निर्माण कर देती है। उसीसे क्रमशः पौधे का रूप बनता है, उसी से क्रमशः पुष्प का रूप बनता है और उसी से क्रमशः फल का रूप बन जाता है। पौधा, पुष्प और फल वस्तुतः कहीं कुछ नहीं है—एक शक्ति की प्रक्रिया के विकास मात्र हैं, जिसमें स्वयं न कहीं रूप है और न कोई परिमाण, भार आदि की उपाधि। जब रूप का वास्तविक अस्तित्व नहीं है तब नाम का अस्तित्व कहाँ हो सकता है ? वृक्ष, पुष्प और फल ये भिन्न नाम कुछ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नहीं हैं, वाणी के विकार मात्र हैं। वायु के घात-प्रत्याघात से उत्पन्न कुछ अक्षर और शब्द हैं, जिन्हें मानवीय बुद्धि ने किसी क्रम से सजा दिया है। वस्तुतः उन अक्षरों और उनसे बने हुए शब्दों में सब नामों का अंतर्भाव कहाँ है? वाक् के क्षेत्र में वैखरी के धरातल पर जो उत्पत्ति-विनाश या क्षणिकता का नियम हम देखते हैं, वही क्षणिक विचाली वस्तुओं के लिए भी अनुभव में आता है।

किन्तु इन क्षणिक परिवर्तनों के मूल में इनकी प्रवर्तक कोई शक्ति अवश्य है। उस शक्ति-तत्त्व का स्वरूप क्या है? इस विषय में आज विज्ञान की स्थिति डावाँडोल है। जिसे हमने कुछ काल पूर्व दुष्प्रधर्ष भूत भौतिक द्रव्यों के रूप में पकड़ कर रक्खा था। आज उसकी वह दृढ़ता विश्लेषण की आग से पिघल कर विलीन हो रही है। प्रकृति के विधायक जो मौलिक तत्त्व समझे जाते थे, पहले उन्होंने परमाणु के हाथों आत्म-समर्पण किया। फलतः बानवे तत्त्वों का दृश्यभेद मौलिक न रह गया। पुनः परमाणुओं की पृथक् सत्ता को भी आघात लगा। अलग-अलग तत्त्वों के अलग-अलग परमाणु किसी प्रातिस्विक विशेषता के कारण निज-निज रूप को लिए हुए न थे। उनका आपेक्षिक भेद उनके विद्युदणुओं (इलैक्ट्रॉन) की संख्या पर निर्भर है। विज्ञान की इस तपन से परमा-णुओं का भेद भी पिघल गया। अब तो यह निश्चित है कि न वस्तु, न द्रव्य, न अणु, न परमाणु, न विद्युदणु—इनमें से कोई भी सत्य-सिद्ध नहीं है। ये सब प्रतीति-मात्र हैं। इनके मूल में केवल एक शक्ति है जिसे भौतिक कहते और मानते हुए भय लगता है और नितांत अभौतिक कहें तो भी नहीं बनता।

उलझन की अवस्था

यह एक उलझन की अवस्था है। ज्ञात होता है कि सृष्टि के मूल में पदे-पदे उलझन है। कुछ दूर तक तो मार्ग सम-धरातल पर दिखाई

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पड़ता है, किन्तु एक द्वार ऐसा मिल जाता है जो किसी ओहार या परदे से ढका है। उसे उठाकर भीतर झाँकने पर प्रलोभन मन में आते ही उलझन का अनुभव होने लगता है। यह भी सही, वह भी सही; यह भी नहीं, वह भी नहीं, कुछ इस प्रकार की दुविधा में फँस जाना पड़ता है। दर्शन की भाषा में कहें तो सत् भी नहीं; असत् भी नहीं; मृत्यु भी नहीं; अमृत भी नहीं; लोक भी नहीं, परलोक भी नहीं; अणु भी नहीं, महत् भी नहीं; दूर भी नहीं, निकट भी नहीं; कम्प भी नहीं, स्थिरता भी नहीं; चल भी नहीं, अचल भी नहीं; गति भी नहीं; स्थिति भी नहीं। विज्ञान की भाषा में कहें तो मैटर भी नहीं, एनर्जी भी नहीं; क्वांटम भी नहीं, कंटिन्यूइटी भी नहीं। फिर है तो क्या है? क्या आदि से अन्त तक यह एक उलझन ही है?

घबराया हुआ मन जिसे उलझन कहता है, समाहित मन उसे ही गुहा-निहित रहस्य कह कर प्रख्यात करता है। उलझन को ही प्रहेलिका कहते हैं। विश्व सदा से पहेली है—दर्शन के लिये भी विज्ञान के लिये भी। दर्शन के समाधान जैसे इस बुझौवल को न बूझ सके, वैसे विज्ञान के चमत्कारिक, आविष्कार भी इसका बाल बाँका न कर सके। जैसे इन्द्र ने किसी समय कहा था—'**मम लोमापि न मीयते**'—मेरा एक रोवाँ भी किसी से सीमित नहीं किया जा सकता। इन्द्र ही विश्व की प्रज्ञा समष्टि है, उसके एक रोएँ की थाह भी क्या किसी को मिल सकती है? यदि ऐसा हो तब तो पहेली अनबूझ नहीं रह जायगी। जो सम्प्रश्न है वह सदा सम्प्रश्न ही बना रहेगा, यह ध्रुव सिद्धान्त है। इस सम्प्रश्न से जूझनेवाले आज अनेक हैं। लाखों वैज्ञानिक अपने ज्ञान की आहुति इस प्रश्न के खुले हुए मुँह में रात दिन डाल रहे हैं, पर प्रश्न का मुँह बन्द नहीं हो पाता। वह तो जैसे सुरसाँ के मुँह की भाँति और बढ़ता जाता है।

कहते हैं कि जनक की सभा में कोई ऐसा धनुष था जिसे उठाने के लिये दस सहस्र राजा एक साथ लग गए थे, फिर भी वह टस से मस नहीं

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हुआ। विश्व का रहस्य ही वह शिव-धनुष है, जिसे चढ़ाना बौद्धिक प्रयत्नों की संख्या पर निर्भर नहीं है। विद्वद्वर मेटरलिंक इस सम्प्रश्न की दुरूहता के विषय में दूसरे ही ढंग से सोचने लगते हैं–'मैं अपने शत्रु के लिये भी यह न चाहूँगा कि उसे किसी ऐसे विश्व में रहना पड़े, जिसके एक परमाणु का भी पूरा रहस्य जान लिया गया हो।'

यदि यहाँ शंका और निराशा, सन्देह और अनास्था का क्षेत्र फैला हुआ है तो मानव क्या करे? बुद्धि ही उसका सच्चा मित्र है। क्या अपनी उस विज्ञानात्मा शक्ति के विषय में हमें हताश हो जाना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर शीघ्रता में नहीं दिया जा सकता और न हलकेपन से ही कोई कुछ कह सकता है। 'हाँ' और 'नहीं' दोनों ही दृष्टिकोण ठीक हैं। जिस व्यक्ति ने पूर्व युग में कभी इस प्रश्न से लोहा लिया था, उसका कहना है—"कौन सचमुच जानता है, और कौन यहाँ कह सकता है, कैसे यह सृष्टि जन्मी, कहाँ से आई? कौन जाने कैसे यह हुई? जो इसका साक्षी कोई कहीं है, उसने इसे बनाया हो, या उसने भी न बनाया हो; वही उसे जानता हो या सम्भव है वह भी नहीं जानता हो' (ऋग्वेद नासदीय सूक्त मं०७, ८)। कैसे विलक्षण ये उद्गार हैं? कितने साहस भरे ये शब्द हैं? झिझकते हुए इन वाक्यों के पीछे कैसी निडर चिंतन-शक्ति है? विश्व के निर्माता को भी उसके बनाए विश्व के विषय में एक बार अनजान कोटि में रखने के लिये जिस दृढ़ता और मानवीय श्रद्धा की आवश्यकता है, उसकी कल्पना करना कठिन है। वस्तुतः यह नकारात्मक या निराकरण की संदेहमयी पद्धति नहीं है। यह तो सब कुछ कह चुकने के बाद भी मानस-रश्मियों का वह तरल स्पन्दन है जो फिर और कहने और सोचने का संवेग प्रकट करता है, जो देश और काल की मर्यादा से कुंठित नहीं होता, जो श्रद्धामय हृदय की ऊर्मियों को और आगे प्रसारित करता है। संकोचन और प्रसारण का नाम ही प्राण है। प्राणात्मक चिंतन वही है, जो अपने केन्द्र में सिमिट कर नहीं रह जाता, बल्कि अपने दिव्य संकेतों को उन्मुक्त

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रूप से चारों ओर भेज कर प्रतीक्षा करता है कि उत्तर में कहीं से कुछ नए सूत्र प्राप्त हों।

प्रज्ञावाद

मानव प्रज्ञाशील प्राणी है। प्रज्ञा उसकी महती शक्ति है। प्रज्ञावाद अनुसंधान की युक्ति है। वैज्ञानिक अन्वेषण की वही मूलभूत शैली है। क्या वैज्ञानिक और क्या दार्शनिक विश्व के रहस्य में दोनों ही प्रज्ञा या तर्क का आश्रय लेते हैं। प्रमाण और अनुमान की ही संज्ञा तर्कपरायण चिंतन है। दोनों के साथ शब्दप्रधान प्रामाणिक चिंतन को भी मानना ही पड़ता है। ऋषियों के शब्द हों या वैज्ञानिकों के, दोनों में अन्तर कहाँ है ? अपने-अपने क्षेत्र में दोनों ही की अनिवार्य आवश्यकता है, किन्तु दोनों के शब्दों की मर्यादा है। जिज्ञासु का अपना अनुभव प्रमाण होता है। जिस शब्द को पुराने और नये अनुभव का बल नहीं है, वह शब्द-प्रमाण थोथा है। विज्ञान के पोथे हों या धर्म के, दोनों विश्वात्मक सत्य की कसौटी पर खरे उतरने चाहिएँ। उन्हें बार-बार कसा जायगा। कसौटी उनके लिये भय का कारण नहीं। वही तो उन्हें खरा कंचन सिद्ध करने का न्यूनतम अनिवार्य साधन है।

विश्व में अन्तर्निहित जो विरोध या द्विविरुद्ध भावों का अस्तित्व है, वह व्यवहारपक्ष में तथ्य है और रहेगा। किन्तु परमार्थ पक्ष में उन विरोधों का परिहार होने लगता है। व्यवहारपक्ष में अपने-अपने केन्द्र हैं। बल की ग्रंथियों से केन्द्रों का निर्माण होता है। जब बल की ग्रंथियों का विमोक होने लगता है, तब एकमात्र रस की साम्य अवस्था या शान्त स्थिति का अनुभव होता है। उसमें खिंचाव या तनाव नहीं रहता। बल की अवस्था केन्द्रस्थ बुद्धि की चेष्टा है। किन्तु इसके ठीक विपरीत हृदय की श्रद्धा समग्र रस-तत्त्व के साथ तन्मय होने की स्थिति है। जब हम समग्र वस्तु में से एक-एक खंड बुद्धि द्वारा या श्रम द्वारा अपने लिये अलग पकड़ना चाहते

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हैं तब उसके लिये प्रयत्न या बल चाहिए। वह बल की ग्रंथि खंड-भाव उत्पन्न करती है। उसमें अणु-महत्, ह्रस्व-दीर्घ, पर-अपर आदि के द्वंद्व तत्काल प्रविष्ट हो जाते हैं। किन्तु जिस क्षण हम हृदय की बल-ग्रंथि को हटा लेते हैं, उसी क्षण वे द्वन्द्वात्मक भेद या खंड-भाव मिलने लगते हैं और समग्र भाव के साथ हमारा तादात्म्य होने लगता है। खंड-भाव को बल और समग्र भाव को रस कहते हैं। बल से तनाव और रस से आनन्द की उपलब्धि होती है। खंड-भाव का क्षेत्र संसार है। रस-भाव का क्षेत्र वह है जो संसार नहीं है। जो संसार नहीं है, वही विश्वातीत अविकृत तत्त्व ब्रह्म है।

विज्ञान की शैली

वस्तुतः जिसे व्यवहार और परमार्थ इन दो रूपों में देखा जाता है, वह भी एक ही मूल अविकृत तत्त्व की दो रूपों में कल्पना है। जैसे एक ही मूलभूत शक्ति अविकृत शक्ति के रूप में भी रहती है और वही अपने भीतर से विकारी वस्तुओं को जन्म देती है। जैसे विज्ञान के प्रयोगात्मक उपायों से हम देखते और जानते हैं, वैसे ही एक अविकृत ब्रह्म तत्त्व स्वयं अविकृत रहता हुआ अपने ही भीतर और अपनी ही शक्ति से अनेक विकारी मूर्ति रूपों को उत्पन्न कर रहा है। अमूर्त्त और मूर्त्त दोनों उसी ब्रह्म के रूप हैं। उसे ही अनिरुक्त और निरुक्त भी कहते हैं। निरुक्त या मूर्त्त रूप को ही भूत या विश्व या प्रजा कहा जाता है। विश्व, भूत या प्रजा का जो अधिपति है वही प्रजापति है। भूतों के द्वारा ही प्रजापति की पहचान सम्भव है। 'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः'—यही ऋषि-दर्शन की शैली है। और यही विज्ञान की शैली है।

अणु-वीक्षण और दूर-वीक्षण से हम निकटस्थ या दूरस्थ भूतों का अनुसन्धान करते हैं। प्रत्येक की रचना और संस्थान को जानने का प्रयत्न करते हैं। वृक्ष के एक-एक तृण और पर्ण में विज्ञान की दृष्टि उसके मूल शक्ति-तत्त्व का अन्वेषण कर रही है। जो सामने है, वह प्रकट है, उसे

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

'यथा' कहा जाता है। इस यथा का मूल कहीं कुछ है जो अप्रकट है, रहस्यमय है, गुहा-निहित है, उसे तथा कहा जाता है। यथा का निर्माण उस तथा से हुआ है। जो सामने है वह एतत् है, जो दूर है वह तत् है। 'एतद्वै तद्' यही ऋषियों का सत्यात्मक अनुभव था। वैज्ञानिक का समाश्रय भी यही नियम है। एक बिन्दु पर जो नियम है, वह एतत् है। जो महान् विश्वासात्मक है, वह तत् है। उसे ही महानात्मा, महत्तत्त्व, महद् ब्रह्म कहा जाता है। वह अखंड या समग्र (यूनिवर्सल) है, उसमें कला या खंड का भाव नहीं, अतएव वह निष्कल है।

जहाँ एक व्यक्ति या केन्द्र की अभिव्यक्ति है, वह खंडात्मक या कलात्मक भाव है। समस्त कलाओं या खंडों की समष्टि अवश्य कहीं होनी चाहिए, वही महत्तत्त्व है। वही विश्व के खंडात्मक भावों का प्रभव-स्थान या योनि है। प्रजापति की शक्ति उस महत् या अखंड भाव को किसी एक केन्द्र में गर्भित करती या सक्रिय बना देती है। वही विश्व का आविर्भाव या विकास है। **'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'** यह वाक्य विश्व के इसी नियम का परिचायक है। व्यक्त विश्व और महत् दोनों का जहाँ पर्यवसान है, उसे भारतीय दर्शन की भाषा में अव्यक्त कहा जाता है। वह निर्विशेष है। मानवीय बुद्धि उसके विषय में कुछ कह नहीं सकती, सोच नहीं सकती।

विज्ञान और दर्शन का सहयोग

इस प्रकार विज्ञान और दर्शन दोनों विश्व की पहेली से निपट रहे हैं। दोनों का बूझना सच्चा है, क्योंकि दोनों के पीछे बुद्धि-परायण सत्य के नियम की साख है। विज्ञान भयावह नहीं, जैसे दर्शन बुद्धि का निष्फल कुतूहल नहीं। मानव अपनी नवोदित शक्ति का उपयोग किस रूप में करता है, यह प्रश्न भिन्न है, यद्यपि नैतिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है। विज्ञान और दर्शन दोनों का ही सदुपयोग मानवीय कल्याण के लिये करना विहित

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है, यही नीतिशास्त्र की मर्यादा है। किन्तु मानव कर्म करने में स्वतंत्र है। जैसे कल्याण के लिये वैसे विनाश के लिये भी मार्ग खुला रखा गया है। वस्तुतः अन्तिम उद्देश्य की दृष्टि से विज्ञान के उपयोग का प्रश्न गौण है, क्योंकि प्रकृति का सच्चा शिशु मानव अन्यथा व्यवहार करे इसकी कल्पना अधिकांश में नहीं करनी चाहिए। जीवन के सब व्यापार विश्व व्यापारों की भाँति छंद और मर्यादा से सीमित हैं। प्राकृतिक रूप में मानव को अपने छंद के अनुसार ही प्रवृत्त होना चाहिए। अन्ततोगत्वा विज्ञान का महान् फल विज्ञान ही है। **"विविधं ज्ञानं विज्ञानम्, एकं ज्ञानं ज्ञानम्"**—एक से बहुत की ओर गति विज्ञान और बहुत की एक की ओर गति ज्ञान है। विज्ञान और ज्ञान की प्रक्रिया का रस विकास और संकोच के उन नियमों का अनुभव कर लेने में ही है, शेष तो सब आनुषंगिक फल है। विज्ञान से उसी अमृत फल की प्राप्ति होती है जिसकी ज्ञान से। केन्द्र से परिधि और परिधि से केन्द्र की ओर की गति के नियम को और आगति को जो जानता है, वही ज्ञान और विज्ञान दोनों को संतुलित रूप से जानता है। जिस प्रकार संकोचन और प्रसारण दोनों एक ही गति-तत्त्व के दो रूप हैं, वैसे ज्ञान और विज्ञान भी एक ही प्रज्ञा के द्विविध व्यापार हैं। जीवन के लिये ये दोनों आवश्यक हैं। दोनों के समन्वय और संतुलन से अमृत तत्त्व की प्राप्ति का मार्ग सिद्ध होता है।

"नम ऋषिभ्यः पूर्वेभ्यः"—इस प्रणामांजलि में ऋषि के लिये जो प्रणाम भाव है, उस का भागधेय विज्ञानान्वेषी मनीषी के लिये भी अक्षुण्ण है, यदि वह शक्ति-तत्त्व-विषयक अपनी अनुसंधान-भावना में सत्य-परायण है॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२. ऋषिर्दर्शनात्

सनत्सुजातीय पर्व में वेद जानने वालों की तीन कोटियां कही हैं—१. वेदवित्, २. वेद्यवेदवित् और ३. वेद्यवित्। जिसे पाणिनि ने श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते कहा है, जिसे पतंजलि ने 'निगदेनैव शव्यते' में केवल कंठ से घोखने वाला कहा है, वही वेदवित् है। वह वेद के बाह्य अक्षर को जानता है, उसे पारायण द्वारा कंठस्थ किए हुए है। ऐसे श्रोत्रिय या पारायणिक विद्वान् का भी बहुत महत्त्व है। उन्होंने वेदों की बहुत सेवा की है। ऋग्वेद के समस्त पाठ या ऋगयन को वर्णशः स्वरशः सुरक्षित रक्खा है। यह तथ्य भी विश्व के साहित्यिक इतिहास में अभूतपूर्व है। किन्तु इस दृष्टिकोण की मर्यादा यहाँ के मनीषी विद्वान् भली भांति जानते थे। यास्क ने भी ऐसे व्यक्ति को जो वेद का अध्ययन समाप्त करके उसका अर्थ न जाने भारवाही कहा है। पतंजलि ने रोचकशैली में कहा है—अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्, जैसे सूखे कंडों का ढेर हो, पर अग्नि की चिनगारी नहीं है तो उसमें ज्वाला और प्रकाश उत्पन्न न होगा, ऐसे ही समस्त ऋचाओं का ऋगयन समुदाय भी मस्तिष्क में हो पर बुद्धि या भीतरी मन की चिनगारी से उसका स्पर्श नहीं हुआ है, तो उस ऋक्समूह में प्रकाश उत्पन्न न होगा। प्राचीन वैदिक शिक्षा संस्था या चरणों की भाषा में वेद के इस ज्ञान को 'अध्ययन' कहते थे। 'छन्दोऽधीते' में पाणिनि ने उसी धातु का प्रयोग किया है। 'अधीयन् पारायणम्' में भी वही है। उद्योगपर्व में भी यही शब्द है—

छन्दो विदस्ते य उतानधीत्य
न वेद्यवेदस्य विदुर्न वेद्यम्॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
कश्चिद्वेदान्वुध्यते वापि राजन् ॥
(उद्योग पर्व ४३।३०—३१)

वेदज्ञों की दूसरी कोटि वेद्यवेदवित् विद्वानों की थी। वेद्यवेद का तात्पर्य वेद के अर्थज्ञान से है। इसे ही चरणों की भाषा में प्रवचन कहते थे। प्रवचन करने वाले विद्वान् शिक्षा संस्थाओं में प्रवक्ता कहलाते थे। यह भी बहुत ऊँचा पद था। यास्क और पतंजलि ने वेद के अर्थ-ज्ञान की बहुत महिमा कही है। सचमुच प्राचीन विद्याभ्यास के क्षेत्र में वेद्यवेद जानने वालों की श्रेष्ठता सर्वमान्य थी। ऐसे विद्वानों के लिये 'वेदिता' शब्द भी था। सुनत्सुजातीय पर्व की यह पंक्ति अब समझी जा सकती है—

न वेद्यवेदस्य विदुर्न वेद्यम्
न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति।

जो वेद्यवेद या वैदिक अर्थ ज्ञान है उसके वेद्य या वेदनीय विषयको कोई-कोई जानता है। लोक में वेदों के अर्थज्ञान का वेदिता कोई-कोई है, अर्थात् उनकी संख्या बहुत कम है। पाणिनि ने ऊपर की दो कोटि के विद्वानों को अध्येतृ-वेदितृ [तदधीते, तद्वेद] कहा है। 'तदधीते' तो 'छन्दोऽधीते' वाले हुए और तद्वेद वेद्यवेद के वेदिता अर्थात् वेदों के अर्थ की ऊहापोह करने वाले विद्वान् हुए। इसी वर्ग में प्राचीन वैयाकरण, नैरुक्त, ऐतिहासिक इन तीन कोटि के विद्वानों का यास्क ने सविशेष उल्लेख किया है। इन्हीं के साथ चौथे याज्ञिक थे। ये ही वेदार्थ के चार मुख्य सम्प्रदाय थे। आजकल के हमारे अधिकांश प्रयत्न इन्हीं चार कोटियों में आते हैं।

वेदार्थ के लिये ये सब प्रयत्न प्रशस्य हैं। इनमें एक-एक विद्या का ज्ञाता वेदिता कहाता है। इतिहास, निरुक्त, व्याकरण, यज्ञ विधि—ये सब वेदार्थ के लिये आंशिक रूप से उपयोगी हैं। इन्हें जो जितना माँजता है

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उसका वेदार्थ भी उतना चमकीला बनता है, उसकी पैठ उतनी गहरी हो जाती है। इनमें भी यास्क का कहना है कि जो चारों दृष्टि-कोणों को जानता है वह भूयोविद्य कहलाता है। वेदिताओं के बीच में जो कई विद्याएँ जानता, जिसका कई दृष्टि कोणों पर एक साथ अधिकार होता, वह "भूयोविद्य" कहा जाता था। यास्क ने लिखा है—

जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति,
वेदितृषु खलु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

इस कथन का अर्थ स्पष्ट समझने की आवश्यकता है क्योंकि इसमें प्राचीन शिक्षा-संस्थाओं के कई पारिभाषिक शब्द आ गए हैं। जानपदी का अर्थ था जनपदों में पेशेवर लोगों की कारीगरी या शिल्पियों की विविध वृत्तियाँ, जिनकी लम्बी-लम्बी सूचियाँ यजुर्वेद और जातकों में मिलती हैं। पाणिनि ने जानपदी को वृत्ति या पेशों के अर्थ में पारिभाषिक शब्द या संज्ञा माना है। इन शिल्पों में जो निपुण होता था उसे पुरुषविशेष माना जाता था, अर्थात् जनपदीय जीवन में ऐसे बहुशिल्पवेत्ता पुरुष की प्रशंसा-प्रतिष्ठा होती थी। ठीक उसी प्रकार जो वेदिताओं के मध्यम में बहुत-सी विद्याओं में कुशल या भूयोविद्य होता उसको सब लोग विशेष प्रशंसनीय मानते थे। ये विद्याएँ कौन-कौन-सी थीं? पाठकों को स्मरण होगा कि छन्दोग्य उपनिषद् के नारद सनत्कुमार संवाद में विद्याओं के नाम आए हैं। यह सूची रोचक है—

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, आथर्वण, इतिहास-पुराण की विद्या जो पंचमवेद नाम से प्रतिष्ठित हो रही थी (जिसमें महाभारत रामायण इन दो विशिष्ट ग्रन्थों का परिगणन था और मूलभूत पुराणसंहिता भी थी; इनमें ऋग्यन अर्थात् 'ऋग्वेद के नाम के ढंग पर रामायण नाम प्रचलित हुआ था), पित्र्य (पितरों से सम्बन्धित विद्या, या पितापितामह से प्राप्त होने वाले उत्तराधिकार, या अंश से सम्बन्धित ज्ञान के नये प्रकरण जो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

धर्म-सूत्रों में अध्ययन के क्षेत्र में आ रहे थे), राशि (वह विद्या जिससे कृषि की आय, राजग्राह्य भाग, उपज आदि का सम्बन्ध था जिसको प्राचीन-काल में राशि कहते थे और आजकल रास कहते हैं, इसी राशि या रास को नापने कूतने वाले द्रोणमापक कहे जाते थे, यह भी वार्ताशास्त्र से सम्बन्धित विद्या थी), निधि (मुद्रा, हिरण्य सुवर्ण से सम्बन्धित विद्या), वाकोवाक्य (तड़ापड़ प्रश्नोत्तर जैसे ब्रह्मोद्य चर्चाओं में होते थे, वाक् = प्रश्न या पूर्वपक्ष, वाक्य = उत्तर या उत्तर पक्ष; ऐसे बहुत से प्रकरण वैदिक साहित्य और महाभारत में सुरक्षित रह गए हैं), एकायन (पंच-रात्र भगवतों का भक्ति प्रधान दृष्टिकोण जिसमें सब देवों का समन्वय करके एक देव की भक्ति या उपासना का उपदेश दिया जाता था), देवविद्या (देवताओं के सम्बन्ध में ऊहापोह), ब्रह्मविद्या (ब्रह्म या यक्षों के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क, अनेक प्रकार की साधना और मान्यता जिसका उल्लेख महाभारत एवं जातकों में आता है), क्षात्रविद्या (जिसे जैनों के सूयगडांग सूत्र में क्षत्रिय विधि भी कहा है, अर्थात् अस्त्र-शस्त्र चलाने की विद्या, ब्रह्मजालसुत्त एवं पाणिनि में भी क्षत्रविद्या का उल्लेख है), नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष् की गणना एवं फलाफल कथन), सर्वदेवजन विद्या (यह राजनीति की विद्या थी जिसमें संघ शासन एवं जन के सम्बन्ध में विचार किया जाता था। अथर्व में पृथक् देवों का और देवजन का उल्लेख है—११।५।२—वहाँ ये दोनों शब्द पारिभाषिक हैं। सर्वदेव जन या देव जन का तात्पर्य समस्त जन या संघ से था, एवं पृथग्देव का तात्पर्य जन की सीमित संख्या से था)। और भी विद्याओं की सूची पाणिनि (उक्थादि गण) में एवं जैन आगामों में (सूयगडांग सूत्र श्रु०२ अ०२) है।

इन अनेक विद्याओं में जो जितना अधिक जानता वह भूयोविद्य कह-लाता था। इनसे भी बढ़कर एक आदर्श ज्ञान के क्षेत्र में ऊपर तैर आया, वह 'सर्वविद्य' विद्वान् का आदर्श था, अर्थात् जिसे सब विद्याओं का ज्ञान हो। उस युग में जितने ज्ञान के नए क्षेत्रों का आभिर्भाव कर लिया गया

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

था उन सब में प्रवीणता या अधिकार रखने वाले विद्वान् को सर्वविद्य कहा गया। यास्क ने इस प्रकार के महाभाग महिमाशाली विद्वान् के लिये एक पारिभाषिक पदवी का उल्लेख किया है—

ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति (निरुक्त)

ऐसे सर्वविद्य विद्वान् को ब्रह्मा कहा जाने लगा। यज्ञ में जो सर्ववेदों के ज्ञाता होते, उन्हें ब्रह्मा कहा जाता था। ऋग्वेद १।१६२।५ में उसे सुविप्र (विप्रों में भी उच्चतर विप्र) कहा गया है। किन्तु इन सर्वविद्य और भूयोविद्य विद्वानों या वेदिताओं की भी मर्यादा थी। वही मर्यादा आज के हमारे समस्त वेदार्थ की है।

वस्तुतः अक्षर गिनने या अक्षर के बाह्य अर्थ की चौकसी करने का नाम वेद नहीं है, पहले भी नहीं था, आज भी वेद की तीसरी कोटि उससे कहीं उच्चतम है। वह तीसरा वेद 'वेद्य' है; उसका जानकार वेद्यवित् कहलाता था। सनत्सुजातीय में स्पष्ट कहा है—

योवेद वेदान्न स वेद वेद्यं
सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम्।

जो वेद को जानता है अर्थात् उसका वेदिता है, अर्थात् उसके अर्थ का प्रवचन करता है, प्रवक्ता आचार्य है, वह वेद के उस रहस्य को नहीं जानता जो वस्तुतः वेद्य या वेदनीय है। वह रहस्य तो सत्य है। सत्य अध्यात्म ज्ञान है, वह रहस्य दृष्टि है। उसी का नाम तप है। वेद के छन्दोज्ञान एवं अर्थ-ज्ञान को महाभारत ने प्रत्यक्ष विद्या कहा है। इन दोनों से ऊपर जो वेद का रहस्य है वह परोक्ष ज्ञान है जो कि एक मात्र तप से प्राप्त होता है—

ज्ञानं वै नाम प्रत्यक्षं परोक्षं जायते तपः।
(सनत्सुजात पर्व उद्योग ४३।२८)

जिसे वेदमन्त्रों के अनेक प्रकार के पाठों की कला ज्ञात है वह बहुपाठी ब्राह्मण या श्रोत्रिय है (उद्योग ४३।२६)। जो अनेक प्रकार के अर्थों का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रवचन या जल्पन करने वाला है वह भी वेद की दृष्टि से अवर कोटि में है—

विद्याद् बहु पठन्तं तु बहुपाठीति ब्राह्मणम् ।
तस्मात्क्षत्रिय मा मंस्था जल्पितेनैव ब्राह्मणम् ॥
उद्योग० ४३।२६

ये दोनों उच्च ब्रह्मत्व या ब्राह्मणत्व के आदर्श की पूर्ति नहीं करते। यहाँ ब्राह्मणत्व या ब्राह्मण पद का सीधा लक्ष्य ब्रह्म या वेद पर है, अर्थात् ब्रह्म या वेद के रहस्य को न जानने वाले ऐसे व्यक्ति को ब्राह्मण कैसे कहें, भले ही जाति के आधार पर ब्रह्मबन्धु उसे मान लें। अतएव वेद की दृष्टि से ब्राह्मण वह है जो सत्य को जीवन में धारण करता है, जो सत्य के व्रत से कभी रहित नहीं होता—

य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ।
(उद्योग ४३।२६)

सत्य ही वेद का रहस्य है। सत्य ही वेद का सार है—

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥
(शान्ति० २६६।१३)

सत्य ही तप है। इस प्रकार वेद्यवित् की जो तीसरी कोटि थी वह सर्वतोऽधिक महीयसी मानी जाती थी। ऐसा व्यक्ति भूयोविद्य या सर्वविद्य से भी श्रेष्ठ था। उसे महाब्रह्मा कहते थे। ब्रह्मा से भी ऊँचा पद उसे प्राप्त था। ये प्राचीन ज्ञान के क्षेत्र में औत्तराधर्य सूचित करने वाले आदर्श थे। महानारदकस्सप जातक के अनुसार नारद अपने युग के महा-ब्रह्मा थे। महाब्रह्मा वही माना जाता था जिसने अपने आप को जान लिया हो, (जातक ६।२४२)।

मातंग जातक में महाब्रह्मा को सर्वोपरि माना है (जातक ४।३७७)।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आत्मज्ञान होना यही महाब्रह्म का लक्षण था। उपनिषदों में विद्या का जो परमोच्च विंदु प्राप्त हो गया था उसी के लिये महाब्रह्म पदवी थी। आत्मज्ञान ही सबसे ऊँची अध्यात्म विद्या है। यही परम तप है। आत्मज्ञान ही वेद का सार है। यही उपनिषद् या रहस्य ज्ञान है। इसी रहस्य का उपदेश करना वेद का सच्चा प्रशिक्षण था।

इस सरहस्य वेद का ज्ञान कराने वाले सबसे ऊँचे शिक्षक आचार्य कहलाते थे। श्रोत्रिय—प्रवक्ता—आचार्य, ये चरणों में शिक्षकों की तीन कोटियाँ थीं जिनका पाणिनि ने उल्लेख किया है। इनमें जो प्रवक्ता या वेद का प्रवचनकर्ता था उसे ही आख्याता भी कहा जाता था। पाणिनि के अनुसार नियमपूर्वक अध्यापन करने वाला आख्याता कहलाता था (आख्यातोपयोगे १।४।२६)। सनत्सुजातीय पर्व में कहा है—

अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणम्।
यश्छिन्नविचिकित्सः स्यान्नाचष्टे सर्वसंशयम्॥
(उद्योग ४३।३२)

मैं उसी ब्राह्मण को विचक्षण आख्याता (वेदार्थ का कुशल प्रवचन-कर्ता) मानता हूँ जो स्वयं छिन्नसंशय हो गया हो, अर्थात् अन्य लोगों के मन को जो संशय ग्रसे रहते हैं वे जिसमें नहीं हैं। इसे ही उपनिषदों में कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यही वेदों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण इस देश में सदा से मान्य रहा है। किन्तु अर्वाचीन मानव के लिये इस दृष्टिकोण की बुद्धिगम्य व्याख्या होनी चाहिए। अध्यात्म दृष्टिकोण कोई अनबूझ पहेली नहीं है। उसके पीछे भी अर्थों की दृढ़ प्रतिष्ठा है। एक सुनिश्चित परम्परा है, जिसका अनुसंधान किया जा सकता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यास्क ने जब यह लिखा कि पूर्व ऋषियों को धर्म का साक्षात्कार हुआ था तब उनका क्या तात्पर्य था ? क्या जो उस समय हुआ वह फिर घटित नहीं हो सकता ? क्या ऋषि ज्ञान की सारी पूँजी अपने साथ ही लिए चले गए, अथवा अब भी मानव को वेद के रहस्य का परिचय प्राप्त हो सकता है ? ये सङ्गत प्रश्न हैं। वस्तुतः यास्क एक प्रणाली की ओर संकेत करते हैं। वेदार्थ तक पहुँचने के लिए जो ध्यान की विधि है उसी से उनका तात्पर्य है। अक्षर का अर्थ जान लेना तो वेद का प्रवचन मात्र है। वेद्य या सत्य का ज्ञान होना ही साक्षात्कार है। वही जब होता है तो व्यक्ति साक्षात्कृतधर्मा बन जाता है। जो अखंड चिदात्मा, चैतन्यमूर्ति, परात्पर तत्त्व सृष्टि का अनादि अनन्त कारण है उसी का ध्यान में अपने अन्तः-करण में प्रत्यक्ष ज्ञान यही वेदार्थ को जानने की कुंजी और उसका फल है। यास्क ने ठीक ही लिखा—**तपस्यमानान् स्वयंभूर्ब्रह्माभ्यानर्षत्**; जब ऋषियों ने तप किया तो उनके अन्तःकरण में स्वयम्भू वेद ने उन्हें साक्षात् दर्शन दिया। स्वयम्भू ब्रह्म कहें या स्वयम्भू वेद कहें अध्यात्म दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। जो ब्रह्म है वही उसका ज्ञान है। उसके ज्ञानमय तप की संज्ञा वेद है। प्रत्येक व्यक्ति भी और क्या कर सकता है, सिवाय इसके कि उस ज्ञानमय तप का स्वयं अभ्यास करे, अपने ही चैतन्य केन्द्र में उसे ढूँढे, उसका अपनी प्रज्ञा में अनुभव करे, सान्निध्य प्राप्त करे और उस अनन्त आनन्द के स्रोत से अपने को संयुक्त कर दे ? कितना प्रकाश वहाँ है, कितना आनन्द है, कितनी व्यवस्था है—इसका जब तक स्वयं दर्शन न हो तब तक ज्ञान कहने सुनने की बात रहती है, वह प्रवचन मात्र रहता है, वेद्य नहीं बनता। सत्य वही है जो स्वयं अपने अनुभव में आता है। ध्यान की एकाग्रता यही ज्ञानमय तप है। शरीर तप से सहस्रगुना अधिक प्रभावशाली ज्ञानमय तप है। जिस समय विज्ञान में वह तत्त्व स्फुरित होता है, प्रत्येक के भीतर बैठा हुआ प्रज्ञान रूपी इन्द्र या प्रज्ञा बल उस सत्य को पकड़ लेता है तो हम वैसे ही हो जाते हैं। जान लेना वैसा हो जाना

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। इसी से प्राचीन परिभाषा बनी—य एवं वेद स एवं भवति, जो उसे इस प्रकार जानता है वह वैसा ही बन जाता है। भाव और क्रिया (Being-Becoming) दोनों में फिर अन्तर नहीं रहता। ज्ञान का यह उपाय सदा सब देश में सब के लिये उन्मुक्त है, किन्तु उस उपाय की सत्यात्मकता में किसी के लिये कोई विशेषाधिकार नहीं है, परिवर्तन नहीं है, उसे संक्षिप्त करने का भी उपाय नहीं है। वह स्वयं ऋजुमार्ग है और सबके लिये सरल है। इसका कारण यह है कि सृष्टि का सत्य एक और अखण्ड है। उसी को तो हम जान सकते हैं। उस सत्य को ही सनत्सुजातीय पर्व में 'वेद्य' जानने योग्य तत्त्व कहा गया है। वही वेदों का पर्यवसान या सार है। उसी पद की व्याख्या सब वेदों द्वारा की जाती है। सब तपों का लक्ष्य वही है। अतएव जिस वस्तु का साक्षात्कार हमारा ध्येय है वह जब इस प्रकार देश और काल में, भूत भविष्य वर्तमान में सदा सुलभ है, तो वेद के ज्ञान का अतिशय महत्त्व हो जाता है। इसी दृष्टि से वेदों को अनन्त कहा जाता है—

अनन्ता वै वेदाः।

सृष्टि के इस रहस्य को क्या कभी कोई कृत्स्न रूप में जान पाया है? अर्वाचीन विज्ञान भी उसी रहस्य से सिर धुन रहा है। पर क्या एक परमाणु का भी कृत्स्न रहस्य हमें प्राप्त हो सका है? मनीषी मैटरलिंक ने सत्य कहा है—"मैं अपने बैरी के लिए भी यह न चाहूँगा कि वह ऐसे विश्व में रहने के लिए बाध्य हो जिसके एक परमाणु का भी पूरा रहस्य जान लिया गया हो, क्योंकि फिर यहाँ वैचित्र्य ही क्या रह जायगा!" बात ऐसी ही है। नासदीय सूक्त के ऋषि ने भी ज्ञान क्षेत्र के इसी सत्य की ओर संकेत किया था—

यह सृष्टि कहाँ से कैसे उत्पन्न हुई कौन जानता है? कौन कह सकता है? इसका जो नियन्ता है वह भी इस तथ्य को जानता है या नहीं हम

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नहीं जानते। कैसे प्रभविष्णु ये वाक्य हैं? इनसे अधिक साहस की शब्दावली और कहाँ प्राप्त हो सकती है? प्रत्येक परमाणु का जीवन रहस्यमय है? एक-एक जीवन-कोश में जीवन का स्रोत नितान्त रहस्यमय है। जड़ और चेतन की सन्धि भी रहस्य है। शक्ति और द्रव्य का अन्तिम स्वरूप भी अज्ञात रहस्य है। किन्तु इस विश्व की रचना का ही विधान ऐसा है। मानवी बुद्धि के लिए यह निर्वेद का स्थान नहीं है। एक ओर तत्त्व ऐसा अज्ञेय है, दूसरी ओर उसका रूप कितना सुलभ, कितना व्यापक और कितना प्रिय है? इसीका नाम जीवन है।

वह जीवन परोक्ष भी है, प्रत्यक्ष भी है। परोक्ष और प्रत्यक्ष का अद्भुत समन्वय जैसे सृष्टि के अन्य तत्त्वों में है वैसे ही जीवन में भी है। केवल प्रत्यक्ष अधूरा है, उससे अर्थ का एक अंश ही जाना जा सकता है, जो उसके विश्वात्मक स्वरूप का परिचय नहीं देता। अग्नि प्रत्यक्ष रूप में दहकता हुआ स्फुलिंग या अंगारा या विद्युत्कण है। वह भी ठीक है। किन्तु उसका अन्त वहीं नहीं है। इसलिये अग्नि एक प्रतीक मात्र है। प्रत्यक्ष प्रतीक से ही परोक्ष अर्थ गृहीत किया जाता है। यहीं वेदार्थ का विस्तृत रहस्यक्षेत्र उद्घाटित हो जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक परिभाषा बार बार आती है—

परोक्षप्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः।

इसका क्या अर्थ है? जीवन में, जड़ जगत् में भी जो जैसा प्रत्यक्ष इन्द्रियों से गृहीत हो रहा है वह वैसा नहीं है। क्या यह कथन ठीक है? विज्ञान कहता है कि सब स्थूल भूत, पिंड या पदार्थ अन्ततो गत्वा परमाणुमय हैं। परमाणु भी केवल ऋण और धन विद्युत्कणों के संगठन या संस्थान मात्र हैं। ये विद्युत्कण विद्युत् की तरंगों पर निर्भर हैं। इन तरङ्गों का आयाम या लम्बाई ही इनमें भेद उत्पन्न करती हैं। सूर्य की सप्त रश्मियों का जो चमत्कारी वर्णजाल है उसके मूल में भी सूर्यरश्मियों

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

की आयामकृत भिन्नता ही सब कुछ है। सूर्य से ही पिण्डों का विकास हुआ है (नूनं जनाः सूर्येण संप्रसूताः)। सौर मण्डल का कोई द्रव्य ऐसा नहीं जो सूर्य की प्रक्रिया से बहिर्भूत हो। अतएव यही अन्तिम सत्य है कि परोक्ष अर्थों से ही हम प्रत्यक्ष को समझ सकते हैं। सृष्टि की व्याख्या के लिये प्रत्यक्ष अर्थों का आग्रह लेकर कुछ दूर भी नहीं चला जा सकता। विज्ञान की भाषा पारमार्थिक बन रही है। परमार्थ और व्यवहार का भेद स्वीकार करना पड़ता है। यही वेदार्थ के विषय में भी है। स्थूल शब्दार्थ के मूल में सृष्टि का जो ऋत संज्ञक अखण्ड नियम है उसे ही परिज्ञात करना है। उस नियम का जो नियन्ता है उसे ही विज्ञात करना है। इस ऋत का परिज्ञान वैदिक ऋषियों को ध्यान में हुआ। इसका अतिनिश्चित स्पष्ट और सरल प्रकथन मंत्रों में है—

ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य।
तदभवत् तदपश्यत् तदासीत्॥

ऋत का ही यह तन्तु सर्वत्र फैला हुआ है। पृथिवी और द्युलोक के गंभीर अन्तराल में यही ऋत तत्त्व भरा हुआ है—

ऋताय पृथिवी बहुले गभीरे।

जो उस ऋत का दर्शन करता है वही बन जाता है। यही जीवन का सत्य है। ऋषियों का देखना यही होता है। साक्षात्कार इसे ही कहते हैं। जिस दर्शन से हम वैसे ही न बन जाएँ वह दर्शन या साक्षात्कार नहीं है। वह तो बुद्धि का कुतूहल या कण्डूशान्ति है। श्रौतसूत्रों में कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऋतपेय नामक एकाह यज्ञ करना चाहिए। उसका फल यह होता है कि मनुष्य पाप की ओर से निरपेक्ष बन जाता है। पाप में उसके लिये कोई रस या आकर्षण नहीं रह जाता। इस मानस-स्थिति को नैष्णिह्य स्थिति कहा है अर्थात् मन पाप की ओर से

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

निःस्नेह बन जाता है। उस ऋतपेय का फल है सत्य की जीवन में उपलब्धि, साक्षात्कार—

सत्यमयमग्निः। सत्यमयं वायुः। सत्यमसावादित्यः।
ऋतसत्यशीलः सोमसुत् सदा जुहुयात्।

अग्नि-वायु-आदित्य द्वारा इस लोकत्रयी सृष्टि के व्यापक ऋत की कई स्तरों में व्याप्त एवं परस्पर ओत-प्रोत प्रक्रिया की व्याख्या की जाती है। इसे ही मन प्राण-वाक् कहते हैं। यही अ-उ-म् के सूत्र द्वारा जानने योग्य अक्षर विद्या है। इसी में अमात्र चतुर्थ मात्रा मिला देने से अक्षर का चतुष्पदीय रूप बनता है जो प्रतीक रूप से जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति तुरीय संज्ञक चैतन्य की अवस्थाओं की व्याख्या करता है। ऋग्वेद में कहा है—

अक्षरेण प्रतिमिम एताम् (१०।१३।३)।

अक्षर से ही इसको नापना है, उसके प्रतीक से विश्व को समझना है। अक्षर प्रतिमान या माप का गज है। जो अक्षर में है वही ब्रह्माण्ड में है। ऐसे ही '**इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्याः**' यह परिभाषा है। **द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी**—अर्थात् द्युलोक और पृथिवी के अन्तराल का केन्द्र सूर्य है, वही इन्द्र है। वह इस विश्व का प्रतिमान है। यहाँ यत्किंचित् जो है उसकी प्रक्रिया संवत्सर की प्रक्रिया से समझी जा सकती है। संवत्सर रूप प्रजापति की व्याख्या से मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति सबके जीवन की व्याख्या मिल जाती है। सबमें वही वसन्त-ग्रीष्म-शरद् का त्रिक या परिवर्तनशील चक्र घूम रहा है।

सत्य तो यह है कि जो हृदय से इस बात का अभिलाषी हो कि वेद का रहस्य ज्ञान समझे उसे परिभाषाओं के अनन्त वाङ्मय को आत्मसात् करने के लिए उद्यत हो जाना चाहिए। पूर्व हो या पश्चिम, वेदार्थ की समस्या देशकृत या कालकृत नहीं है। वह तो अध्यात्म दृष्टिकोण पर निर्भर है। उसके लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की ओर स्वयं वेद की परिभाषात्मक शब्दावली को स्पष्ट समझना आवश्यक है। ऋषियों ने तीक्ष्ण अभ्रि या

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कुदाली से खोद-खोद कर ये तत्त्व निकाले थे [तीक्ष्णाभिरभ्रिभिर्यत्र निर्वपणं दधुः]। वेद के अर्थों की जो धरोहर, जो निधान कहीं गुहा-निहित है उसे बुद्धि की अभ्रि से प्राप्त करना है। तीक्ष्ण अभ्रि या कुदाली चाहिए। यत्न से खोदने वाला चाहिए। खोदने के लिए धृति चाहिए। खोदने वाला धीर होना चाहिए। जिसमें धी नहीं है वह वेदार्थ की समस्या के निकट ऐसे ही जाता है जैसे ऊसर खेत के पास निर्बुद्धि किसान। जो उच्च धी है वही अभ्रि है। साधारण बुद्धि तो सबके पास होती है। किन्तु तीक्ष्ण कुदाली रूपी धी के बिना वेदार्थ का गम्भीर स्तर उद्घाटित नहीं होता। उक्थ और अर्क का जोड़ा है। उक्थबुद्धि है, धी अर्क है। अमृता बुद्धि का नाम धी है। धियो यो नः प्रचोदयात् इस गायत्री की भावना में सविता से धी प्राप्त करने की प्रार्थना है। **अमृत** जो विज्ञानतत्त्व है उसकी प्रदीप्त सदा जागरूक बुद्धि, धी है। वह विषयों में बार-बार डूबती या कुंठित नहीं होती। जब ऐसी निश्चल बुद्धि प्राप्त होती है, जब मन की विषयवती रश्मियों का जाल बुद्धि में केन्द्रस्थ हो जाता है, तब वह तीक्ष्ण अभ्रि रूपी धी प्राप्त होती है, जिससे ये विषय आलोकित हो जाते हैं। जब बुद्धि मन को अपने गर्भ में ले लेती है तब वह उस स्थान तक पहुँचती है जहाँ वेदार्थ की धरोहर सुरक्षित है।

वेदों की कितनी ही विद्याएँ थीं—उद्गीथ विद्या, मधुविद्या, सुपर्णविद्या, अक्षरविद्या, प्रवर्ग्यविद्या, अव्ययविद्या, अम्भोविद्या, आदि आदि, उन सब का रहस्य क्या है? यह महान् प्रश्न है जिसका समाधान चाहिए। पूर्व या पश्चिम, दोनों के लिये यह चुनौती है। इसके बिना सचाई से यह मानना पड़ेगा कि वेद का अर्थ नहीं लगता। ग्राम्यपशु और आरण्य पशु जैसे सीधे शब्द भी प्रतीकात्मक हैं। समूह बना कर चलने वाले प्रवृत्तिपरक जीव ग्राम्यपशु हैं। एकाकी विचरण करने वाले निवृत्तिपरक प्राणी अरण्य पशु है। मानव में दोनों प्रकार हैं। जब तक वह प्रकृति के पाश में बद्ध है तब तक ग्राम्यपशु की भाँति परवश है। जब प्रकृति के पाश से

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

बाहर हो जाता है, तब वह आरण्य पशु हो जाता है। आरण्य पशु पाश-बद्ध नहीं होता। और उपबृंहण करें तो मानव का शरीर और मन ग्राम्य पशु हैं, आत्मा और बुद्धि आरण्य पशु हैं। शरीर और मन की प्रवृत्तियाँ समूह या ग्राम साधन के बिना संभव नहीं। गृहस्थाश्रम में शरीर और मन की प्रवृत्तियाँ प्रधान रहती हैं। उसके लिये समाज का सम्बन्ध आवश्यक है। वानप्रस्थाश्रम में मानव मन के क्षेत्र से ऊपर उठता है और मुख्यतः आत्मा एवं बुद्धि के क्षेत्र में चला जाता है। इसीलिये उसे वानप्रस्थ कहते ही हैं। वह आरण्यक मुनि होता है। घर में रहते हुए भी जो जन-संसद् से या ग्रामात्मक समूह से विरत हो जाता है वही आरण्यक बन जाता है। अरतिर्जनसंसदि, यही उसके आरण्यक मन का लक्षण है। प्रकृति का नाम ही पशु है। प्रकृति के बिना मानव पशु नहीं बन सकता। प्रकृति के अभाव में मानव पुरुष रूप होता है जिसे आत्म-बुद्धि प्रकाश कहा गया है। 'अवध्नन् पुरुषं पशुं' का यही तात्पर्य है। देवों ने मन और शरीर भाग को यज्ञीय यूप से बाँधा। यज्ञ का यही उद्देश्य है कि मन और शरीर को दैवी सौर प्राण से संयुक्त कर दिया जाय। शरीर तो सदा शरीर या पशु रूप में रहता ही है। यज्ञ द्वारा मन और प्राण को दैवी सौर तत्त्व से संयुक्त कर दिया जाता है। प्राचीन परिभाषा में मानव उभयतोदत पशु है। ऊपर से आत्मा-बुद्धि और नीचे से प्राण-भूत का पोषण लेता है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति अग्नीषोमीय पशु कहा जाता है। ये परिभाषाएँ या तो कुछ बुद्धिगम्य अर्थ रखती हैं, या कोरी बहक हैं। अग्नि-सोम, योषा-वृषा, ऋत-सत्य, भृगु-अंगिरा, क्षर-अक्षर ये वैदिक तत्त्व ज्ञान या विज्ञान की मूल्यवान् परिभाषाएँ हैं जिनके द्वारा जीवन और शक्ति की प्रक्रिया की व्याख्या की जाती है। जितने पिंड हैं वे अग्नि सोम से बनते हैं, अर्थात् ऋण और धन, गति और आगति, आर्द्र और शुष्क के द्वन्द्वात्मक नियम से अस्तित्व में आते हैं। एक पिंड भाग है, दूसरा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पिण्ड के भीतर व्याप्त आत्म भाग है। पिण्ड को सूत्रात्मा और आत्म-भाग को अन्तर्यामी कहा जाता है। सूत्रात्मा और अन्तर्यामी ये ही दो डोरे हैं जिनके द्वारा जड़ और चेतन तत्त्व प्रत्येक पिण्ड में अवतरित हो रहा है। सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक इन्हीं दो सूत्रों में समस्त सत् और चित् तत्त्व ओत-प्रोत हैं। वैदिक परिभाषाओं का क्षेत्र उपनिषद्, ब्राह्मण संहिता सर्वत्र विस्तृत है। उपनिषदों में सूत्रात्मा और अन्तर्यामी ये दोनों प्रतीक यदि स्पष्ट नहीं हैं तो संहिता में भी वे अस्पष्ट ही रहते हैं। **'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्'** सदृश परिभाषाओं का स्पष्टीकरण सबके लिये चुनौती है। वायु को सूत्रात्मा कहने का क्या तात्पर्य है ? प्राण विद्या से उसका क्या सम्बन्ध है ? वैदिक प्राण विद्या और विश्व की मूलभूत जीवनी शक्ति, नाम दो भले ही हों तत्त्व एक ही है। वेद के दो दृष्टिकोण हो जाते हैं। कुछ लोगों के लिए वे परिभाषाएँ अतीत इतिहास की वस्तु हैं। कुछ उन्हें नित्य विज्ञान के नियम मानते हैं। जिसे हम पश्चिमी दृष्टिकोण कहते हैं उनकी धारणा वैदिक विज्ञान के विषय में बड़ी कुंठित है। अतएव किसी भी वैदिक विज्ञान तत्त्व का युक्तियुक्त व्याख्यान वहाँ प्रायः उपलब्ध नहीं होता; सब कुछ अनबूझ पहेली-सी जान पड़ती है। इस तथ्य को सचाई से मानना उचित है। एक-एक शब्द का विशिष्ट अर्थ और संकेत है। वैदिक तत्वज्ञान एक सूत्र नहीं, पट है। कहीं से उसे छेड़ें सारा पट आकर सामने ढेर हो जाता है।

विश्व अश्वत्थ है। अश्ववत् तिष्ठति इति अश्वत्थः, जो अश्व की तरह तीन पैरों पर खड़ा रहता है, एक पैर विचाली रहता है वही अश्वत्थ है। यह विश्व भी प्रजापति का एक पाद है—**त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः**। तीन पैर जो ऊर्ध्व के साथ सम्बन्धित हैं वे स्थिर हैं, एक पैर जो विश्व है वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। न श्वः इति अश्वः। जो आज है वह कल नहीं है, प्रतिक्षण विचाली और परिवर्तनशील है। यही विश्व है। इसके प्रतिकूल आत्मा जो अद्य है वही

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

श्वः है। विश्वरूपी अश्वत्थ जैसा आज है वह कल नहीं है—**न नूनमद्य नो श्वः**। 'अश्वः' अर्थात् 'कल नहीं' की तरह जो है वही अश्वत्थ है (अश्व इव तिष्ठति)। यह विश्व अलात चक्र है, घूमेगा ही, ठहर नहीं सकता। इसका जो बिन्दु इस समय सामने है वह प्रतिक्षण हट रहा है, दूसरा आ रहा है, बिन्दु-बिन्दु परिवर्तनशील है। ऐसा यह विश्व अश्वत्थ है। यह वृक्ष महीयान् है, इसमें सहस्र वल्शा या टहनियाँ हैं। इसे ऊर्ध्व-मूलमधः शाखं कहा गया है। इस अश्वत्थ की जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे हैं। ऊर्ध्व और अधः भी पारिभाषिक शब्द हैं। जो केन्द्र, हृदय या अमृत नित्य तत्त्व है उसकी संज्ञा ऊर्ध्व है। जो परिधि, परिवर्तन शील अनित्य तत्त्व है वह अधः है। ऊर्ध्व केन्द्र से ही वृत्त का विकास होता है। अणोरणीयान् केन्द्र में ही वृत्त का संस्थान है। ऐसे ही इस संसार महीरुह का बीज सूक्ष्म से सूक्ष्म है। वह प्रजापति का गर्भ है। वही हिरण्यगर्भ अवस्था कहलाती है। **'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते'** उसी ऊर्ध्व अवस्था या 'अग्र' दशा के लिए कहा जाता है। विकास के पूर्व की वह अवस्था है। प्राण तत्त्व से पूर्व की वह दशा होती है। जहाँ प्राण का संस्पर्श होता है वहीं से विकास आरम्भ होता है। और भी कहा जाता है कि अश्वत्थ सौम्य वृक्ष है, वट आग्नेय है। अश्वत्थ को लेकर इस प्रकार प्रतीकों का ताना बाना पूरा गया। यदि हम इन प्रतीकों में आस्थावान् नहीं हैं तो अर्थ की व्यंजना हमसे बची रह जाती है।

वैदिक उपाख्यान हमारे लिए शीर्ष प्रहेलिका हैं। किसी उपाख्यान का भी तो बुद्धिगम्य अर्थ नहीं जान पाते। वैज्ञानिक तत्त्वों के उपबृंहण के के लिये ही आख्यानों की कल्पना की गई थी। गायत्री का सोमाहरण अतिप्राचीन रोचनात्मक एवं साभिप्राय आख्यान था। कौन गायत्री है, कहाँ सोम है, कैसे गायत्री उसे लाती है, इस तथ्य को आधिभौतिक और आध्यात्मिक पक्षों में ग्रहण करना होगा। सूर्य से पृथिवी की ओर आने वाली सौर शक्ति सावित्री है। पृथिवी से सूर्य की ओर लौट कर जानेवाली

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शक्ति गायत्री है। वह गायत्री सूर्य से सोम या शीत-आर्द्र तत्त्व प्राप्त करती है तभी पृथिवी भस्म होने से बची रहती है, अन्यथा सूर्य की प्रचंड दाहकता पृथिवी को अंगिरा या अंगारा बनाकर छोड़ दे। इन्हीं दो को भार्गवी धारा और आंगिरसी धारा कहते हैं। सूर्य से भार्गवी धारा और पृथिवी से आंगिरसी धारा निकल कर एक दूसरे की ओर प्रवाहित हैं।

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामंगिरसो यजुः (ययुः) ॥

अर्थात् इधर से अंगिरा जाते रहते हैं, उधर से आदित्य आते रहते हैं। इन्हीं का नाम अंगिरसामयन और आदित्यानामयन है (अयन = आना-जाना)। पृथिवी का अंगिरा प्राण ऊपर की ओर सूर्य तक पहुँचते-पहुँचते आदित्य बन जाता है। आदित्य प्राण पृथिवी तक आते-आते अंगिरा बन जाता है। इन्हीं दोनों अयनों के मिलने से गवामयन बनते हैं। गवामयन का वैदिक या वैज्ञानिक तात्पर्य, चाहे वह आख्यान में हो चाहे यज्ञीय कर्मकाण्ड में, स्पष्ट समझना होगा।

सूर्य में सोम आहुत हो रहा है। समस्त ब्रह्मण्ड से सूर्य को सोम की आहुति मिल रही है। इसी सोम का कुछ अंश पृथिवी को वापिस मिलना चाहिए, अन्यथा प्रचण्ड ज्वालाएँ पृथिवी को भस्म कर डालेंगी। प्रलय में कभी ऐसा ही होगा। देवता गायत्री की शरण लेते हैं। वह पार्थिव प्राण गायत्री रूप में सूर्य की ओर जाता है। वहाँ तक जाते-जाते वह आदित्य-प्राण बन जाता है और उसी रूप में लौटता है। इस प्रकार गायत्री-सावित्री का यह चक्र नित्यप्रति प्रवृत्त है। पार्थिव प्राण आदित्य बन जाता है, इसका तात्पर्य यह है कि वह सूर्य के पारमेष्ठ्य सोम का अधिकारी बन जाता है। उस सोम को लेकर वह आदित्य रूप में पृथिवी की ओर आता है। आदित्य का पृथिवी की ओर आने वाला जो रूप है वही सावित्राग्नि है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

किन्तु पृथिवी तक आते-आते वह पुनः गायत्री या पार्थिव प्राण में परिणत हो जाता है। तत्त्व यह कि भूपिण्ड की जो अग्नि है वह स्वावस्था में परिणत हो जाती है, वह सावित्राग्नि को अपने लिये उपयोगी बनाकर अपने रंग में रंग लेता है। तभी सूर्य जीवन का पोषण करता है। सूर्य से मिलने वाली सावित्राग्नि को पार्थिव अग्नि अन्तर्याम सम्बन्ध से अपना बना लेती है। जब तक सौर अग्नि पार्थिव न बने वह एक तृण का भी पोषण नहीं कर सकती, उसे अपनी उष्णता से जला तो सकती है।

गायत्री विद्या प्राण विद्या है। छान्दोग्य उपनिषद् में गायत्री विद्या का व्याख्यान हुआ है। भूत को प्राणमय बनाना ही गायत्री विद्या है। भूत द्वारा प्राण को अन्तर्याम सम्बन्ध से आत्मसात् करना यही गायत्री उपासना है। गायत्री के तीन निर्वचन हैं—**१. यद्गायत तद्गायत्री, २. गायन्तं त्रायत इति गायत्री, ३. गच्छतीति गायत्री।** अपनी अपनी दृष्टि से तीनों ठीक हैं। प्राण और भूत का संघर्ष यही यहाँ प्रतिपल हो रहा है। यही शक्ति और जड़ तत्त्व का संघर्ष है। यही दैवी प्राण और आसुरी प्राणों का संघर्ष है। प्राण को छन्द कहते हैं। गायत्री छन्द से उक्त प्राण तत्त्व को हम अपने भूतों के लिये प्राप्त करते हैं। प्राण तो सर्वत्र व्याप्त है। उसे इस पार्थिव शरीर में अन्तर्याम बना सकें यही जीवन है। यही गायत्री का गायन्तं त्रायते स्वरूप है। पार्थिव प्राण का सौर प्राण से नित्य मिलन और पारमेष्ठ्य सोम्य तत्त्व के साथ पुनः पृथिवी की ओर आगमन यही गच्छतीति गायत्री है। प्रजापति ने गायत्री छन्द पर पृथिवी समाप्त की। पृथिवी ही गायत्री है, यही प्रजापति की दृष्टि यद्गायत तद्गायत्री का रूप है। सौर प्राण तक सृष्टिक्रम का पर्यवसान नहीं होता। गायत्री पर सृष्टि समाप्त हुई, भूपिंड बन गया, सब कुछ बन गया। सूर्य में पशु वनस्पति की सृष्टि नहीं है उसके लिये पार्थिव शान्त प्राण या अग्नि की आवश्यकता है। इसीलिए कहा जाता है कि सोमतत्त्व या जल से पृथिवी बनी। जल में वारुण प्राण है। उसी वारुण प्राण से यह पृथिवी बनी।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उसे देव प्राण या सौर प्राण अपने प्रभाव में लेता है। स्थूल भूत वारुण या मूर्च्छित प्राण है। उसमें देव प्राण का प्रवेश होना चाहिए। पृथिवी के गायत्र प्राण में देव प्राण या सावित्री का प्रवेश हो रहा है। यह भूपिण्ड देव और आसुर प्राणों के, ज्योति और अन्धकार के, अदिति और दिति के बीच में है। जहाँ तक यह सूर्य से आकृष्ट और प्रभावित है इसमें जीवन या दैवी प्राण का विस्तार होता है। यदि सौर मण्डल से पृथिवी का सम्बन्ध छूट जाय तो पृथिवी का गोला मूर्छित भूत रूप में जीवन से विरहित बन जाय। जहाँ तक सूर्य ने इसे आकृष्ट कर रक्खा है वहीं तक संवत्सर का या प्रजापति का मण्डल है जो इन्द्र का राज्य है। इन्द्र असुरों का प्रतिपक्षी है। वह सदा विजय शील है। इन्द्र के अस्तित्व मात्र से आसुरी प्राणों का तिरोभाव हो जाता है। हमारे सौर मण्डल का अधिष्ठाता प्राण इन्द्र ही है। इन्द्र रूप मध्य प्राण से ही यह शरीर प्राणवन्त है। इन्द्र ही यहाँ शक्ति का समिन्धन कर रहा है। जब तक इन्द्र की सत्ता है तभी तक जीवन है। प्रज्ञान या चैतन्य इन्द्र का लक्षण है। जहाँ इन्द्र है वहीं चैतन्य है। इसीलिए वेदमंत्रों में इन्द्र की इतनी महिमा है। हमारे सौर मण्डल के लिये इन्द्र ही सर्वोपरि है इन्द्र और वृत्र का संघर्ष दैवी प्राण और आसुरी प्राणों का संघर्ष है। वह प्राण और भूत का संघर्ष है। अग्नि की सहायता से ही भूत प्राण में परिवर्तित होते हैं, स्थूल हवि की प्राणरूप में परिणति होती है। स्थूल अन्न शरीराग्नि से ही प्राणरूप में परिवर्तित होता है और तब ऐन्द्र प्राण से मिलता है। अग्नि को देवों ने दूत बनाया है—**अग्नि दूतं वृणीमहे गृणानो हव्यदातये**। हव्य देने के लिये अग्नि ही दूत हो सकता है। वही देवों तक हवि पहुँचाता है। पृथिवी के जितने तत्त्व सूर्य या इन्द्र की ओर जाते रहते हैं सभी हवि हैं।

वेदार्थ की समस्या परिभाषाओं का स्पष्टीकरण है। सहस्रों शब्द हैं जिनके द्वारा सृष्टि विज्ञान का ही निरूपण किया गया है। उनकी व्याख्या

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अति क्लिष्ट कार्य है क्योंकि परिभाषाओं की कुंजी पूर्व और पश्चिम में कहीं भी परम्परा से उपलब्ध नहीं रही। ब्राह्मण ग्रन्थों में वे सूत्र सुरक्षित हैं, उपनिषदों में भी वही परम्परा थी, स्वयं संहिताएँ तो उनकी आकार हैं। या सच्ची जिज्ञासा किन्तु सब से अधिक तो ध्यान या प्रातिभ चिन्तन की या सची जिज्ञासा की अपेक्षा है।

वेदों की अति महत्वपूर्ण एक विद्या सुपर्ण विद्या थी। जितनी भूत-चितियाँ या पिण्ड निर्माण हैं, सब सुपर्ण का रूप हैं। अग्नि सूर्य चन्द्रमा सभी सुपर्ण हैं। जितने गतिशील पदार्थ हैं सुपर्ण हैं, वे ही गरुत्मा हैं। शरीर में जीव आत्मा सुपर्ण है। साक्षी सुपर्ण और भोक्ता सुपर्ण दोनों इसी में बैठे हैं। जीवात्मा भोक्तात्मा है। वह भोक्तात्मा सुपर्ण या जीवात्मा वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमय है। जो साक्षी सुपर्ण है वह विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमय है। साक्षी सुपर्ण भोक्तासुपर्ण का सयुज् सखा है। जैसा जीव सुपर्ण का स्वरूप है वैसा ही साक्षी सुपर्ण का है। यह साक्षी सुपर्ण हर एक जीव में हैं। हरएक पिंड का साक्षी सुपर्ण पृथक् पृथक् है। उसके संस्थान और धर्म अलग हैं। व्यक्तित्व साक्षी सुपर्ण और भोक्ता सुपर्ण दोनों के आधार पर प्रतिष्ठित है। दोनों हृत्प्रतिष्ठ हैं। साक्षी सुपर्ण के बिना भोक्ता सुपर्ण अकेला पिंड में रह ही नहीं सकता। विश्व का विश्वात्मा प्रत्येक केन्द्र या पिण्ड में प्रति बिम्बित होता है, किन्तु भोक्तात्मा या जीव की भाँति सोपाधिक नहीं बनता, केवल साक्षी रूप से रहता है। यही उसका अभिचाकशीति रूप है। चिति समष्टिका नाम सुपर्ण है। पिण्ड बनाने के लिए प्रजापति को जो संस्थान या ढाँचा बनाना होता है वही सप्तचिति वाला सुपर्ण होता है। चत्वारो आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा—यही सुपर्ण का रूप है। धड़ को चार आत्मा कहते हैं। दो पक्ष हाथ पैर हैं। पुच्छ या प्रतिष्ठा उसकी त्रिकास्थि है, अर्थात् मेरु दण्ड का भाग। प्रत्येक पत्ते में भी त्रिकास्थि है जहाँ वह वृक्ष से जुड़ा रहता है। धड़, दोनों पक्ष भाग, त्रिकास्थि का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आधार इन सातों से ठाठ बन गया। पर ये सातों मर्त्य हैं। इनमें जो प्राण या जीवन का केन्द्र है वह सिर है। यज्ञीय भाषा में कंठ से नीचे के भाग में चित्य अग्नि और ऊपर सिर में चितेनिधेय अग्नि रहती है। एक मर्त्य है, दूसरा अमृत। शिर इस शरीर यज्ञका आहवनीय अग्नि है। सर्वेभ्यो देवेभ्यो हूयते इति आहवनीयम्। सब देवों के लिए आहुति मुख या आहवनीय में ही दी जाती है। किन्तु जब तक वह अन्न रूप सोम की आहुति गार्हपत्य अग्नि या जठराग्नि में न पड़े, उसका रस आदि न बने, वह आहुति देवप्राणों को नहीं मिल पाती। देहरूपी सुपर्ण के चार आत्मा चार आधार प्राण हैं। वे सर्वांग शरीर के आधार हैं। धड़ सारे शरीर का आधार है इसी से हाथ पैर आदि सब निकले हैं। यहाँ आत्मा से शरीर के धड़ भाग का ही अभिप्राय है। दो फेफड़ें, हृदय और उदर ये चार आत्मा या शरीर के आधार इसी धड़ में हैं। दो पक्ष, दक्षिण पक्ष और उत्तर पक्ष ये दोनों ओर के हाथ पैर हैं। पुच्छं प्रतिष्ठा—धड़ वाला आत्मा भाग भी जिसके आधार पर ठहरा है वह त्रिकास्थि प्राण जब शिथिल हो जाता है तभी कमर टूट जाती है। यह कल्पना पक्षी के ढाँचे से लगी गई है। चिड़िया की पूँछ में जो कम्पन होता रहता है उसी से उसकी गति सम्भव होती है। कोई भी गति का उपक्रम त्रिकास्थि प्राण पर बल डाले बिना हो ही नहीं सकता। पक्षों से गति संचार होता है। प्राणन-अपान का द्वन्द्व पक्षों से होता है। यह शरीर यंत्र है। 'यंत्रारूढानि मायया—इस शरीर रूपी शिल्प या माया से हम सब यन्त्रारूढ़ हैं। यह शरीर ही ब्रह्म यंत्र है। इसके धड़ को ढोने की शक्ति प्राण और अपान की क्रिया से ही होती है। उसी से यह यंत्र चल रहा है। असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, ससंज्ञ सब भूतों में ये सप्त चितियाँ रहती हैं। जो पत्थर आदि असंज्ञ हैं उनमें वैश्वानर है, तैजस प्राज्ञ मूर्च्छित है। जो वृक्ष वनस्पति हैं उनमें वैश्वानर तैजस है प्राज्ञ मूर्छित है। तैजस नाम प्राण का है जिसके कारण उनका विकास होता है। जहाँ प्राणन क्रिया का स्पर्श हुआ कि विकास या वृद्धि होने लगती है। मानव

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पशु, पक्षी, कृमि, कीट इनमें प्रज्ञा तत्त्व का विकास है। पूर्व पूर्व में उत्त-रोत्तर से अधिक है। प्रज्ञा ही चिदंश है। असंज्ञ पाषाण आदि में केवल भूतचिति है, प्राणचिति नहीं है। जो भूत का आधार विश्वात्मक प्राण है वह तो रहता ही है, चैतन्य का आधार प्राण नहीं है जिसका चिदंश से सम्बन्ध हो। प्रज्ञान भी उनमें नहीं है। लेकिन सुपर्ण रूपता पाषाणादि पिण्डों में भी है। कोई न कोई रूप तो उनका भी है ही। किन्तु अभिव्यक्त यज्ञरूपता नहीं है। यज्ञ सुपर्ण है। यज्ञ का जो वितान होता है वही सुपर्ण चिति है। अग्नीषोमात्मक, प्राणापानात्मक, प्रक्रिया से यज्ञ का वितान होता है। वह वृक्ष वनस्पति से लेकर कीट मानव पर्यन्त है। यज्ञ विष्णु है। गायत्री छन्द उसका वाहन या गरुत्मा सुपर्ण है। गायत्री सुपर्ण के सोमा-हरण अथवा प्राणापानन, अथवा गायत्री-सावित्री के व्यापार से ही यह शरीर यज्ञप्रवृत्त है। यज्ञ सुपर्णचिति कहलाती है। सुपर्णचिति पर ही प्रत्येक भूत पिण्ड का यज्ञ प्रतिष्ठित है। सुपर्ण पर ही यज्ञ रूपी विष्णु बैठता है। सैषा सुपर्णविद्या। यही गायत्री विद्या है। गायत्री विद्या से भूतविद्या कही जाती है। यह भूतात्मा शरीर जिस प्रकार प्रतिष्ठित रहता है अथवा यह भूपिंड जैसे सौर प्राण की प्राप्ति से स्व स्वरूप में स्थिर रहता है उसी की व्याख्या गायत्री विद्या है। इस विद्या के विस्तार का अन्त नहीं है। प्रत्येक पिण्ड का जितना विज्ञानात्मक रहस्य है वह सब इसके अन्तर्गत है। किन्तु सबको संचालित करने वाली शक्ति प्राणरूपी सुपर्ण है जिसके दो पक्ष अर्थात् प्राण और अपान इस भूत चिति को चलाते हैं—**अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतो। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥** प्राण और अपान की आन्तरिक रोचन या चिनगारी ही जीवन है। इस शरीर में जो महिष या आप्य प्राण या वारुण प्राण या आसुर प्राण है वह गायत्री रूप प्राणन से ही द्युलोक के सौर प्राण को प्राप्त करता है। यदि शरीर में गायत्री छन्द न हो तो यह भूतात्मा मूर्छित हो जाय। गायत्री ही अमृत प्राण का आहरण कर रही है जिससे हम सब जीवित हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वेदार्थ की समस्या हमारे लिये जीवन की भाँति मूल्यवान् है। उसके पीछे विज्ञान है। सृष्टि और जीवन दोनों की व्याख्या उससे होती है। हमारे लिये वह बुद्धि का कुतूहल नहीं है, बल्कि व्यानप्राण या हृदय पर बल डाल कर अर्थों के मन्थन करने का या उनके साक्षात् ज्ञान करने की समस्या है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३. गुहा

'गुहा' वैदिक शब्द है। वहाँ उसका अर्थ वह रहस्यमय स्रोत या स्थान है जो इस दृश्य जगत् की पूर्वावस्था का द्योतक है। यह जो विश्व है जब यह नहीं था तो गुहानिहित अवस्था में था। नाम और रूप में अभिव्यक्त विश्व को 'इदं सर्वम्' कहा जाता है। इस व्यक्त का जहाँ से जन्म हुआ है वह एक रहस्य है। उसी रहस्य की कल्पना गुहा के रूप में की जाती है। अग्नि को गुहा-हित कहा गया है। अग्नि की सृष्टि का मूलभूत प्राणतत्त्व या शक्तितत्त्व है। प्राण ही गतितत्त्व है। गति ही वह शक्ति है जिससे विश्व का उद्भव और विकास हो रहा है। अग्नि के विषय में कहा गया है—

विद्मा ते नाम परमं गुहा यत्
[ऋ० १० । ४५ । २]।

हे अग्नि तुम्हारे उस परम नाम को हम जानते हैं जो गुहानिहित है। परम की तुलना में दूसरा अवम है अर्थात् एक ऊपरला एक निचला, एक उस छोर का दूसरा इस छोर का, एक व्यक्त दूसरा अव्यक्त। अग्नि के द्वारा ही यह विश्वभूत अपने प्रकट रूप में प्रत्यक्ष होता है और पुनः प्रतिसंचर क्रम से अपने मूल रूप में लीन हो जाता है। गुहा के साथ-साथ वेदों में दूसरा शब्द आविः प्रयुक्त होता है। अव्यक्त गुहा और व्यक्त आविः है। कहा गया है—

यान्याविर्या च गुहा वसूनि
[ऋ० १० । ५४ । ५]।

गुप्त और प्रकट ये ही समस्त वस्तुओं या पदार्थों के दो रूप हैं। जिन प्रत्यक्ष दृश्य रूपों को हम देख रहे हैं, विज्ञान हमें बताता है कि उनके

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पीछे शक्ति की प्रक्रिया है। शक्ति के द्वारा ही वे उस रूप में प्रकट हुए हैं। प्रत्येक रूप का स्रोत शक्ति ही है। शक्ति के महान् समुद्र में जिस-जिस केन्द्र पर बलों का योग होता है वहाँ उस-उस प्रकार के रूप उत्पन्न हो जाते हैं। विश्व के मूल कारण की कल्पना एक पर्वत के रूप में की जाय तो उसके एक देश में स्थित गुहा से इस विश्व का आविर्भाव हो रहा है। उस गुहा को ही उत्स या स्रोत कहा जाता है जहाँ से सृष्टि का अजस्र झरना झर रहा है—

विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ

[ऋ० १०।४५।२]।

हे अग्नि, हम तुम्हारे उस आद्य स्रोत को भी जानते हैं जहाँ से तुम जन्मे हो। वह स्रोत जहाँ से विश्व के मूलभूत कारण का सूत्र प्रकट हुआ है सर्वथा अज्ञेय ही है। शक्ति, जीवन, मन, इनका मूल सर्वथा अज्ञेय है। विज्ञान की बहुविध मीमांसा हमें यही बताती है। प्रत्येक जीवित घटक-कोष के भीतर चेतना या जीवन का आविर्भाव कैसे हुआ है यह तत्त्व ज्ञेय की सीमा से बाहर है। यही उसका गुहा में छिपा हुआ नाम है। दृश्य और स्थूल नामों को हम देख पाते और जान पाते हैं किन्तु गुहाहित नाम हमारे ज्ञान की सीमा में नहीं आते। कोई एक महान् शक्ति इन सब नाम और रूपों के पीछे सक्रिय है, किन्तु स्वयं उसके कारण को हम विज्ञान की किसी भी प्रक्रिया से अभीतक नहीं जान पाए हैं। ऐसे तत्त्व को जिसके विषय में कुछ परिचय न हो अद्भुत या आश्चर्य कहा जाता है। उस महान् अद्भुत का जो अभिव्यक्त हुआ रूप है उसे अद्भुत पुत्र कहा गया है। वस्तुतः सृष्टि के पूर्व की अवस्था में वह अग्नि ही अद्भुतपुत्र है (अद्भुतस्याद्भुतं पुत्रम्। आरण्यक २१३।२)। प्राण ही मूलभूत अग्नितत्त्व है जो अव्यक्त से व्यक्त भाव में आता है। एक होते हुए भी वह अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः।
[ऋ० ८। ५८। २]।

अथवा जैसा महाभारत में कहा है—

अग्निर्यदा त्वेक एव
बहुत्वं चास्य कर्मसु।

प्राण का जो स्वरूप किसी एक केन्द्र में जन्म लेकर और वृद्धि को प्राप्त होकर दृश्य रूप में आता है उसे कुमार कहते हैं। वृक्ष, वनस्पति, पशु, मनुष्य आदि सब में प्राणाग्निका यह कुमाररूप प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है। बलों के नाना आघात-प्रत्याघातों से प्रत्येक कुमार जन्म लेता है, यही अग्नि का चयन है। अग्नि पर अग्नि का समूहन, बल पर बल का संचयन यही शक्ति का स्वभाव है जिससे अव्यक्तरूप व्यक्तभाव में आते हैं। वैदिक परिभाषा में विश्व की उत्पादयित्री संज्ञा प्रजापति के दो रूप कहे गये हैं, एक निरुक्त या नाम रूपात्मक दृश्य और दूसरा अनिरुक्त जो नाम और रूप से परे हैं। निरुक्त को ही प्रत्यक्ष, मूर्त और आविः कहा जाता है, एवं अनिरुक्त को परोक्ष, अमूर्त और गुहा। प्रजापति का जो अनिरुक्त रूप है, उसे गर्भ भी कहते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजाय
मानो बहुधा विजायते।

गर्भ ही गुहा है और उसी का दूसरा नाम हृदय है जैसा शतपथ में स्पष्ट कहा है—

तस्मादिदं गुहेव हृदयम्
(शत० ११। २। ६। ५)

वैदिक परिभाषा में जो हृदय है वही केन्द्र है। उसे ही नाभि या उक्थ भी कहते हैं जहाँ से बलों या भूतों का उत्थान होता है। रश्मियाँ अर्क हैं सूर्य उनका स्रोत है। हमें अर्कका परिचय होता है उक्थ का नहीं। रश्मियों

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

से अतिरिक्त उक्थ अनुभव में नहीं आता। यही प्रत्यक्ष जगत् का नियम है। प्रजापति का जो गर्भित रूप है वही प्रत्यक्ष मूर्त का कारण है। जिस प्रकार वृत्त में केन्द्र होता है उसी प्रकार विश्व में अनिरुक्त प्रजापति है। केन्द्र भी सर्वथा अनिरुक्त होता है। उसमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि किसी परिमाण की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रमाणातीत या कल्पना-जनित होते हुए भी केन्द्र ही वृत्त और परिधि का सच्चा कारण है। केन्द्र समष्टि से ही व्यास का निर्माण होता है और व्यास से परिधि बनती है। व्यास और परिधि केन्द्र के मूर्त या निरुक्त रूप हैं जिन्हें हम प्रजापति का निरुक्त भाव कह सकते हैं। जैसे गुह्य केन्द्र से वृत्त का आविर्भाव होता है वैसे ही अव्यक्त भाव से यह व्यक्त विश्व अस्तित्व में आया है। केन्द्र अपने अभ्यन्तर में प्रजापति की भाँति अजायमान है, किन्तु बाहर की ओर वही छोटे बड़े अनेक वृत्तों के रूप में प्रकट हो रहा है। यही उसका 'बहुधा विजायते' रूप है। जो अनिरुक्त प्रजापति है उसका पारिभाषिक नाम 'कः' है। वह एक बड़ा प्रश्नचिह्न है जिसे संप्रश्न कहते हैं, अर्थात् विश्व के सब प्रश्नों से महान् प्रश्न है जो सदा प्रश्न ही बना रहा है और बना रहेगा। अज्ञ इस संप्रश्न को देखकर खीझता है, विज्ञ यह जानकर कि संप्रश्न सदा अविदित है प्रसन्न होता है। जो प्रश्न उत्तर की आहुति से अपना मुँह बन्द कर लेता है वह बुझ जाता है या समाप्त हो जाता है। सृष्टि का महान् प्रश्न सदा असमाप्त है। वह उस यज्ञ कर्म के तुल्य है जिसे सहस्र संवत्सरसत्र कहा जाता है, अर्थात् सृष्टि के साथ ही जो जन्म लेता है और जो अन्ततक बना रहता है। वस्तुतः यही प्रश्न का अमरपन है। जैसा विद्वद्वर मॉरिस मेटरलिंकने कहा है—'मैं अपने शत्रु के लिये भी यह न चाहूँगा कि उसे ऐसे विश्व में रहना पड़े, जिसके एक परमाणु का रहस्य भी जान लिया गया हो क्योंकि फिर यहाँ वैचित्र्य क्या रहेगा?' वस्तुतः आजतक विश्व की पहेली महान् संप्रश्न ही है। एक परमाणु, एक घटक कोष या एक अन्तः मन का पूर्ण रहस्य आजतक कोई नहीं जान पाया है। ज्ञान और विज्ञान के समस्त गांडीव इस प्रश्न के सामने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

परास्त हैं। संसार के समस्त वैज्ञानिक जगती की यवनिका के पीछे का रहस्य जानने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु यह महान् शिव धनुष कुछ ऐसा अविचाली है कि उसके विषय में कवि की यह उक्ति यथार्थ चरित होती है— भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरहि न टारा॥ जो तत्त्व इस दृश्य जगत के मूल में है उस अव्यक्त, अमूर्त्त, अनिरुक्त रहस्य के लिये ही वैदिक परिभाषा में 'गुहा' शब्द का प्रयोग हुआ है। सृष्टि के अव्यक्त आदि कारण को आपः या जल की संज्ञा भी दी गई है। उस आपोमय महासमुद्र में जो अव्यक्त शक्ति का ही नामान्तर है सृष्टि की सारी सम्भावनाएँ अन्तर्निहित थीं। व्यक्त होनेवाली उन सम्भावनाओं को ही अग्नि कहा जाता है। यह अग्नितत्त्व उस महार्णव में कहीं खोया हुआ था। इसी तथ्य को आख्यान का रूप देते हुए महाभारत में लिखा है—

भृग्वंगिरादिभिर्भूयस्तपसोत्थापितस्तदा।
भृशं जज्वाल तेजस्वी तपसाऽऽप्यायितः शिखी।
दृष्ट्वा ऋषीन् भयाच्चापि प्रविवेश महार्णवम्।
तस्मिन् नष्टे जगद् भीतमथर्वाणमथाश्रितम्।
अर्चयामासुरेवैनमथर्वाणं सुरर्षयः॥
अथर्वा त्वसृजल्लोकानात्मनाऽऽलोक्य पावकम्।
मिषतां सर्वभूतानामुन्ममाथ महार्णवम्।
एवमग्निर्भगवता नष्टः पूर्वमथर्वणा।
आहूतः सर्वभूतानां हव्यं वहति सर्वदा॥
आरण्यक पर्व २१२।१५-१६

भृगु और अंगिरा के तप से अग्नि की उत्पत्ति हुई। वह अग्नि महासमुद्र में प्रवेश कर गया और तब अथर्वा ने उस अग्नि को महार्णव से पुनः प्राप्त किया। इसे ही ब्राह्मण ग्रंथों में 'भृगूणामंगिरसां च तपसा तप्यध्वम्' कहा गया है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि अग्नि और सोम सृष्टि की दो धाराएँ हैं। भार्गवी धारा सौम्य और आंगिरसी धारा आग्नेय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। भृगु और अंगिरा दोनों के एक साथ सम्मिलित संघर्ष से ही अव्यक्त अग्नि व्यक्तभाव प्राप्त करती है, किन्तु शक्ति का यह अभिव्यक्त केन्द्र अपने ही महान् विस्तार में विलीन रहता है। शक्ति के उस विस्तृत समीकरण में उद्बुध केन्द्र उत्पन्न होते हैं जिन्हें हम सूर्य के रूप में प्रत्यक्ष देख रहे हैं। यही महार्णव से अथर्वा द्वारा अग्नि की पुनः प्राप्ति है। प्राणतत्त्व का नाम ही अथर्वा है—

प्राणो वा अथर्वा। शतपथ ६।४।२।२

इन आख्यानों में अग्नि और जल सृष्टि के मूलभूत तत्त्वों के प्रतीक हैं, भौतिक अग्नि और जल के वाचक नहीं। भूतभौतिक दृष्टि से पूर्वकालीन शक्ति के विकास की पूर्वापर अवस्थाओं की व्याख्या ही वैदिक अध्यात्म और अर्वाचीन विज्ञान दोनों में देखी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थ आप् शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—यदाप्नोत् तस्माद् आपः। जो तत्त्व सर्वदा व्याप्त था, व्याप्त होने के कारण ही उसे आपः कहा गया। यह व्यापक तत्त्व क्या था, इसका उत्तर यही है कि उद्बुद्ध केन्द्रों के अविर्भाव से पूर्व विश्व की शक्ति ही सर्वथा व्याप्त होने के कारण आपः कहलाई। उसका न कोई रूप था और न कोई निर्माण या तक्षण-व्यवस्था। जिस प्रकार महासमुद्र के जल रूप-आकृतिविहीन अनन्त आकाश में फैले पड़े हैं उसी स्थूल कल्पना से उस मूलभूत शक्ति समुद्र की कल्पना की जाती है जिसके गर्भ से अग्निरूप में उत्पन्न होकर वह शक्ति मूर्तरूपों में प्रकट होती है। वस्तुतः मूर्त और अमूर्त, व्यक्त और अव्यक्त सापेक्ष शब्द हैं और वे एक ही तत्त्व की दो अवस्थाएँ हैं। प्राचीन और अर्वाचीन तत्त्वदर्शियों को लगभग एक-सी ही भाषा का आश्रय लेते हुए मूलतत्त्व का वर्णन करना पड़ा है। सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से जो रहस्य या अव्यक्त तत्त्व है वह अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसी के अन्तर्द्वारों में प्रविष्ट होकर विज्ञान और दर्शन अपनी आकांक्षा और सौभाग्य पूरा करते हैं। गुहानिहित किसी अभेद्य तत्व की झांकी जिसे प्राप्त हो जाती है वह बड़भागी है। मानव के सक्रिय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मनस्तत्त्व को यदि इन्द्र कहा जाय तो वह इन्द्र पर्वत की गुहा के भीतर ही किसी बुद्धतत्त्व के दर्शन करता है। मनः क्षेत्र की विराट् सीमा ही इन्द्र-शैल पर्वत है। उसके भीतर बुद्ध रूपी उद्बुद्ध अग्नि का दर्शन सम्भव है। बौद्ध आख्यानों में जो यह कहा जाता है कि इन्द्र ने इन्द्रशैल पर्वत की गुफा में बुद्ध के दर्शन किए थे वह भी एक प्रतीक कथन ही है। वैदिक सृष्टि विज्ञान के अनुसार सृष्टिरूपी जल पर्वत की गुफा में अवरुद्ध थे, जिन्हें इन्द्र ने आवरण करनेवाली शक्ति को वज्र के प्रहार से पराभूत करके उन्मुक्त किया। इन उपाख्यानों में पर्वत गुहा का अभिप्राय किसी अव्यक्त स्रोत से है जहाँ से व्यक्त सम्भावनाएँ जन्म लेती हैं। सृष्टि का गूढ़ कारण अत्यन्त दुर्दर्श है। वह कभी सृष्टि से बाहर था किन्तु सृष्टि में अनुप्रविष्ट भी है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' यही सृष्टि का नियम है। कारण जिस कार्य को जन्म देता है वह उस कार्य में स्वयं आतप्रोत रहता है। अतएव अनुप्रविष्ट गूढ़ कारण को यहीं प्रत्यक्ष भूतों में पहचाना जा सकता है। इसके लिए भूतेषु भूतेषु विविच्य धीराः कहा गया है। वह मूल कारण पुराण या चिरन्तन है। उसका स्वरूप देवतात्मा है। देव का तात्पर्य प्राण से है। सृष्टि के दो सत्य हैं। एक भूत सत्य और दूसरा प्राण सत्य है। प्राण सत्य का ही नाम देव सत्य है। उस देव सत्य का परिचय प्रत्येक के अपने आत्म केन्द्र में ही सम्भव है, क्योंकि वहीं उसकी अभिव्यक्ति होती है। बिना केन्द्र के देवसत्य या प्राणबल अभिव्यक्त हो ही नहीं सकता। प्राण की साक्षात् अनुभूति निज केन्द्र में ही सम्भव है। आत्म केन्द्र की अनुभूति को ही अध्यात्म योग कहते हैं। गुहानिहित पुराण तत्त्व के लिये ही कठोपनिषद में कहा गया है—

तं दुदर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन
देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

—:०:—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४. अंगिरस् अग्नि

ब्राह्मण-ग्रंथों में एक कथा पाई जाती है कि प्रजापति ने सृष्टि के सब पदार्थों को रचकर उनमें मृत्यु को भाग दे दिया। मृत्यु को भाग मिलने से सब पदार्थों में नश्वर-धर्म का संस्पर्श हो गया। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसीको जराग्रस्त भी होना पड़ता है। यह प्राकृतिक अलंघ्य विधान है। केवल एक वस्तु ऐसी थी जिसको प्रजापति ने अपने लिये प्रिय जानकर उसमें मृत्यु को हिस्सा नहीं दिया। वह ब्रह्मचारी था। मृत्यु उसमें हिस्सा पाने के लिये उपरोध करने लगा। मृत्यु के आग्रह से प्रजापति ने नियम कर दिया कि अच्छा, तुमको ब्रह्मचारी में भी भाग लेने का अधिकार होगा; लेकिन एक शर्त है, वह यह कि जिस अहोरात्र में ब्रह्मचारी समिधाधान से अग्निहोत्र नहीं करेगा उस दिन या उस रात्रि को तुम दबा लेना। जिस अहोरात्र में अग्निहोत्र विधि-पूर्वक निष्पन्न किया जाता है, वह अमृतत्व का बढ़ानेवाला होता है। अग्निहोत्र द्वारा ब्रह्मचारी उस अमृत अग्नि की परिचर्या करता है जो सब नरों में अतिथि-रूप से बसा हुआ है। जीवात्मा ही वैश्वानर अतिथि है (शतपथ ११–३–३–१ तथा गोपथ पू० २–६)।

इस कथा का अभिप्राय वृद्धि और ह्रास के ब्रह्मांडव्यापी नियम के पिंडगत विधान को स्पष्ट करना है। ब्रह्मचर्य उस अवस्था का नाम है जिसमें मनुष्य ब्रह्म के साथ चलता है। ब्रह्म+चर्य = बृंहणत्व या बढ़ना स्वभावसिद्ध है। इस बृंहण या ब्रह्मा की शक्ति को जब हम अपने भीतर ही पचा लेते हैं तब हम ब्रह्मचर्य-दशा में रहते हैं। कुमारावस्था में ब्रह्म-धर्म प्रबल रहता है। उस समय शरीर के कोषों की अभिवृद्धि ही अधिक होती है। जो थोड़े-बहुत कोष क्षय को भी प्राप्त होते हैं, उनका समुदाय बहुत ही अल्प होता है। वृद्धि और ह्रास के कार्य इस प्रकार जब व्यवस्थित

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हों कि वर्धिष्णु प्रवाह ह्रसिष्णु की अपेक्षा बहुत प्रबल रहे, तब शरीरस्थ विद्युत् या प्राण ब्रह्मचर्य-निष्ठित रहते हैं। वृद्धि का नाम प्राण और ह्रास का नाम अपान है। प्राणापान का समीकरण ही शरीर-स्थिति का प्रधान हेतु है। वृद्धि की संज्ञा भरद्वाज ऋषि है। ह्रास का नाम च्यवन ऋषि है। वृद्धि और ह्रास या प्राणापान का ही रूपांतर अग्नि+सोम है, जिनको उद्दिष्ट करके अग्निहोत्र की आहुतियाँ दी जाती हैं। जीवन के प्रत्येक क्षण में, शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु या कोष में भी यह अग्निहोत्र का द्वंद्व गूढ़ रीति से अनुप्रविष्ट है। ब्रह्मांड या पिंड में कुछ भी ऐसा नहीं जो इस द्वंद्व से विनिर्मुक्त हो। प्राणापान या अग्निषोम के ही काल-धर्म-विशिष्ट नाम ये हैं—

सृष्टि	प्रलय
ब्राह्म दिन	ब्राह्म रात्रि
उत्तरायण	दक्षिणायन
शुक्ल पक्ष	कृष्ण पक्ष
दिन	रात
पूर्वाह्ण	अपराह्ण
प्रातः	सायं
प्राण	अपान
देव	पितृ
ज्ञान	कर्म
ज्योतिः	तमः

सृष्टि के साथ ही प्रलय की कल्पना संनिहित है। प्रलय-विहीन सृष्टि असंभव है। सृष्टि के प्रत्येक क्षण में भी प्रलय-प्रक्रिया वर्त्तमान रहती है। रात्रि न हो तो दिन की सत्ता विच्छिन्न हो जाय।

इस प्रकार यद्यपि सृष्टि में प्रलय और प्रलय में सृष्टि के अंकुर बने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रहते हैं, फिर भी अपने-अपने समय में जो विधान प्रबल रहता है उसी के धर्मों के अनुसार सृष्टि और प्रलय या प्राण और अपान के फल दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तरायण प्राण-प्रधान, दक्षिणायन अपान-प्रधान है। ब्रह्मचर्य प्राण-प्रधान और जरा-काल अपान-प्रधान है। जहाँ प्राण की शक्ति अपान से बलवती है वहाँ मृत्यु का भाग बहिष्कृत समझना चाहिए। जिस दिन ब्रह्मचारी अंगिरस् अग्नि को समिद्ध नहीं करता, उसी दिन प्राणापान की समता अस्तव्यस्त हो जाती है। वर्धिष्णु धर्मों को क्षयिष्णु शक्तियाँ दबा लेती हैं, अथवा यों कहें कि देवों को असुरों के सामने पराभूत हो जाना पड़ता है।

ऊपर की तालिका में एक कोष्ठक ज्योतिषावृत है, दूसरा तमसावृत। सृष्टि से पूर्वाह्ण तक ज्योति है, प्रलय से अपराह्ण तक तमस् है। ज्योतिर्मय काल में प्राणों का उत्सर्ग ऊर्ध्वंगमन है, तमसावृत काल में प्राण-त्याग अधस्तात् गति है। सूर्य अपनी विराट् गति से एक अग्निहोत्र हमारे सामने रच रहा है—'सूर्यो ह वाऽअग्निहोत्रम्' (शतपथ २।३।१।१)। इस अग्निहोत्र की षाण्मासिक, मासिक और दैनिक आवृत्ति का हम प्रति संवत्सर में अनुभव करते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में अग्निहोत्र को 'जरामर्य सत्र' कहा गया है, अर्थात् जिस यज्ञ का सत्र (session) जरा-पर्यंत या मृत्यु पर्यंत रहता है, वह अग्निहोत्र है—'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं, जरया ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' (शतपथ १२–४–१–१)। इस संतत-प्रचारित अग्निहोत्र से तादात्म्य प्राप्त करने के लिये—उसके रहस्य को आत्मसात् करने के लिये ही वैदिक जीवन में सायं-प्रातः होनेवाले अग्निहोत्र की कल्पना की गई है। जीवन के अनवरत संग्राम में हम अनेक विषम ध्वनियों से अभिभूत होकर अंतर्व्यापी संगीत की मधुर लय को खो बैठते हैं। हमारे चारों ओर नश्वर-धर्मवाले पदार्थों का जाल बिछा है। इन सब में एक अविनाशी तत्त्व का सरस उद्गीथ (rhythm) छिपा हुआ है। सायं-प्रातः के अग्निचयन से हम उसी संगीत को सुनने और उसके साथ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

संमनस्क होने को विचेष्टित होते हैं। जिन्हें यह दर्शन भी सुलभ नहीं है, उनका जीवन शक्ति का विवश अपव्यय ही है।

इस अग्निहोत्र की केवल दो ही प्रधान आहुतियाँ हैं। दो की संधि ही तीसरी आहुति है। यही त्रिक का मूल है। सर्वत्र ही त्रिकशास्त्र में पूर्व-रूप और उत्तर-रूप तथा उनके संधान का वर्णन पाया जाता है। त्रिकविद्या की वैदिक संज्ञा ही त्रिणाचिकेत अग्नि है। जिस व्यक्ति ने सत्र जगत् के त्रिक को पहचान लिया है, वह शोकातीत होकर ज्योतिषावृत स्वर्ग में आनन्द करता है—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
(कठ-उपनिषद्)

इसी त्रिक के संज्ञान का कारण अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं—

भूः	भुवः	स्वः
प्राण	अपान	व्यान
अग्नि	वायु	आदित्य

ये ही अग्निहोत्र की आहुतियाँ हैं। इन्हीं देवों को उद्दिष्ट करके स्वाहा-कार होता है। व्यक्त ब्रह्मांड (cosmos) का संगीत 'अ उ म्' इन्हीं तीन मात्राओं से प्रतीत हो रहा है। यही वामन वेशधारी विष्णु (Macrocosm as microcosm) के तीन पैर हैं, त्रेधा विचक्रमण है, जिसके द्वारा विष्णु ने त्रिलोकी को नाप लिया है। जो वामन है, वही विष्णु है—'वामनो ह वै विष्णुरास'। अपने विराट् रूप में जो आत्मा सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद् है, वामन-वेष में वही दस अँगुलियों के आधार से खड़ा है। दो चरणों से जिनकी स्थिति है, उनके विराट् रूप को जो पहचानते हैं, वे आत्मज्ञानी धन्य हैं। अध्यात्म विष्णु के तीन चरण वाक्, मन और प्राण हैं। इन्हीं के नामान्तर इस प्रकार हैं—वाक् = विज्ञातं

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(Known), प्राण = विजिज्ञास्यं (To be known), मन = अविज्ञातं (Unknown)। वाक् ऋग्वेद, मन सामवेद और प्राण यजुर्वेद का सार है। भूत विज्ञात है, वर्त्तमान विजिज्ञास्य है, भविष्य अविज्ञात है। विना इन तीन पहियों के ब्रह्मांड का एक परमाणु भी आगे नहीं बढ़ सकता। इन्हीं के ऐक्य-मर्म को जानने के लिए अग्निहोत्र की निम्न आहुतियाँ हैं—'ॐ भूरग्नये स्वाहा, ॐ भुवर्वायवे स्वाहा, ॐ स्वरादित्याय स्वाहा।' इन्हीं आहुतियों में प्राणापान और व्यान भी सम्मिलित हैं। येही अग्नीषोमात्मक आहुतियाँ हैं—"अग्नि = भरद्वाज = प्राण; सोम = च्यवन = अपान। अग्नये स्वाहा—यह उत्तरायण की अहुति है। सोमाय स्वाहा—यह दक्षिणायन की आहुति है।" सारा जगत् अग्निषोमात्मक है। महाप्राण या विद्युत् द्विधा रूप होकर सबको बनाती और बिगाड़ती है। ऋण-धन का द्वंद्व ही अग्निषोम या प्राणापान है—'प्राणापानौ अग्नीषोमौ' (ऐतरेय ब्राह्मण १-८)। "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्"—(शतपथ १-६-३-१२)। अग्नीषोम के अतिरिक्त तीसरा पदार्थ कुछ नहीं है। जो कुछ है वह इन्हीं की सन्धि है—इन्हीं का परस्पर आकर्षण है। इस ग्रन्थि के द्वारा अग्नि की शक्ति सोम में और सोम की अग्नि में अवतीर्ण होती है। धन और ऋण का सम्मिलन ही व्यक्त प्रकाश या शक्ति का हेतु है। 'अहोरात्रे वा अग्नीषोमौ' (कौषीतकी, १०-३)। कर्मकाण्ड में अग्नीषोम की ही संज्ञा 'दर्श पौर्णमास' है। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष मासिक अहोरात्र के रूप हैं। इस मासव्यापी अग्निहोत्र से सोम की कलाओं की वृद्धि और क्षय होता है। 'यच्छुक्लं तदाग्नेयं, यत्कृष्णं तत्सौम्यं'। चाहे इसे ही दूसरी तरह कह लें (यदि वेतरथा)। 'यदेव कृष्णं तदाग्नेयं, यच्छुक्लं तत्सौम्यम्' (शतपथ १-६-३-४१)। एक ही वस्तुतत्त्व को कहने के अनेक प्रकार हैं। जो कभी धन है, वही ऋण बन जाता है। ब्रह्मचर्य-काल में जो शक्ति प्राणात्मक है, जरावस्था में वही अपानात्मक हो जाती है। सूर्य का ही तेज रात्रि के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

समय अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है। प्रातःकाल की आहुति सूर्य-निमित्त है, सायंकाल की अग्नि-निमित्त—'ॐसूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः स्वाहा, सूर्यो वर्चोज्योतिर्वर्चः स्वाहा'। ज्योति और वर्च—ये सूर्य के दो रूप हैं। सूर्य की प्रातःकालीन ज्योति (प्राण) अपने वर्च (अपान) से रहित नहीं रह सकती। ज्योति और वर्च दोनों दो होते हुए भी एक हैं, और एक ही सूर्य प्रातःकाल में भी ज्योति+वर्च के रूप में प्रकट होता है।

$$\text{सूर्य} = \begin{cases} \text{ज्योति} \\ \text{वर्च} \end{cases} \qquad \text{ज्योति} = \text{वर्च}$$

यही प्राणापान का संक्षिप्त समीकरण है। प्राणापान की ही वैदिक संज्ञा 'सविता' और 'सावित्री' है। गोपथ ब्राह्मण [पू० १-३२] में मौद्गल्य और मैत्रेय के संवाद-रूप में, सविता-सावित्री का विशद निरूपण है। सावित्री-शक्ति के बिना सविता निःशक्त रहता है। सविता देव और सावित्री उसकी देवी है।

मैत्रेय ने मौद्गल्य के चरण छुए और पूछा—कृपाकर पढ़ाइए, कौन सविता और कौन सावित्री है। इस पर मौद्गल्य ने द्वादश जोड़ोंवाली सावित्री का निर्वचन किया। उदाहरणार्थ, वे बारह द्वन्द्व इस प्रकार हैं। सूर्य के द्वादशमासात्मक संवत्सर के ये द्वादश द्वन्द्व हैं—

धन	ऋण
१ मन	वाक्
२ अग्नि	पृथिवी
३ वायु	अंतरिक्ष
४ आदित्य	द्यौः
५ चंद्रमा	नक्षत्राणि
६ अहः	रात्रि
७ उष्ण	शीत

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

८ अभ्र	वर्ष
९ विद्युत्	स्तनयित्नु
१० प्राण	अन्न
११ वेदाः	छंदांसि
१२ यज्ञ	दक्षिणा

वस्तुतः सविता और सावित्री मूल में एक हैं। 'मन एव सविता, वाक् सावित्री। यत्र ह्येव मनस्तद्वाक्, यत्र वै वाक् तन्मनः। इत्येते द्वे योनी, एकं मिथुनम्।' अर्थात् 'जो मन है वही वाक् है। जहाँ वाक् है, वहीं मन है। योनियाँ दो हैं, पर मिथुन एक ही है।' जैसे स्त्री-पुरुष में पृथक् दो योनियाँ होते हुए भी सृष्टि के लिये एक ही मिथुन है, वैसे ही सविता-सावित्री मिथुन हैं। सविता प्राण, सावित्री अपान है। सविता अमूर्त और सावित्री मूर्त है—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे, मूर्तं चामूर्तं च।' सविता या ज्ञान अमूर्त है। सावित्री या कर्म मूर्त है। ज्ञान और कर्म को एक साथ प्रेरित करने की प्रार्थना सावित्री या गायत्री मंत्र है। अमूर्त ज्ञान के लिये मूर्त कर्म की नितांत आवश्यकता है। अव्यक्त ज्ञान का अवतार मूर्त कर्म में होता है। अव्यक्त का व्यक्त रूप में अवतार वैसे ही स्वाभाविक है, जैसे व्यक्त का अव्यक्त में जाना। कारलाइल ने Sorrows of Teufelsdroch में एक स्थान पर कहा है—"The end of man is an Action, and not a Thought, though it were the noblest." सविता का वरेण्य भर्ग बिना सावित्री की शक्ति के कृतकार्य नहीं हो सकता। प्रातःकालीन सूर्य की सावित्री उषा है। उषा इंद्रवती या प्राणात्मिका है। इसलिये तीसरे मंत्र में सविता-सावित्री-(प्राणापान अथवा ज्योति-वर्च)-संयोग दिखाया गया है—'ॐ सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्यां जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा'—अर्थात् सूर्य के लिये स्वाहा हो, जो सूर्य सविता देव और सावित्री प्राणात्मिका उषा से जुष्ट रहता है।

इसी प्रकार सायंकाल के अग्निहोत्र में अग्निसंज्ञक प्राण के ज्योति और

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वर्च रूपों का स्मरण है। सायंकाल का सविता अग्नि और इंद्रवती सावित्री रात्रि है। सूर्य और उषा, अग्नि और रात्रि—ये प्राणापान या अग्नीषोमाख्य द्वद्व के ही कल्पना-भेद हैं।

ये सब अग्निहोत्र-कल्प किस निमित्त हैं ? उसी अग्नि की उपासना के लिये, जिसे प्रजापति ने ब्रह्मचारी को सौंपा था। वह अग्नि अतिथि-रूप से सब शरीरों में रहता है, वह वैश्वानर है। प्रजापति ने जन्म लेने के साथ ही अपने आयु के उस पार को देख लिया था, एक तट पर आते ही उन्हें दूसरे तट का ज्ञान हो गया। जो अतिथि आता है, उसका जाना (महायात्रा या महान् सांपराय) भी निश्चित है। वह अतिथि अग्नि अंगिरा बना है, सब अंगों में रस बनकर वही व्याप्त है। उसके रस से सब अंग हरे रहते हैं, उस अंगिरा के पृथक् होते ही 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते' वाली गति हो जाती है, अस्थि-पंजर सूखकर गिर जाता है। यह उसी अग्नि की ज्वाला, प्रभा या रोचना है जो प्राण से अपान तक दौड़ती है—"अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्"—(यजु० ३-७)। महिष ने द्युलोक को देख लिया है। 'अग्निर्वै महिषः' (शतपथ ७-३-१-३४) तथा 'द्यौर्वा अस्य (अग्नेः) परमं जन्म' (शतपथ ९-२-३-३९)। जिस अंतर्यामी की दीप्ति के रूप प्राणापान हैं उसने अपने परम जन्म को जान लिया है। अंतश्चारी प्राणापान के द्वारा उस अंगिरा अतिथि को समिद्ध और प्रबुद्ध करना ही दिव्य अग्निहोत्र है।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥
सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे ॥
तन्त्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥

आयु का वसंत-काल घृत है, यौवन समिधाएँ हैं। घृत और समिधाओं से अतिथि को समिद्ध करो। बिना जागे हुए जो अतिथि महानिद्रा में सो गया, उसके लिये महती विनष्टि है। वह अंगिरा यविष्ठ्य—अर्थात्

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

युवतम वा शाश्वत यौवन-संपन्न है। वह बृहच्छोचा है—अर्थात् जहाँ सूर्य-चंद्र का भी तेज नहीं जाता, वहाँ उसके बृहत् शोच या तेज की गति होती है। प्राणापान के अग्निहोत्र के अतिरिक्त अतिथि को जगाने का और साधन नहीं है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

५. अमृत

उपनिषदों की निम्नलिखित प्रार्थना मानव-हृदय की चिरन्तन अभिलाषाओं को प्रगट करती है—

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतं गमय।

अर्थात् हमें असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, एवं मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो। असत्-तम-मृत्यु जीवन का एक पक्ष है। सत्-ज्योति-अमृत यह उसका दूसरा पक्ष है। असत् और तम का अन्तर्भाव मृत्यु में और सत् और ज्योति का अन्तर्भाव अमृत में है। ऊपर लिखी हुई सुन्दर प्रार्थना का सारांश यही है कि मनुष्य मृत्यु से दूर हटकर अमृत पाना चाहता है। शतपथ ब्राह्मण में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—यह जो कहा गया कि हमको असत् से सत् की ओर ले चलो उसका तात्पर्य यह है कि हमको मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो, क्योंकि मृत्यु असत् है, अमृत सत् है। तम से ज्योति की ओर जाने का अर्थ भी मृत्यु से बचकर अमृत की प्राप्ति है, क्योंकि मृत्यु ही तम है, अमृत ही ज्योति है। मृत्यु से हमें अमृत की ओर ले चलो, इसका भावार्थ स्पष्ट है।*

---

* स यदाहासतो मा सद्गमयेति। मृत्युर्वा असत्, सदमृतं, मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। तमसो मा ज्योतिर्गमयेति। मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं, मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह। मृत्योर्मामृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। (श० १४।४।३०-३२)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राचीन ऋषियों को अमृत अथवा विराट् जीवन से अत्यन्त प्रीति थी। नित्य प्रति के सन्ध्यावंदन में भी सर्वप्रथम मनुष्य अपने आपसे यही कहता है :—

अमृतोपस्तरणमसि। अमृतापिधानमसि।

अर्थात् हे मानव, तेरा बिछौना और ओढ़ना दोनों अमृत के बने हुए हैं। मनुष्य का आदि और अन्त दोनों अमृतभाव से युक्त हैं। इन शाश्वत प्रार्थनाओं के द्वारा मनुष्य ने अपने मर्त्य जीवन में अमृत का स्मरण रखने का प्रयत्न किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि अमृत कहाँ है? क्या मर्त्य प्राणी को अमृत मिल सकता है? अमृत का क्या स्वरूप है और उसके प्राप्त करने की युक्ति क्या है? ये प्रश्न हमारे जीवन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। सुनते हैं कि केवल अमृत से ही मृत्यु का भय हटाया जा सकता है। राजा भर्तृहरि को किसी योगी से अमृत फल प्राप्त हो गया था। भर्तृहरि ने स्वयं उसे न खाकर काम भाव से युक्त अपनी प्रिया को दे दिया। उसने किसी अन्य को दिया, और उसने फिर किसी अन्य को। इस प्रकार मर्त्य प्राणियों में घूमता हुआ वह अमृत फल भर्तृहरि के पास ही आ गया। भर्तृहरि ने उसे ले जाकर योगी के चरणों में रख दिया और **'धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च'** के अनुभव से भर्तृहरि अमर बन गए। भर्तृहरि के अमर फल को किसी वृक्ष पर पाने की अभिलाषा करना बुद्धि का तिरस्कार है। भर्तृहरि ने आत्मज्ञान के द्वारा अपने आपको मृत्यु के भय से मुक्त कर लिया, यही अमरफल का परम लाभ है।

हमारे मन में ही अमृत और मृत्यु के प्रथम अंक लिखे जाते हैं। मन मनुष्य के भीतर अमृत ज्योति है। मन पर जब विषाद, तम, पाप का आक्रमण होता है तभी हमारा सम्बन्ध अमृत की धारा से टूट जाता है। मन एक कल्पवृक्ष है। हम सब इस कल्पवृक्ष के नीचे खड़े होकर जैसा सोचते हैं वैसा बन जाते हैं। उत्तम स्वस्थ आत्म-निवेदन (Auto-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Suggestion) से मन की शक्तियाँ बढ़ती हैं, विषाद, चिन्ता, संशय से मन अपने वीर्य को खो देता है।

ज्ञानामृत

मानसिक परिवर्त्तन अमृत-प्राप्ति की पहली सीढ़ी है। पुराणों में दी हुई परीक्षित् की कथा का रहस्य भी यही है। परीक्षित् ने अज्ञान से तक्षक नाम का साँप शमीक ऋषि के गले में डाल दिया था। ऋषि के शाप से उसी तक्षक ने सात दिन के भीतर ही परीक्षित् को डसकर उनके जीवन का अन्त कर डाला। परीक्षित् को जब यह मालूम हुआ कि उसके जीवन के केवल सात दिन शेष हैं तब उसे विषयों से वैराग्य हो गया। इस वैराग्य ने परीक्षित् का दृष्टिकोण बदल दिया। उसका मन समाधिमान् हो गया। उसने कहा—मुझे अब तक्षक से भय नहीं। सात दिन तो क्या, यदि यह अभी डस ले तो भी मुझे कष्ट न होगा। इस कथा का तात्पर्य क्या है? काल वह तक्षक सर्प है जो हममें से प्रत्येक के गले में पड़ा हुआ है। सबके जीवन को शनैः-शनैः रन्दनेवाला चतुर तक्षक या बढ़ई काल है। इसके तक्षण से कोई मुक्त नहीं। इस महातक्षक का रन्दा एक सप्ताह है। इन सात दिनों की आवृत्ति से ही जीवन का आयु-सूत्र बना है। सप्ताह रूपी रन्दे से तक्षक सबको छील रहा है। और रात-दिन के रूप में आयु के परत हमारे सामने ढेर हो रहे हैं। तक्षक का कार्य कभी रुकता नहीं। ऋषि ने मृत्यु के रहस्य को जान लिया है, अतएव उसके गले में तक्षक मरा हुआ है। परन्तु परीक्षित के लिए वही तक्षक महाभयंकर जीवित विषधर बन जाता है। ऋषि या ज्ञानी तक्षक काल को जीत चुका है, परीक्षित् को वह अनुभव अभी प्राप्त नहीं हुआ। अतएव चक्रवर्ती राज्य का समस्त वैभव भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। गूढ़-से-गूढ़ राजभवनों में भी, जिनकी रचना में मय का कौशल समाप्त हो गया था, परीक्षित् के शरीर की रक्षा नहीं हो सकी। हर एक परीक्षित् की जन्मपत्री में ऐसे ही मृत्यु के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अटल अंक पड़े हुए हैं। उनको मेटने की शक्ति किसी भी आस्तीक में नहीं है। मय, आस्तीक, परीक्षित्—तीनों का सम्मिलित उद्योग भी तक्षक को परास्त नहीं कर सकता। तक्षक रूपी काल को जीतने का केवल एक ही उपाय है—वह है आत्मज्ञान, विषयों से वैराग्य अथवा संसार के विषय में मानसिक परिवर्त्तन। यह आध्यात्मिक अमृत की संप्राप्ति है। भारतीय साहित्य में इस प्रकार के अमृततत्त्व की महिमा अत्यन्त सूक्ष्म रूप से और विस्तार के साथ कही गई है। आत्मज्ञान की प्राप्ति जीवन का परम पुरुषार्थ माना गया है। जिसने जीते-जी आत्मा को देख लिया वह निश्चयपूर्वक मृत्यु के भय से मुक्त हो गया। आत्मज्ञान कहने-सुनने की बात नहीं है। यह जीता-जागता अनुभव है। उस अनुभव के मिलने पर जीवन की धारा इतने वेग से बहने लगती है कि मनुष्य साक्षात् रूप से अमृततत्त्व को अपने चारों ओर भरा हुआ देखता है। वह सोते-जागते आनन्द के समुद्र में उतराने लगता है। इस प्रकार की ध्रुव प्रतीति अमृत का सेतु या पुल है जिसके द्वारा मनुष्य मृत्यु से पार हो जाता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अमृतप्राप्ति की यह अवस्था बहुत ही सच्चे अर्थों में स्वयं प्राप्त करने की वस्तु है, केवल कहने-सुनने से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। और यह बात भी नहीं है कि अनुभव की इस दशा का मनुष्य के शरीर और मन पर कुछ प्रभाव न होता हो। इस प्रकार का सात्त्विक अनुभव सच्चे वैज्ञानिक अर्थों में हमारे भौतिक शरीर और मन पर भी प्रभाव डालता है। सत्व गुण की वृद्धि से इन्द्रियों के दोष हटने लगते हैं। शरीर और मन दोनों निर्मल और दोषरहित हो जाते हैं। निर्मलता या पवित्रता अमृत का उत्कृष्ट रूप है। किसी ज्ञानी को देखिए, आनन्द उसके अन्दर से फूटकर निकलता हुआ दिखाई देगा। आनन्द का ही दूसरा नाम अमृत है। मृत्यु का रूप विषाद या दुःख है।

योगी और अमृत

योग-साधन को अमृत-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय माना गया है। योग-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शास्त्र में जिस जीवन-क्रम का उपदेश दिया गया है उसके अनुसार यदि हम ब्रह्मचर्यादि यम-नियमों को प्राप्त कर सकें और आसन-प्राणायाम के द्वारा नाड़ी-शुद्धि और प्राण की शक्ति को प्राप्त कर लें तो हम जीवन में अमृत-भाव को अधिकांश में प्राप्त कर लेते हैं। शत-प्रतिशत जीवन की प्रतीति का नाम अमृत है। यदि हमारा मन बुझा हुआ है, यदि हमारी नाड़ियों में शुद्ध उत्तम रक्त का प्रवाह नहीं है, तो हम जीते-जी भी मृत्यु के वशीभूत हो गए हैं। हमारे भीतर जो प्राण-शक्ति (Vital Force) है, उसी का नाम अमृत है। बच्चे के भीतर यह प्राण-शक्ति या जीवन की धारा इतनी बलवती होती है कि उसके मनःक्षेत्र में मृत्यु का भाव कभी आता ही नहीं। यह असम्भव है कि बच्चे को हम मृत्यु का ज्ञान करा सकें। ऊर्जित प्राण-धारा के कारण उसके मन में मृत्यु का भाव घुसता ही नहीं। किसी ने कहा है :—

'It is not death but departure of life that is painful'.

अर्थात् मृत्यु दुःख का कारण नहीं है। प्राण या जीवन का लोप वस्तुतः दुःखप्रद है। आयु के प्रथम भाग में प्राण या जीवन भरपूर रहता है। उसमें मृत्यु के दुःख का अनुभव नहीं व्यापता। ज्यों-ज्यों हम बड़े होते हैं, मृत्यु का आक्रमण हमारे शरीर और मन पर प्रत्यक्ष होने लगता है। शरीर में मलों का संचय हो जाता है, नस-नाड़ियाँ कड़ी हो जाती हैं। मृत्यु के भौतिक रूप की मीमांसा करनेवाले पश्चिमी वैज्ञानिक नाड़ियों के क्षय और प्राणशक्ति के ह्रास को ही मृत्यु मानते हैं। यही जरावस्था है। जरा मृत्यु का पूर्व रूप है। 'मृत्यु और उसकी समस्याएँ' (Death and Its Problems) पुस्तक के लेखक ने मृत्यु की परिभाषा करते हुए लिखा है—

'I should thus, therefore, define natural death, or death from old age :

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

'It is the inability of the Life-Force to raise to the requisite rate of vibration the nervous tissue upon which it acts, its manifestation thus being rendered impossible.

अर्थात् मृत्यु उस अवस्था का नाम है जिसमें जीवनी शक्ति नाड़ियों को पर्याप्त मात्रा में संचालित करने में अशक्त हो जाती है, जिसके कारण जीवन की अभिव्यक्ति असम्भव बन जाती है।

इसका तात्पर्य यह है कि सशक्त शुद्ध नाड़ियाँ प्राणशक्ति के लिये परम आवश्यक हैं। रुधिर, मांस, मज्जा, अस्थि इन सबसे अधिक मूल्यवान् नाड़ियाँ हैं। उपवास करने से सबसे पहले संचित दोष और मलों को जठराग्नि जलाती है तब मेद, रुधिर आदि धातुएँ भस्म होने लगती हैं। परन्तु नाड़ियों को प्रकृति इतना मूल्यवान् समझती है कि चाहे उपवास के कारण मृत्यु भी हो जाय तब भी नाड़ियों का क्षय नहीं होता। अंग्रेजी में एक कहावत है—'A man is as old as his arteries.' अर्थात् मनुष्य की आयु की माप उसकी नाड़ियाँ हैं। हमारी आयु हमारी नाड़ियों की शक्ति पर निर्भर है। जरावस्था या बुढ़ापा जिसका नाम है उसमें नाड़ियों के भीतर बहुत-सा काला और कड़ा तलछट सञ्चित हो जाता है। अस्वाभाविक आहार-विहार से रक्त में अनेक विष तैरने लगते हैं। मनु ने जो आचार-दोष, अन्न-दोष और आलस्य के कारण मृत्यु का आक्रमण होना लिखा है उसमें शत-प्रतिशत वैज्ञानिक सत्य है।* इस प्रकार की स्नायु-जड़ता योगविद्या में है। अर्वाचीन विज्ञान में भी शुद्ध आहार और प्राकृतिक जीवन और रक्त की विषाक्तता† को हटाना मृत्यु के आक्रमण से बचना

* अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति।

† स्नायु-जड़ता—Ossification, Arterio sclerosis, hardening of the arteries by induration.
विषाक्तता—Poisoning of the blood-stream.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। प्राचीन भारतीय परिभाषा में इन सब उपायों के योग में अन्तर्भाव से आयु और स्वास्थ्य की प्राप्ति के अनेक उपायों का आविष्कार किया गया। अधिक-से-अधिक मात्रा में प्राण-शक्ति का शरीर के द्वारा अनुभव करना यही दोनों का लक्ष्य है। आसनों के द्वारा नस-नाड़ियों की शुद्धि और प्राणायाम के द्वारा शरीरस्थ मलों का नाश दोनों ही जरावस्था को दूर करते हैं। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं के मल दग्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राण को रोकने से इन्द्रियों के दोष शान्त हो जाते हैं—मनु की उस उक्ति में वास्तविक सत्य है। प्राणायाम के द्वारा शरीर की जो शुद्धि होती है वह अन्य प्रकार से सम्भव नहीं। रंग का निखर जाना, स्वर का सुधर जाना, पाचन-शक्ति का नियमित हो जाना और श्वास में तथा मुख में सुगन्धि का आना—ये सब योग के लक्षण कहे गए हैं। अर्वाचीन विज्ञान के अनुसार प्राकृतिक जीवन, उपवास, दुग्ध, फल, शुद्ध वायु, सूर्य की उन्मुक्त धूप आदि का सेवन शरीर को पुनः स्वस्थ करने के सर्वोपरि साधन हैं। रेडियम के द्वारा नाड़ी-चिकित्सा की विधि अथवा हिरण्यमय पदार्थों (Radic-active elements) से शरीर के संचित दोषों की प्रतिक्रिया का उद्देश्य भी वही है जो प्राण-चिकित्सा का है। वैदिक साहित्य में प्राण और वीर्य को अमृत कहा गया है। वीर्य या रेत से बढ़कर शरीर को पवित्र बनानेवाला अन्य कोई हिरण्यमय (Radio-active) तत्त्व नहीं है—

रेतो हिरण्यम्। (तै० ३।८।२।४)

इसीलिए ब्रह्मचर्य योग-साधन का मूलमंत्र कहा गया है। शरीर के भीतर पचाया हुआ रेत सूक्ष्म से सूक्ष्म कोष को शुद्ध करता हुआ उसे चेतना और स्फूर्ति देता है। वह रोम-रोम में भिद कर हमारी नाड़ियों में अपूर्व विद्युत् और आकर्षण का संचार करता है। विद्युत्, प्राण या ओज का अनुभव अमृत का अनुभव है। प्राण और जीवन की संप्राप्ति शुद्ध वायु,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जल, एवं सूर्य की रश्मियों पर निर्भर है। सूर्य की उपासना प्रकाश या अमृत की उपासना है। कहा है—

उद्यन् सूर्यो मर्त्येभ्योऽमृतं रश्मिभिरातनोति।

अर्थात् निकलता हुआ सूर्य अपनी किरणों से मरनेवालों के लिए अमृत बखेरता है। वैदिक दृष्टि से संसार मृत्यु और अमृत के सम्मिलन से बना है। दिन अमृत, रात्रि मृत्यु का रूप है। दिन में भी प्रातःकाल अमृत और मध्याह्न के बाद का समय मृत्यु का रूप है। इसका साक्षात् प्रमाण यह है कि प्रातःकाल के सूर्य में प्रकाश की किरण और सायंकाल के सूर्य में ताप की किरण बलवती होती है। प्रकाश और ताप (Light-Heat) इन्हीं दोनों में सूर्य-रश्मियों का आविर्भाव है। प्रकाश की किरणें नीली, सूक्ष्म और जीवनप्रद होती हैं। ताप की किरणें लाल, लम्बी और जीवन का क्षय करनेवाली होती हैं। यही नील-लोहित इन्द्र-धनुष है—

स धनुरादत्त, तदेवेन्द्रधनुः।
नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्।
(अथर्व० १५।१।७)

वैज्ञानिक भाषा में कहें तो अल्ट्रा-वॉयलट और इन्फ्रारेड (पर-नील और पर-लोहित) के बीच का रश्मिपट्ट (स्पेक्ट्रम) ही वह धनुष है, जो जीवन और मृत्यु का विधायक बना हुआ है। वह जिसकी चिकित्सा करना चाहता है उसे नील रश्मियों से ढक देता है; जिसका नाश करना चाहता है उसे लोहित रश्मियों से बींध डालता है। नील और लोहित ज्ञान और कर्म के प्रतीक हैं। इन्हीं के नामान्तर समाधि और व्याधि है। नील से शान्ति और लोहित से क्षोभ प्रकट होता है। इसीलिए ध्यान से हम शान्ति, अमृत और शक्ति की ओर अग्रसर होते हैं; कर्म से क्षोभ, मृत्यु और व्याधि की ओर जाते हैं। योग का पर्यवसान ध्यान और समाधि है। चित्त की वृत्तियों का निरोध योग कहा गया है। चित्त को नाना प्रकार

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

की खंडित वृत्तियों में बाँटने से हम शक्ति और प्राण का अपव्यय करते हैं। प्राण का क्षय मृत्यु की प्राप्ति है। प्राण की रक्षा ही अमृत की प्राप्ति है। जिस मात्रा में हम अमृत पर अधिकार कर लेते हैं उसी मात्रा में मृत्यु हमारे जीवन से दूर हट जाती है—

अमृतान्मृत्युः निवर्तते। (श० १०।२।६।१६)

अमृत और सोम

मनुष्य की कल्पना है कि देवता अमृत पीकर अमर हो गए हैं। देवों को अमृतप्राशन या अमृत खानेवाला कहा गया है। देवों ने सोम पिया और अमर हो गए—

अपाम सोमममृता अभूम।

मनुष्य भी यदि सोम पी सके तो अमर बन सकता है। वैदिक परिभाषा के अनुसार रेत की संज्ञा सोम है। शरीर में रेत के पाचन से अमरपन मिलता है। प्राण की संज्ञा सोम है। प्राण की रक्षा से अमृतत्व प्राप्त होता है। सोम की एक संज्ञा मधु है। जितना माधुर्य या मिठास है वह सोम है। शरीर का प्रत्येक घटक कोष (Cell) अपने भीतर मधु या सोम का संचय रखता है। जब मधु-संचय की यह शक्ति अस्त-व्यस्त हो जाती है और कोषों का मधु छीजने लगता है तभी शरीर के कोषों को मृत्यु अभिभूत कर लेती है। शरीर में विष (Toxins) के संचय से मधु-संचय की प्रक्रिया बिगड़ जाती है। शरीरस्थ कोषों के निर्विषीकरण (detoxination) से पुनः सोम पीने या मधु को शरीर में पचाने की शक्ति उत्पन्न होती है। सोमपान ही अमृतपान है। शरीरस्थ सूक्ष्मतम रस (Cerebro-spinal fluid) हमारे भीतर सोम या अमृत है, जो केन्द्रीय नाड़ी-जाल का सिंचन करता है, जिससे मस्तिष्क की सूक्ष्मातिसूक्ष्म शिराएँ पुष्ट और शुद्ध होती हैं। इस सोमपान से शरीर के भीतर जो पृथक्-पृथक् इन्द्रियों के देवता हैं वे अमर बनते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अमृत और देवता

अधिदैव जगत् में जो नित्य पदार्थ हैं, उनके अनुकूल जो जीवन-क्रम है उसे अमृत-जीवन कहा गया है। सूर्य और चन्द्र, वायु और जल इनका जीवन अमर है। मनुष्य के जीवन का अन्त कर डालनेवाली मृत्यु इन विराट् शक्तियों पर आक्रमण नहीं करती। सृष्टि के आदि से अन्त तक सूर्य का जीवन उसी प्रकार एकरस और प्राणमय बना रहता है। अमर बनने के लिये आवश्यक है कि हम उस दैवी प्राण की उपासना करें जो सूर्य और चन्द्रमा में हैं, अर्थात् जो विराट् है एवं मृत्यु से अतीत है। वह दैवी प्राण कहलाता है जो कभी व्यथित नहीं होता, जो कभी नहीं रिसता—

स वै दैवः प्राणः यो न व्यथतेऽथो न रिष्यति।
(श० १४।४।३।६।२)

इसीलिए अमृत-प्राप्ति का एक आवश्यक विधान यह है कि हम सृष्टि की विराट् शक्तियों के साथ सम्पर्क प्राप्त करें। ये विराट् शक्तियाँ देव हैं। मनुष्यों से जिसका सम्बन्ध है वह मर्त्य या परिमित है। देवों से जिसका सम्बन्ध है वह अमृत और अपरिमित बन जाता है। उदाहरणार्थ मनुष्य की आयु केवल सौ वर्ष है, अतएव परिमित और मर्त्यभाव से युक्त है। सूर्य आदि देव कल्पान्त तक एकरस रहते हैं, वे अमर हैं। मनुष्य के भीतर स्वल्प प्राण रहता है, जो मर्त्य है। सूर्य में अनन्त प्राण-शक्ति है, उस पर मृत्यु का हमला नहीं हो सकता, इसलिए वह अमर है। मनुष्य के पास भी यदि प्राण का अखंड और अक्षय्य स्रोत हो जाय तो वह भी अमृत का उपभोग कर सकता है। इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने मन को विराट् भाव से युक्त बनाना चाहिए। बहते हुए जल के साथ जो तरङ्गित हो सकता है, स्वच्छन्द वायु में जो विहार कर सकता है, सूर्य-प्रकाश में खुले हुए आकाश के नीचे जो गहरी साँस ले सकता है उसने मानो जीवन की क्षुद्र चारदीवारी के बाहर विराट् के साथ तन्मय होने का मन्त्र जान लिया है। अमृत जीवन के लिये

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नदियों के मुक्त जल में स्नान करने का, फूँस की कुटियों में रहने का महत्त्व राजप्रसाद के घिरे हुए जीवन से कहीं अधिक है। हमारे परम्परा-प्राप्त राष्ट्रीय जीवन में इस प्रकार की जो अनेक विशेषताएँ हैं और वार्षिक तिथिक्रम में प्रकृति के साथ मिलकर विचरने की जो सनातन योजनाएँ हैं उनका अध्ययन और पुनरुद्धार होना अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय नीलाम्बर के नीचे मलयानिल के साथ स्वच्छन्द सुपर्णों की तरह हमारे पूर्वजों ने जो रहना सीखा था उस अमूल्य जीवन-क्रम से पराङ्मुख हो जाना मृत्यु का आवाहन करना होगा।

आयु-सूत्र

हमारे अन्दर जो आयुसूत्र है उसकी पूर्णता को ऋषियों ने अमृत कहा है। अर्थात् यदि हम सौ वर्ष की आयु तक देखते और सुनते हुए, बोलते और साँस लेते हुए, स्वस्थ और बलिष्ठ होकर जीवित रहें तो मानों हमने अमर जीवन को पा लिया—

एतद्वै मनुष्यस्य अमृतत्वं यत्सर्वमायुरेति।
(श० ६।५।१।१०; तांड्य २४।१६।२)

अर्थात् सारी आयु तक हम जीवित रहें, यही हमारा अमृतपना है। मनुष्य की आयु एक यज्ञ है—

आयुर्यज्ञेन कल्पताम्।

हम चाहते हैं कि हमारी आयु में यज्ञ का भाव उत्पन्न हो, अर्थात् यह यज्ञ कहीं पर खंडित न हो। जैसे यज्ञ प्रातः, माध्यंदिन और सायंसवन के बाद पूर्ण होता है वैसे ही हमारी आयु भी पूर्ण हो यही दैवी विधान है। यज्ञ का बीच में खंडित होना आसुरी कहा जाता है। मनुष्य-जीवन में अमृत की कल्पना करनेवाले मनीषी यह जानते थे कि मानव-जीवन की स्वाभाविक मर्यादा सौ वर्ष की है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शतायुः पुरुषः । (तांड्य २५।८।३)

सौ वर्ष की अवधि तक आयु के यज्ञ का चलते रहना ही दैवी विधान के अनुकूल है—

यावदेवायुस्तदवरुन्धते । न ह्यत्यायुषँ सत्रमस्ति ।

जब तक आयु है तब तक उसका उपभोग है। आयु के बाद यज्ञ चालू नहीं रह सकता ।

इस दृष्टि से सौ वर्ष तक स्वस्थ जीवन का निर्वाह मनुष्य कर सके यही अमृत की प्राप्ति है—

य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतद-मृतमाप्नोति । (श० १०।२।६।८)

जो सौ वर्ष तक या उससे अधिक जीता है वह अमृत पा लेता है। सौ वर्ष की आयुष्य-मर्यादा के आधार पर ही चार आश्रमों का सुन्दर विधान रचा गया है। इस शत सांवत्सरिक जीवन में मुख्य बात है आयु का सूत्र। आयु नाम है ओजस्वी, बलिष्ठ जीवन का। केवल जिस किसी तरह घिसटते रहकर जीते रहने का नाम आयु नहीं है। सैकड़ों मनुष्य ऐसे हैं जो साँस तो लेते हैं पर जीवित नहीं हैं। उनमें प्राण की धारा का लोप हो चुका है। उनका उत्साह और मानसिक तेज क्षीण हो गया है। उस जीवन को आयु नहीं कहा जा सकता। शत-प्रतिशत जीवन की अनुभूति ही वास्तविक आयु है, उसी का नाम अमृत है। जहाँ मन और प्राण का तेज जीर्ण नहीं हुआ, वहीं जीवन या अमृत का निवास समझना चाहिए। मनुष्य शरीर से मर्त्य होते हुए भी प्राण और मन से अमृत है। अमृत की प्राप्ति मनुष्य के लिये इसी जीवन में सम्भव है। प्रकृति में जो अमृत के स्रोत हैं उनकी उपासना करने से हम मृत्यु को वशीभूत करके अमृत का अनुभव करते हैं।

अमृत और प्राण

विश्व में जो प्राण के स्रोत हैं वे ही अमृत की प्राप्ति के स्थान हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अमृत कहाँ मिलता है, इस प्रश्न का उत्तर यही है—जहाँ-जहाँ प्राण हैं वहीं-वहीं अमृत है। अमृत को सच्चे अर्थों में प्राण का पर्याय कह सकते हैं—

अमृतमु वै प्राणाः। (श० ६।१।२।३२)

जिस वस्तु में और जिस मनुष्य में प्राण की जितनी अधिक मात्र होगी उसमें अमृत भी उतना ही अधिक समझना चाहिए। अर्वाचीन विज्ञान में विटामिन की खोज प्राणतत्व की खोज है। विटामिन क्या पदार्थ है, इसके स्वरूप की निश्चित मीमांसा नहीं की जा सकती। परन्तु वह अवश्य ऐसा तत्त्व है जिसकी सत्ता जीवन के लिये परम उपयोगी और अति आवश्यक है। ताजे शाक और फलों में, शुद्ध दूध और जल में यही प्राण-शक्ति अधिक मात्रा में पाई जाती है। इसीलिए जीवन के लिए इनका अधिक महत्त्व है। कमरे में बन्द होने के कारण जिस वायु का संचार रुक गया है, सरोवर में सीमित होने के काण जिस जल का प्रवाह बँध गया है, उससे प्राण की धारा का संपर्क लुप्त होने के कारण जीवनी-शक्ति उतनी ही मात्रा में कम हो जाती है। यज्ञ की भाषा में कहें तो बहते हुए जल में मित्र का आधिपत्य रहता है। ठहरे हुए जलों में वरुण अपना घेरा डालकर आसुरी भाव उत्पन्न कर देते हैं। मित्र का संबंध देवों से है, वरुण का असुरों से। जहाँ आसुरी भाव रहता है वहाँ क्षुद्रता और दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है। शरीर में जो शुद्ध रक्त का प्रवाह है वह मित्र देवता के साथ संबद्ध है। अतएव वह दिव्य, और अमृत है। जहाँ शुद्ध रक्त का संचार नहीं हो पाता वहीं मवाद या सड़न उत्पन्न हो जाती है। यही वरुण का आसुरी भाव है। असुरों में मृत्यु का भाव है। उसी व्रण को शल्य या औषध के द्वारा जब प्राणमय रक्त के प्रवाह से संयुक्त कर देते हैं तब वह स्थान भी शरीर के अमृत-चक्र के साथ जुड़ जाता है। शरीर के भीतर शुद्ध और अशुद्ध रक्त तथा अन्य समस्त धातुओं के स्नायु-संस्थान हैं। शुद्ध रसों का प्रवाह करनेवाली धमनियाँ अमृत की प्रणाली हैं। अशुद्ध रसों के स्रोत मृत्यु के निवासस्थान हैं। मृत्यु को अमृत में परिणत करने की क्रिया शरीर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

में प्रति क्षण चलती रहती है। बाहर विश्व में हमारे चारों ओर भरा हुआ जो अमृत या प्राण का भंडार है इससे हम अमृत पीकर या प्राण को अपने अन्दर पचाकर शरीरस्थ मृत्यु का निराकरण करते हैं। हमारे शरीर की रचना इसी मौलिक आधार पर खड़ी हुई है। फेफड़ों के द्वारा शुद्ध वायु के संसर्ग से रक्त के दोषों को दूर करने की क्रिया मानव के लिए कितनी महत्वपूर्ण है! यह अमृत और मृत्यु का सनातन द्वन्द्व है जो हमारे अस्तित्व के लिए परम आवश्यक है। इसीलिए वैदिक विज्ञान की दृष्टि से यह कहा जाता है कि अमृत और मृत्यु दोनों एक साथ हमारे शरीर में रहते हैं। दोनों के कार्य और क्षेत्र अलग-अलग बँटे हुए हैं। उसमें जब गड़बड़ी हो जाती है तभी रोग उत्पन्न होता है, अर्थात् प्रकृति का सुन्दर प्रवर्तित चक्र बिगड़ जाता है। इसी का परिणाम मृत्यु है। यह सनातन वैज्ञानिक सत्य है कि सत्य और अनृत, श्री और पाप, ज्योति और तम, इनके मार्ग अलग-अलग हैं। दोनों को प्रजापति ने एक ही शरीर में रहने का स्थान दिया है। परन्तु हमारी बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम इनका संकर कभी न होने दें—

न इत् ज्योतिश्च तमश्च संसृजावेति। (श० ५।१।२।१८)

अमृत के साथ मृत्यु का संकर ही मृत्यु का आवाहन है।

अमृत और अश्विनी

अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य हैं। वे मृत्यु को हमसे परे हटाते हैं—

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः।
(अथर्व ७।५३।१)

कथा है कि बूढ़े च्यवन ऋषि को अश्विनीकुमारों ने चिकित्सा करके फिर से युवा बना दिया था। च्यवन क्या है, और अश्विनीकुमार कौन हैं? हमारी शरीरस्थ प्राण-शक्ति (metadolic force) बाल्पन में अत्यन्त शक्तिशाली रहती है। उस समय उसकी संवर्धनात्मक प्रवृत्ति (anabolic

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

rate) क्षयात्मक प्रवृत्ति (katabolic rate) से अधिक बलवती रहती है। यौवन में ये दोनों बराबर तुली रहती हैं। आयु के तीसरे भाग या वृद्धावस्था में क्षयधर्म उग्र हो जाता है। यह अवस्था ह्रास या घटने की है। इसी का नाम च्यवन अवस्था है। शरीर में जब च्यवन-धर्म घर कर ले, शरीर की शक्तियाँ बढ़ने के स्थान में घटने लगें, तब उसकी प्रतिक्रिया तीन उपायों से हो सकती है—१ आसुरी, २ मानुषी, ३ दैवी। शल्य चिकित्सा या ग्रन्थियों की चीरफाड़ के द्वारा जरा को हटाने का उपाय आसुरी इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह स्वल्पकाल तक ही फल देता है। इससे शरीर को कुछ काल के लिये ही पुनर्यौवन प्राप्त हो सकता है। ओषधिवनस्पति आदि के द्वारा जो चिकित्सा-विधि है वह मानुषी विधान है। पृथिवी पर नाना प्रकार की वीर्यवती ओषधियाँ हैं। अमृता, रुद्रवन्ती, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, गोरखमुंडी आदि ओषधियों में सूर्य-रश्मियों से संचित प्राणशक्ति निहित है। उनके सेवन से पुनर्यौवन की प्राप्ति संभव है। परन्तु इससे भी उत्कृष्ट दैवी उपाय योग उपासना या प्राणचिकित्सा है। प्राण और अपान ही देवों के वैद्य हैं जो हर एक शरीर में विद्यमान हैं। प्राण-चिकित्सा से मन और शरीर का जो पुनर्निमाण हो सकता है वह अन्य किसी प्रकार से संभव नहीं। अश्विनीकुमार ही सच्चे रूप में च्यवन या क्षयिष्णु मनुष्य को फिर से युवा बनाकर अमृत का भोगी बना सकते हैं। ऊर्जित प्राण का अधिपति मनुष्य ही कह सकता है—

न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन। (ऋ० १०।४८।५)

अर्थात्, मैं कभी भी मृत्यु के लिये नहीं बना।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

६. पुरुष प्रजापति

भगवान् वेदव्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचन है, जो उनके समस्त ज्ञान-विज्ञान का मथा हुआ मक्खन कहा जा सकता है। उन्होंने लिखा है—

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'

जो गुह्य तत्त्वज्ञान है, जो अव्यक्त ब्रह्म के समान सर्वोपरि और सर्वव्याप्त अनुभव है, वह मैं तुम से कहता हूँ—मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। सचमुच अनंन्त शाखा-प्रशाखाओं से वेद का गुह्य संदेश यही है कि प्रजापति की सृष्टि में मनुष्य प्रजापति के निकटतम है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् (शत० ४।३।४।३।)

पुरुष प्रजापति के निकटतम है। निकटतम का तात्पर्य यही कि वह प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, प्रजापति का तद्वत् रूप है। प्रजापति और उसके बीच में ऐसा ही सान्निध्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा प्रतिरूप अर्थात् असल रूप और अनुकृति में होता है। प्रजापति मूल है, तो पुरुष उसकी ठीक प्रतिकृति है। प्रजापति के रूप को देखना और समझना चाहें तो उसके सारे नक्शे को इस पुरुष में देख और समझ सकते हैं। सत्य तो यह है कि पुरुष प्रजापति के इतना नेदिष्ठ या निकटतम या अन्तरङ्ग है कि विचार करने पर यही अनुभव होता है और यही मुँह से निकल पड़ता है कि पुरुष प्रजापति ही है—

पुरुषः प्रजापतिः (शत० ६।२।१।२३।)

जो प्रजापति के स्वरूप का ठाट या मानचित्र है, हूबहू वही पुरुष में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आया है। इसलिए यदि सूत्र रूप में पुरुष के स्वरूप की परिभाषा बनाना चाहें, तो वैदिक शब्दों में कह सकते हैं—

प्राजापत्यो वै पुरुषः (तैत्ति० २।२।५।३।)

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है। पुरुष साढ़े तीन हाथ परिमाण के शरीर में सीमित है, जिसे बाद के कवियों ने—

अहुठ हाथ तन सरवर
हिया कँवल तेहि माँह,

इस रूप में कहा है, अर्थात् साढ़े तीन हाथ का शरीर एक सरोवर के समान है, जो जीवनरूपी जल से भरा हुआ है और जिसमें हृदयरूपी कमल खिला हुआ है। जिस प्रकार कमल सूर्य्य के दर्शन से, सहस्ररश्मि सूर्य के आलोक से विकसित होता या खिलता है, उसी प्रकार पुरुष रूपी यह प्रजापति उस विश्वात्मा महाप्रजापति के आलोक से विकसित और अनुप्राणित है। प्रजापति आतप है तो यह पुरुष उसकी छाया है। जब तक प्रजापति के साथ पुरुष का यह सम्बन्ध दृढ़ है, तभी तक पुरुष का जीवन है। प्रजापति के बल का ग्रन्थिबन्धन ही पुरुष या मानव के हृदय की शक्ति है। जो समस्त विश्व में फैला हुआ है, विश्व जिसमें प्रतिष्ठित है और जो विश्व में ओतप्रोत है, उस महाप्रजापति को वैदिक भाषा में संकेत रूप से 'सहस्र' कहा जाता है। वह सहस्रात्मा प्रजापति ही वैदिक परिभाषा में 'वन' भी कहलाता है। उस अनन्तानन्त 'वन' के भीतर एक-एक विश्व एक-एक अश्वत्थ वृक्ष के समान है। इस प्रकार के अनन्त अश्वत्थ उस सहस्रात्मा 'वन' नामक प्रजापति में हैं। उसके केन्द्र की जो धारा सृष्ट्यन्मुख होकर प्रवृत्त होती है, उसी मूलकेन्द्र से केन्द्रपरम्परा विकसित होती हुई पुरुष तक आती है। केन्द्रों के इस वितान में पूर्वकेन्द्र की प्रतिमा या प्रतिबिम्ब उत्तर के केन्द्र में आता है। इस प्रकार जो सहस्रात्मा प्रजापति है, वही मूल से तूल में आता हुआ ठीक-ठीक अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इस पुरुष में अवतीर्ण होता है और हो रहा है। वैदिक महर्षियों ने ध्यान-योगानुगत होकर उस महान् तत्त्व का साक्षात्कार किया और सृष्टिपरम्परा का विचार करते हुए उन्हें यह साक्षात् अनुभव हुआ कि यह जो पुरुष है, वह उसी सहस्रात्मा प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है—

पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा (शत० ७।५।२।१७)

जो सहस्र प्रजापति है, उसी के अनन्त अव्यक्त स्वरूप में किन्हीं अचिन्त्य अप्रतर्क्य बलों के संघर्षण से या ग्रन्थिबन्धन से या स्पन्दन से सृष्टि की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है। किसी भी प्रकार की शक्ति या वेग हो, उसके लिए बलग्रन्थि आवश्यक है। बिना बलग्रन्थि के अव्यक्त व्यक्तभाव में, अमूर्त्त मूर्त्तरूप में आ ही नहीं सकता। शुद्ध रसरूप प्रजापति में अमितभाव की प्रधानता है, उसमें जब तक मितभाव का उदय न हो, तब तक सृष्टि की सम्भावना नहीं होती। प्रजापति के केन्द्र से जिस रस का वितान या विस्तार होता है, वह यदि बाहर की ओर ही फैलता जाए तो कोई ग्रन्थि-सृष्टि संभव नहीं। वह रस परिधि की ओर फैल कर जब बल के रूप में केन्द्र की ओर लौटता है, तब द्विविरुद्ध भावों की टक्कर से स्थिति और गति या गति और आगतिरूप स्पन्दन का चक्र जन्म लेता है। स्पन्दन का नाम प्रजापति है। स्पन्दन को वैदिक परिभाषा में छन्द कहतेहैं। जो छन्द है, वही प्रजापति है। किसी भी प्रकार की फड़कन का नाम छन्द है। सारे विश्व में द्विविरुद्ध भाव से समुत्पन्न जहाँ जहाँ छन्द या फड़कन है, वहीं प्रजापति के स्वरूप का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। अतएव यह महान् सत्य सूत्ररूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया—

'प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्' (शत० ८।२।३।१०)

सृष्टि की महती प्रक्रिया में अनेक लोकों में अनेक स्तरों पर प्रजापति के इस छन्द की अभिव्यक्ति हो रही है। उसी छन्दोवितान में सहस्रात्मा प्रजापति पुरुषरूप में अभिव्यक्त होता है। सूर्य भी उसी केन्द्रपरम्परा का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एक बिन्दु है। ऐसे पूर्वयुग की कल्पना करें, जब सब कुछ तमोभूत था, अलक्षण था और अप्रज्ञात था। उस समय रस और बल के तारतम्य से जो शक्ति का संघर्षण होने लगा, उसी संघर्षण के फलस्वरूप ज्योतिष्मान् महान् आदित्यों का जन्म हुआ। वैज्ञानिक भाषा में इसी को यों सोचा और कहा जा सकता है कि आरम्भ में शक्ति के समान-वितरण के फलस्वरूप एक शान्त समुद्र भरा हुआ था। शक्ति के उस शान्त सागर में न कोई तरंग थी, न क्षोभ था। किन्तु न जाने कहाँ से, कैसे, क्यों और कब उसमें तरंगों का स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस संघर्ष के फलस्वरूप जो शक्ति समरूप में फैली हुई थी उसमें केन्द्र या बिन्दु उत्पन्न होने लगे, जो कि प्रकाश और तेज के पुञ्ज बन गए। इस प्रकार के न जाने कितने सूर्य शक्ति की उस प्राक्कालीनगर्भित अवस्था में उत्पन्न हुए। वैदिकभाषा में व्यक्त की संज्ञा हिरण्य है, अव्यक्त अवस्था हिरण्यगर्भ अवस्था थी। समभाव से वितरित शक्ति की पूर्वावस्था वही हिरण्यगर्भ अवस्था थी, जिसमें यह व्यक्त हिरण्यभाव समाया हुआ था। आगे का व्यक्तभाव उसी पूर्व के अव्यक्त में लीन था। यदि सदा काल तक शक्ति की वही साम्यावस्था बनी रहती तो किसी प्रकार का व्यक्तभाव उत्पन्न ही न होता। शक्ति के वैषम्य से ही महान् आदित्य-जैसे केन्द्र या बिन्दु उस शान्त शक्ति-समुद्र में उत्पन्न होने लगे। पहिली शान्त अवस्था के लिये वेद में संयती शब्द है और दूसरी व्यक्तभावापन्न क्षुब्ध अवस्था के लिये क्रन्दसी शब्द है। संयती शान्त आत्मा है। क्रन्दसी क्षुभित आत्मा है। शक्ति के उस समुद्र में जो क्षुभितकेन्द्र उत्पन्न हुए, उन्हीं की संज्ञा सूर्य हुई। हमारे सौर-मण्डल का सूर्य भी उन्हीं में से एक है। प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्रात्मा प्रजापति की प्रतिमा है और वह भी ऐसी प्रतिमा है जो विश्वरूप है, जिसमें सब रूपों की समष्टि है, जिसके मूलकेन्द्र से सब रूपों का निर्माण होता है। उसी के लिए कहा है—

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।

(यजुः १३।४१)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शक्ति के शान्त महासमुद्र में जो आदित्य उत्पन्न हुआ, वह प्रजापति का शिशुरूप था। उसके पोषण के लिए पय या दुग्ध की आवश्यकता थी। यह कौन-सा पय था, जिसने उस आदित्य को पुष्ट किया? ब्राह्मणों की परिभाषा के अनुसार प्राण ही वह पय या दुग्ध है, जिससेआदित्यरूप उस शिशु का सम्वर्धन होता है। विराट् प्रकृति में सौरप्राणात्मक स्पन्दन या प्राणनक्रिया के द्वारा ही वह विश्वरूप आदित्य जीवनयुक्त है अर्थात् स्वस्वरूप में स्थित है। वह अपने से पूर्व की कारणपरम्पराओं का पूर्णतम प्रतिनिधि है। इसीलिए उसे सहस्र की प्रतिमा कहा गया है। हमारा जो दृश्यमान सूर्य है, वह उन्हीं महान् आदित्यों की केन्द्रपरम्परा में एक विशिष्ट केन्द्र है अथवा उनकी तुलना में यह शिशुमात्र है। इसीलिये वैदिकभाषा में—

द्रप्सश्चस्कन्द—

कहा जाता है। अर्थात् शक्ति के उस पारावार-हीन महासमुद्र में जो शक्ति का प्रज्वलित केन्द्र उत्पन्न हुआ, वह इस प्रकार था, जैसे बड़े समुद्र से एक जलबिन्दु चू पड़ा हो। वह महासमुद्र जो कि वाष्परूप में था अथवा अव्यक्त था, उसी में से यह एक द्रप्स या बिन्दु व्यक्तभाव को प्राप्त हो गया है। यही वैदिक काव्य की भाषा है और यही विज्ञान की भाषा है। सब प्रकार की सीमाओं से ऊपर, सब प्रकार के गणितीय निर्देशों से परे जो शक्ति तत्त्व है, जहाँ किसी प्रकार के अङ्कों का संस्पर्श नहीं होता, जिसके लिये शून्य या पूर्ण ही एकमात्र प्रतीक है, उस अनन्त संज्ञक पूर्ण में से यह प्रत्यक्ष आदित्यरूपी एक बिन्दु प्रकट हुआ है और इसकी संज्ञा भी पूर्ण है। वह अदस् है, यह इदम् है। वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा सृष्टि से प्राक्कालीन अचिन्त्य और अव्यक्त तत्त्वों के लिये विज्ञान और वेद दोनों में समानरूप से प्रयुक्त होती है।

प्रकृत में हमारा लक्ष्य इसी पर है कि उस अनन्त प्रजापति के छन्द से ही पुरुष का निर्माण हुआ है। उस सहस्रात्मा प्रजापति की साक्षात्

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रतिमा पुरुष या मानव है। रस और बल के तारतम्य से पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि ये पाँच मुख्य पशु प्रकृति में प्राणदेवताओं के प्रतिनिधिरूप से चुन लिए गए हैं, यद्यपि समस्त पशुओं की संख्या अनन्तानन्त है। वैदिक परिभाषा के अनुसार जो भूतसृष्टि है, उसी की संज्ञा पशु या प्रजा है। यह भूतसृष्टि तीन प्रकार की है—

१—असंज्ञ—जैसे पाषाण आदि,
२—अन्तःसंज्ञ—जैसे वृक्ष आदि,
३—ससंज्ञ—जैसे पुरुष, पशु आदि।

इन तीनों में यह प्रातिस्विक भेद क्यों है? यह पृथक् विचार का विषय है। संक्षेप में असंज्ञ सृष्टि में केवल अर्थमात्रा की अभिव्यक्ति है। अन्तःसंज्ञ सृष्टि में अर्थमात्रा और प्राणमात्रा दोनों की अभिव्यक्ति है, और ससंज्ञ प्राणियों में अर्थ या भूतमात्रा, प्राणमात्रा एवं मनोमात्रा—इन तीनों की अभिव्यक्ति होती है। इन्हें ही भूतात्मा, प्राणात्मा और प्रज्ञानात्मा भी कहते हैं। प्रज्ञानात्मक जो सौर प्राण है, उसे ही इन्द्र कहते हैं। मानव या मनुष्य में इस सौर इन्द्रतत्त्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति है। अन्तःसंज्ञ वृक्ष—वनस्पतियों में वह प्रज्ञानात्मा इन्द्र मूर्च्छित रहता है। उनमें केवल प्राणात्मा या तैजस आत्मा का विकास होता है। जहाँ तेज या प्राण है, वहीं विकास है। बीज जब पृथिवी में जल, मिट्टी एवं पृथिवी की उष्णता के सम्पर्क में आता है, तत्क्षण उसमें विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। अतएव उपनिषदों में कहा गया है कि जो तैजस आत्मा है वह वृक्ष—वनस्पतियों में भी है, किन्तु प्रज्ञानात्मा का विकास केवल मानव में होता है। इस दृष्टि से मानव समस्त विश्व में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जिस प्रकार प्रजापति वाक्, प्राण, मन की समष्टि है, वैसे ही मानव भी वाक्, प्राण और मन तीनों की समष्टि का नाम है। अर्थ या स्थूल भूतमात्रा को वैदिक परिभाषा में वाक् कहते हैं। पञ्चभूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म होने के कारण

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सबका प्रतीक है और वाक् आकाश का गुण है। अतएव वाक् से उपलक्षित स्थूल भूतमात्रा या अर्थमात्रा का ग्रहण किया जाता है। मानव का शरीर यही भाग है। इसके भीतर क्रियारूप प्राणात्मा का निवास है और उसके भी अभ्यन्तर में मनोमय प्रज्ञानात्मा का निवास है। मन की ही संज्ञा प्रज्ञान है।

इस प्रकार प्रजापति और मानव इन दोनों में रूप–प्रतिरूप या बिम्ब–प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध है। पुरुष प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, इसका यह अर्थ भी है कि जिस प्रकार प्रजा-पति त्रिपुरुषपुरुष है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है। त्रिपुरुषपुरुष का तात्पर्य यह है कि प्रजापति नामक संस्था का निर्माण अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन तत्त्वों की समष्टि के रूप में होता है। इनमें से अव्यय दोनों का आलम्बन या प्रतिष्ठारूप धरातल है। अक्षर निमित्त है और क्षर उपादान है। अव्यय प्रजापति से मन, अक्षर से प्राण और क्षर से शरीरभाग का निर्माण होता है। इस प्रकार जो प्रजापति है, वही पुरुष है और पुरुष को प्राजापत्य कहना सर्वथा समीचीन है।

वैदिक दृष्टि के अनुसार पुरुष दीन-हीन दासानुदास या शरणागत प्राणी नहीं है, वह है प्रजापति के निकटतम उसकी साक्षात् प्रतिमा। सहस्रात्मा-प्रजापति का जो केन्द्र था, उसी की परम्परा में पुरुष-प्रजापति के केन्द्र का भी विकास होता है। जो सहस्र के केन्द्र की महिमा थी, वही पुरुष के केन्द्र की भी है। सहस्रात्मा वनसंज्ञक प्रजापति का केन्द्र प्रत्येक अश्वत्थ-संज्ञक प्रजापति में होता है, और वही विकसिक होता हुआ प्रत्येक सूर्य्य में और प्रत्येक मानव में अभिव्यक्त होता है। इसीलिये कहा जाता है कि जो पुरुष सूर्य्य में है, वही मानव में है। वैदिक भाषा में केन्द्र को ही हृदय कहते हैं। केन्द्र को ही ऊर्ध्व और नाभि भी कहा जाता है। केन्द्र ऊर्ध्व और उसकी परिधि अधः है। चक्र की नाभि उसका केन्द्र और उसकी नेमि उसका बाह्य या महिमा भाग है। केन्द्र से चारों ओर रश्मियों का वितान होता है। केन्द्र को उक्थ भी कहते हैं, क्योंकि उस केन्द्र से चारों ओर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रश्मियाँ उत्पन्न होती और फैलती हैं। इन रश्मियों को उक्थ की सापेक्षता से अर्क कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य्य से सहस्रों रश्मियाँ चारों ओर फैलती हैं, और फिर एक-एक से सहस्र-सहस्र होकर बिखर जाती हैं, यहाँ तक कि तनिक-सा भी स्थान उनसे विरहित या शून्य नहीं रह जाता और उनकी एक चादर—जैसी सारे विश्व में फैल जाती है, वैसे ही पुरुष के केन्द्र या उक्थ से अर्क या रश्मियों का विकास होता है—

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्,

अर्थात् केन्द्र की महिमा सहस्ररूप से व्यक्त होती है और फिर उसकी रश्मियाँ सहस्र-सहस्र रूप से बँट जाती हैं। जहाँ केन्द्र और परिधि की संस्था है, वहाँ सर्वत्र यही वैज्ञानिक नियम कार्य करता है। इस प्रकार जो पुरुष का आत्मकेन्द्र हृदय है, वह विश्वात्मा सहस्र या प्रजापति का ही अत्यन्त विलक्षण और रहस्यमय प्रतिबिम्ब है। ऐसा यह पुरुष प्रजापति की महिमा से महान् है। साढ़े तीन हाथ के शरीर में परिमित होते हुए भी यह त्रिविक्रम विष्णु के समान विराट् है। गीता में जो कहा है **'ईश्वरः सर्व-भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** वह इसी तत्त्व की व्याख्या है। वैदिक दृष्टि-कोण में सन्देह और अनास्था का स्थान ही नहीं है। यहाँ तो जो पूर्ण पुरुष है, जो समस्त विश्व में भरा हुआ है, वही पुरुष के केन्द्र या हृदय में भी प्रकट हो रहा है। वह पुरुष वामन भी कहा जाता है। विराट् प्राण की अपेक्षा सचमुच वह वामन है। यह जो मानव के केन्द्र या हृदय में वामन-मूर्त्ति भगवान् है इसे ही व्यान प्राण भी कहा जाता है। जो प्राण और अपान इन दोनों को संचालित करता और जीवन देता है। इस व्यान प्राण की शक्ति बड़ी दुर्धर्ष है। इसके ऊपर सौर जगत् के प्राण और पार्थिव जगत् के अपान इन दोनों का घर्षण या आक्रमण निरन्तर होता रहता है, किन्तु यह वामन मूर्त्ति विष्णु विराट् का प्रतीक है। यह किसी तरह पराभूत नहीं होता। यदि यह वामन या मध्यप्राण हमारे केन्द्र में न हो तो सौर और

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पार्थिव प्राण-अपान का प्रचण्ड धक्का न जाने हमारा किस प्रकार विस्रंसन कर डाले। उपनिषद् में कहा है—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥

जिस केन्द्र या मध्यस्थ प्राण में ऊर्ध्वगति प्राण और अधोगति अपान दोनों की ग्रन्थि है, उसकी पारिभाषिक संज्ञा व्यान है। उसी को यहाँ सांकेतिक भाषा में इतर कहा गया है। प्राण-अपान दोनों उसी के आश्रय से संचालित होते हैं। और भी—

'मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते'।

यह केन्द्र या मध्यप्राण या वामन इतना सशक्त और बलिष्ठ है कि सृष्टि के सब देवता इसकी उपासना करते हैं। इसी के दृढ़ग्रन्थिबन्धन या बल से इतर सब देवों के बल सन्तुलित होते हैं। यह वामनरूपी मध्यप्राण ही समस्त विश्व में अपनी रश्मियों से फैल कर विराट् या वैष्णवरूप धारण करता है। विष्णुरूप महाप्राण ही हृदयस्थ वामन के रूप में सब प्राणियों के भीतर प्रतिष्ठित है। इसी के लिये कहा जाता है—

'स हि वैष्णवो यद् वामनः' (शत० ५। २। ५४)

हृदयस्थ वामनरूपी विष्णु किसी प्रकार अवमानना के योग्य नहीं है। वही अविचाली सहज परिपूर्ण और स्वस्थभाव है। जो मानव इस केन्द्रस्थभाव में स्थिर रहता है, वही निष्ठावान् मानव है। जिसका केन्द्र विचाली है, कभी कुछ, कभी कुछ सोचता और आचरण करता है, वही भावुक मानव है। केन्द्र स्थिर हुए बिना परिधि या महिमामण्डल शुद्ध बन ही नहीं सकता। आत्मा, बुद्धि, मन और शरीर इन चारों विभूतियों में आत्मा और बुद्धि की अनुगत स्थिति का नाम निष्ठा है और मन एवं शरीर की अनुगत स्थिति का नाम भावुकता है। प्रायः निर्बल संकल्प-विकल्प वाले मनुष्य मन और शरीरानुगत रहते हुए अनेक व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जो बुद्धि मन को अपने वश में कर लेती है, उसी को वैदिक भाषा में मनीषा कहते हैं। जिस अविचाली अटल बुद्धि में पर्वत के समान ध्रुव या अटल निष्ठा होती है, उसे ही धिषणा कहते हैं। वैदिक भाषा में इसी अश्माखण प्राण के कारण इसे **"धिषणा पार्वतेयी"** कहा जाता है।

बारम्बार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारतीय मानव धर्मभीरु होते हुए भी सर्वथा अभिभूत क्यों है? उसका ज्ञान और कर्म इस प्रकार कुण्ठित क्यों बना हुआ है? इस प्रश्न का मानवोचित समाधान यही है कि भारतीय मानव अत्यन्त भावुक हो गया है। उसने अपना प्राचीन निष्ठाभाव खो दिया है। वह सारे विश्व के कल्याण के लिये सौम्यभाव से आकुल हो जाता है, किन्तु आत्मकेन्द्र की रक्षा नहीं करता। उसका अन्तःकरण सौम्य होते हुए भी भावुक होने के कारण पिब्दमान या पिलपिला रहता है। वह दृढ़ कर्म और विचारों में सक्षम नहीं बन पाता। उसमें धर्मभीरुता तो होती है, किन्तु आत्मसत्यरूपी धर्मात्मकता नहीं होती। आत्मनिष्ठा पर अध्यारूढ़ होना सच्ची श्रद्धा है। उसका भारतीय मानव में अभाव हो गया है। अतएव उसके स्वतन्त्र व्यक्तितित्व का विकास नहीं हो पाता। वह जिस किसी के लिये भी अपनी आत्मा का समर्पण तो करता है, किन्तु निष्ठापूर्वक ग्रहण कुछ भी नहीं करता।मनोगर्भिता बुद्धि से प्रवृत्त होनेवाला मानव ही निष्ठावान् मानव है। ऐसे मानव का स्वयं केन्द्र विकसित होता है। केन्द्र-बिन्दु का नाम ही मनु है। आत्मबीज का नाम ही मनु कहा जाता है। वह मनुतत्त्व जिस मानव में विकसित नहीं है, उसमें श्रद्धा का होना भी व्यर्थ है। श्रद्धा तो मनु की पत्नी है अर्थात् श्रद्धा मनुके लिये अशिति या भोग्य है। जिस समय आत्मकेन्द्र मनु तेजस्वी होता है, उस समय वह अपने ही आप्यायन या सम्वर्धन के लिये बाहर से श्रद्धारूपी अशिति या भोग्य प्राप्त करता है। मनु श्रद्धा का भोग करके ही पूर्ण बनते हैं। मनु और श्रद्धा की एक साथ परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही सत्य का स्वरूप है, अर्थात् सर्वप्रथम मानव का आत्मकेन्द्र उद्बुद्ध होना चाहिए। उसमें सौर प्राण या इन्द्रा–

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

त्मक ज्योति का पूर्ण प्रकाश आना चाहिए, तभी वह सच्चा मनुपुत्र या मानव बनता है और इस प्रकार आत्मकेन्द्र के उद्बुद्ध होने के बाद आत्म-चीज के विकास के लिये वह सारे विश्व से अपने लिये ग्राह्य अंश स्वीकार करता हुआ बढ़ता है। यही श्रद्धा द्वारा मनु का आप्यायन है। वैदिकभाषा में इसे ही यों भी कहा जाता है—**अशोतिभिर्महदुक्थमाप्यायते।**

केन्द्र या मनु 'महदुक्थ' है। उस महदुक्थ की तृप्ति या आप्यायन श्रद्धारूपी अशिति से होता है, जो उसे चारों ओर से प्राप्त होती है। इस प्रकार एक ही बात को कई रीति से कहा गया है। महदुक्थ और अशिति, मनु और श्रद्धा इन दोनों की एक साथ अभिव्यक्ति का नाम ही सत्य प्रतिष्ठातत्त्व है—

सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।

सत्य स्वयंप्रतिष्ठ होता है और सब कुछ सत्य का आधार पाकर प्रतिष्ठित बनता है। सत्य आग्नेय तत्त्व है, और श्रद्धा ऋत या स्नेह्य या आपोमय पारमेष्ठ्य तत्त्व है। सत्यपरायण बुद्धि सौर प्राण या इन्द्रतत्त्व को ग्रहण करती है। सूर्य्य की संज्ञा ही इन्द्र या रुद्र भी है। वेद की दृष्टि से अग्नि या शिव बड़े हैं, और सोम अग्नि का छोटा सखा है। सोम की आहुति अग्नि में पड़ती है, जिससे अग्नि सौम्य रहता है और अमृतधर्मा बनता है। यही प्रक्रिया मानव में भी निश्चित है। भावुकता सौम्यता का रूप है और निष्ठा आग्नेय प्राणात्मक बुद्धि का धर्म है। श्रद्धा का उद्गम मन में और विश्वास का उद्गम बुद्धि में होता है। विश्वास सौर तत्त्व और श्रद्धा आपोमय है। बुद्धि से भी परे और उससे भी उच्चतर तन्त्र का नाम आत्मा है—

यो बुद्धेः परतस्तु सः।

श्रद्धासमन्वित बुद्धि ही उस आत्मतन्त्र तक पहुँच सकती है।

अलौकिक परिपूर्ण मानव ही मनुष्य जाति का युग-युगों में आदर्श रहा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। गीता में इसी मानव को लक्ष्य करके 'पुरुषोत्तम' कहा है। इसे ही अंग्रेजी में सुपरमैन कहते हैं। प्रकृत मानव और महामानव का जो अन्तर है, वही मैन और सुपरमैन का है। वेदव्यास ने जो—

न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्—

इस लोकोत्तर सत्य का उद्घोष किया है, वह उसी महामानव, अति-मानव या लोकत्तरमानव के लिये है; न कि सर्वात्मना दीन-हीन और अशक्त बने हुए निर्बल मानव के लिये, जो परिस्थियों के थपेड़ों से पराभूत होता हुआ इधर-उधर लक्ष्यहीन कर्म करता रहता है। इस प्रकार का जो बापुरा मनुष्य है वह तो शोक का विषय है। वस्तुतः मानव का उद्देश्य तो अपने उस स्वरूप की प्राति है जिसमें विश्व का वैभव या समृद्ध्यानन्द और आत्मा का सहज स्वाभाविक उत्कर्ष या शान्त्यानन्द दोनों एक साथ समन्वित हुए हों। जो मानव इस प्रकार की स्थिति इसी जन्म में यहीं रहते हुए प्राप्त करता है, वही सफल श्रेष्ठतम मानव है। महाभारत के समस्त पात्रों में दो प्रकार के चरित स्पष्ट लक्षित होते हैं। एक वे हैं जो स्थिर धृति और दृढ़ निष्ठा से कभी च्युत नहीं होते और सदा दूसरों का उद्बोधन करते हुए देखे जाते हैं। दूसरे वे हैं जो भावुक हैं और बार बार उद्बोधन प्राप्त करने पर भी जो उसे विस्मृत कर देते हैं और असत् कर्म में प्रवृत्त होते हैं, या निष्ठा से विपरीत केवल भावुकतापूर्ण कर्म करते हैं। पहली कोटि के पात्रों में केवल चार की गिनती है—कृष्ण, व्यास, भीष्म और विदुर। इनके अतिरिक्त युधिष्ठिर, अर्जुन आदि धर्मपथ के पथिक भी अपनी भावुकता के कारण विषमभाव को प्राप्त हो जाते हैं और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के ज्ञान से कुछ समय के लिये शून्य या विचलित हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि, कर्ण-जैसे मानव तो एकदम असत् निष्ठा के लिये कर्म कर रहे थे। उनका तो अन्त में विनाश निश्चित ही था। महाभारत-जैसी लोकोत्तर धर्म-संहिता का लक्ष्य दुर्योधन कर्ण आदि पात्र नहीं हैं, क्योंकि वे अपने दुष्ट

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आग्रह को किसी भाँति त्याग नहीं सकते थे। महाभारत के लिये समस्यारूप में तो युधिष्ठिर और अर्जुन हैं, जो धर्मपथ पर आरूढ़ होते हुए भी और धर्मपरायण निष्ठा रखते हुए भी बार बार कर्त्तव्यपथ से च्युत होते हैं और विषम निष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं और अपने ध्येय को भूल कर कुछ का कुछ करने के लिये उतारू हो जाते हैं। कहाँ तो एक ओर अन्याय का प्रतीकार करने के लिये अर्जुन का युद्ध के लिये कृष्ण को सारथि बनाकर रणभूमि में आना कहाँ दूसरी ओर क्षणभर में ही युद्ध न करने के लिये भारी अवसाद को प्राप्त हो जाना। ऐसे ही युधिष्ठिर भी कई अवसरों पर आत्महत्या के लिये या सब-कुछ छोड़ कर वैराग्य-धारण करने के लिये तैयार हो जाते हैं। जिस व्यक्ति की निष्ठा ठीक है, जिसका आत्मकेन्द्र अविचलित है वह इस प्रकार की धर्मभीरु बातें नहीं कहेगा, जैसी अर्जुन या युधिष्ठिर ने कहीं जो ऊपर से देखने में तो तर्कसंगत और पण्डिताऊ जान पड़ती हैं, किन्तु जो आत्मनिष्ठ सत्य-धर्म की दृष्टि से नितान्त विरुद्ध हैं।

जिसे महामानव या अतिमानव या पुरुषोत्तम या लोकोत्तर मानव कहा गया है, जो व्यक्ति समाज, राष्ट्र और समस्त मानवजाति की दृष्टि से हमारा आदर्श है, उस श्रेष्ठमानव का इस विश्व में सच्चा स्वरूप क्या है? उसका निर्माण कैसे हुआ है? विराट् विश्व के कौन-कौन से तत्त्व उसके निर्माण में समाविष्ट हुए हैं? उसका केन्द्र और उसकी महिमा क्या है? विश्वात्मा षोडशी-प्रजापति और केन्द्र-प्रजापति का क्या सम्बन्ध है?—

कहने के लिये तो मानव का निर्माण छोटी-सी बात है, किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है यह मानव सहस्रप्रजापति की प्रतिमा है। अतएव मानव के स्वरूप का यथार्थज्ञान-विश्वस्वरूप की मीमांसा के बिना अथवा सहस्रात्मा प्रजापति के स्वरूपपरिचय के बिना संभव नहीं है। सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक विश्व की कोई प्रक्रिया ऐसी नहीं है जिसका प्रतिबिम्ब मानव में न हो। संक्षेप में इसका सूत्र यह है कि जो षोडशीप्रजापति है वही मानव के केन्द्र में बैठा हुआ मनुप्रजापति या आत्मबीज है। षोडशी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रजापति को ही त्रिपुरुष-पुरुष भी कहते हैं। अव्यय, अक्षर और क्षर ये ही सृष्टि के आधारभूत तीन पुरुष हैं, और चौथा इन तीनों से परे रहने वाला परात्पर पुरुष कहलाता है, जो सर्वथा अव्यक्त और अमूर्त्त है, किन्तु जिसकी स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया से यह सारा विश्व प्रवृत्त हो रहा है। इस प्रकार त्रिपुरुष समन्वित परात्पर पुरुष ही षोडशीप्रजापति का दूसरा नाम है। इन्हीं तीनों की विशेषताओं को और भी अनेक शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योंकि विश्व में भी वस्तुतः वे तीन ही नानाभावों को प्राप्त हो रहे हैं। उदाहरण के लिये अव्यय, अक्षर, क्षर का ही विकास मन, प्राण और भूत है। उन्हें ही जैसा पहले कहा गया है—प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा और भूतात्मा कहते हैं। इन्हीं तीनों से क्रमशः भावसृष्टि, गुणसृष्टि और विकारसृष्टिका जन्म होता है। इन तीनों में से प्रत्येक की पाँच-पाँच कलाएँ हैं अर्थात् अव्यय की पाँच कलाएँ, अक्षर की पाँच कलाएँ और क्षर की पाँच कलाएँ और इनसे अतिरिक्त स्वयं परात्पर पुरुष—इस प्रकार षोडशी प्रजापति कहलाता है। कहा है—

पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ।
यस्तद् वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ॥

क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीनों में शुद्ध आत्मा केवल अव्यय है। वह प्रकृतिसापेक्षता से ऊपर है। प्रकृति के दो रूप हैं—अव्यक्त और व्यक्त। व्यक्त रूप विश्व या क्षर है। प्रकृति का अव्यक्त रूप अक्षर—पुरुष कहा जाता है। उसे ही पराप्रकृति कहते हैं। उसकी तुलना में क्षर सृष्टि अपरा प्रकृति है। जो क्षर सृष्टि है वही भौतिक जगत् है। भूत प्रजाधार पर प्रतिष्ठित रहता है। प्राण के बिना भूत की स्थिति हो ही नहीं सकती। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियों से यही सत्य सिद्धान्त है। प्रत्येक भूत या पिण्डात्मक अर्थ प्राणरूप शक्ति का ही व्यक्त रूप है। भूत और प्रा। इन दोनों से ऊपर इनके भीतर समाविष्ट अव्यय—पुरुष है, जो विश्वसाक्षी,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

असङ्ग और अव्यक्तरूप है। वैदिक परिभाषाओं से प्रायः परिचय न होने के कारण उनके सान्निध्य में बुद्धि को व्यामोह होने लगता है। किन्तु जिस प्रकार विज्ञान की परिभाषाएँ सुनिश्चित और सार्थक हैं, उसी प्रकार वैदिक सृष्टिविज्ञान ने भी अपने अभिधेय अर्थ का प्रकाश करने के लिए सुनिश्चित परिभाषाशास्त्र का निर्माण किया था। उन पारिभाषिक शब्दों के द्वारा ही मन्त्रों में, ब्राह्मणों में और उपनिषदों में सृष्टिसम्बन्धी नाना तत्त्वों को स्पष्ट किया गया है। दुर्भाग्य से उस परम्परा से हम दूर हटते चले गए और ब्राह्मणग्रन्थों का पठनपाठन भी केवल यज्ञीय कर्मकाण्डों तक सीमित रह गया। वैसे तो ऋषियों की दृष्टि से उन्होंने ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः इन अर्थों को आद्यन्त भर दिया है, किन्तु वे स्रोतग्रन्थ भी आज दुरुह बने हुए हैं।

प्रजापति को चतुष्पात् कहा गया है। ओंकार उसका सर्वोत्तम गुह्य सकेत है। प्रणव भी चतुष्पात् है और प्रजापति की प्रतिमा मानव भी चतुष्पात् है। विश्व, विश्वकर्ता, विश्वसाक्षी, विश्वातीत इन चारों की ही संज्ञा क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अव्ययात्मा और परात्पर है और इन्हें ही म, उ, अ एवं अर्धमात्रा युक्त प्रणव के प्रतीक से प्रकट किया जाता है। 'विश्व क्या है' यहाँ से प्रश्नसूत्र का वितान करते हुए समष्टि और व्यष्टि रूप में पाञ्चभौतिक विश्व के मूलकारण की जिज्ञासा और उसका समाधान किया गया है। इसके उत्तर में उपनिषदों की प्रसिद्ध अश्वत्थविद्या का निरूपण है जो वैदिक सृष्टिविद्या का ही दूसरा नाम है। इस प्रसंग में कई प्राचीन परिभाषाएँ महत्वपूर्ण हैं। जैसे महावन = परात्पर, अश्वत्थरूपी महावृक्ष = अव्यय, इसे मायी महेश्वर भी कहते हैं।

इस अश्वत्थविद्या में अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म और क्षर को शुक्र भी कहा गया है। अव्यय अधिष्ठानकारण और भावसृष्टि का हेतु है, अक्षर निमित्तकारण और गुणसृष्टि का हेतु है, एवं क्षर उपादानकारण तथा विकारसृष्टि का हेतु है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मनुतत्त्व

अश्वत्थविद्या के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय मनुतत्त्व की व्याख्या है, जिसके कारण मानव मानव कहलाता है। मनुतत्त्व को ही अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और शाश्वतब्रह्म इन नामों से पुकारा जाता है, जैसा कि मनु के श्लोक में प्रसिद्ध है (मनुः १२।१२३)। अध्यात्मसंस्था के अन्तर्गत चार प्रकार के मनस्तन्त्र हैं—श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन और इन्द्रिय मन। ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं। इन चारों का सम्बन्ध चिदंश से है। उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते हैं। इनमें सृष्टि की जो मूलभूत कामना या काम है (कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्) वही सर्वजगत् के मूल में स्थित अतएव पुरुष के मूल में भी सर्वोपरि विराजमान हृद्य विश्वात्मा मन या हृदयभाव से युक्त काममय पुरुष ही श्वोवसीयस् मन है। यही पुरुषमन मौलिक मनुतत्त्व है जो सब का प्रशास्ता और सर्वान्तर्यामी है। इसी की ज्ञानमात्रा उत्तरोत्तर सुषुप्त्यधिष्ठाता सत्त्वमूर्ति महन्मन में, और वहाँ से इन्द्रियप्रवर्तक अशनाया-रूप सर्वेन्द्रिय मन में, और अन्त में नियतविषयग्राही इन्द्रियों के अनुगामी इन्द्रियमन में अवतीर्ण या अभिव्यक्त होती है। एक-एक इन्द्रिय का रूपरसघ्राण आदि नियत विषय इन्द्रियमन से गृहीत होता है। इसी को 'पंचेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि' कहा जाता है। फिर पांचों इन्द्रियों का अनुकूल—प्रतिकूल वेदनात्मक जो व्यापार है, वह सब इन्द्रियों में समान होने से सर्वेन्द्रियमन का विषय है। इसे अनिद्रिय मन भी कहा जाता है। जब चलते हुए किसी एक इन्द्रिय विषय का अनुभव नहीं होता, तब भी सर्वेन्द्रियमन अपना कार्य करता रहता है। भोगप्रसक्ति के विना भी विषयों का चिन्तन यही मन करता है। सुषुप्ति-दशा में अपने इन्द्रियप्राणों के साथ मन जब आनन्द की दशा में शान्त हो जाता है, जब सब इन्द्रियव्यापार रुक जाते हैं, वह तीसरा सत्त्वगुणसम्पन्न सत्त्वैकघन महान् मन कहा जाता है। उस सत्त्वमन से भी ऊपर चौथा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अव्ययमन या सृष्टि का मौलिक चिदंश पुरुषमन है जिसे श्वोवसीयस् मन कहते हैं और जिसका सम्बन्ध परात्पर पुरुष की सृष्ट्युन्मुखी कामना से है। वही अणु से अणु और महतो महीयान् है। केन्द्रस्थभाव मन है। वही उक्थ है। जब उसी से अर्क या रश्मियाँ चारों ओर उत्थित होती हैं तो वही परिधि या महिमा के रूप में मनु कहलाता है। यही मन और मनु का सम्बन्ध है यद्यपि अन्ततोगत्वा दोनों अभिन्न हैं।

स्वयम्भू स्वयं प्रतिष्ठित सृष्टि का मूलतत्त्व है। वह स्वयं विश्वसर्ग की क्रमधारा से परे रहता हुआ कभी किसी प्रकार अणुभाव में परिणत नहीं होता। उसे वृत्तौजा या वर्त्तु लाकार कहा गया है। किन्तु उससे ही जब सृष्टि की प्रवृत्ति आरम्भ होती है, तब त्रिवृत्भाव का विकास हो जाता है। त्रिवृत्भाव के ही नामान्तर मन, प्राण वाक् हैं। उनके और भी अनेक पर्याय वैदिक साहित्य में आते हैं। त्रिवृत् या त्रिक के उत्पन्न होते ही स्वयम्भू का एक केन्द्र तीन केन्द्रों में परिणत हो जाता है। इस त्रिकेन्द्रक सृष्टि का नाम ही अण्डसृष्टि है, जो कि ज्यामिति की परिभाषा में वृत्तायत आकृति-वाली अण्डाकृति होती है। यही वैदिक भाषा में त्रिनाभिचक्र है। स्वयम्भू के बाद सृष्टिक्रमधारा में पाँच अण्डों का जन्म होता है। उनमें पहला 'अस्त्वण्ड' है, जिसका सम्बन्ध परमेष्ठी या महान् आत्मा से है। स्वयम्भू से गर्भित परमेष्ठी त्रिवृत्भाव के प्रथम जन्म के कारण अण्डाकार बनता है। स्वयम्भू ने सर्वप्रथम कल्पना की कि यह सृष्टि उत्पन्न हो—

तदभ्यमृषत् अस्तु इति

इसी कारण यह पहला अण्ड अस्त्वण्ड कहलाया। स्वयम्भूब्रह्म को अपने गर्भ में रखने वाला परमेष्ठी का आपोमण्डल अस्त्वण्ड ही ब्रह्माण्ड कहलाता है। इसके बाद सूर्य से दूसरा हिरण्मयाण्ड उत्पन्न होता है। जैसा कहा जा चुका है कि व्यक्तभाव की संज्ञा हिरण्य है, अतएव हिरण्मयाण्ड का सम्बन्ध अस्ति या गर्भित अवस्था से नहीं वरन् उस अवस्था से

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है जब कि गर्भ आगे चलकर जन्म ले लेता है, अथवा अव्यक्त व्यक्तभाव में आ जाता है। पहली स्थिति या अस्त्वण्ड का सम्बन्ध अस्तिभाव से है। दूसरी का सम्बन्ध जायते या जन्म से है। जन्म के अनन्तर तीसरा भाव वर्द्धते अर्थात् वृद्धि से है। इसे ही पोषाण्ड कहते हैं जिसका सम्बन्ध भूपिण्ड या पृथ्वी से है। पुष्ट होने के अनन्तर परिपाक की अवस्था आती है जिसे विपरिणमते इस शब्द से कहा जाता है। इसे **यशोऽण्ड** कहते हैं। यह वस्तु का महिमाभाव है और इसका सम्बन्ध महिमा पृथ्वी से है। महिमा ही यश है। इसके अनन्तर प्रत्येक वस्तु क्षीण होने लगती है। वह अपक्षीयते अवस्था चन्द्रमा के विवर्त्त हैं और उसे **रेतोऽण्ड** कहा गया है। इन पाँच ब्रह्माण्डों की समष्टि ही विश्व है और विश्वरूपसमर्पक स्वयम्भूब्रह्म स्वयं विश्व-निर्माण करने के कारण विश्वकर्मा कहलाता है। महान् विश्व से लेकर यच्चयावत् जितने भूत या उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं उन सब में अस्ति, जायते, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते—ये पाँच भाव-विकार अवश्य होते हैं। एक एक बीज में प्रकृति का यही नियम चरितार्थ हो रहा है। स्वयं बीज अस्त्वण्ड है। उसमें से अंकुर का फूटना अर्थात् अव्यक्त विटप का व्यक्तभाव में आना हिरण्मयाण्ड है। भूपिण्ड से अपनी खूराक लेकर अंकुर का बढ़ना उसका पोषाण्डरूप है। फिर उस अंकुर का अपने सम्पूर्ण महिमाभाव को प्राप्त होकर पूरा वितान करना यह उस बीज का **यशोऽण्डरूप** है। दिक्चक्रवाल को व्याप्त करके जो महान् वटवृक्ष देखा जाता है, वह अति सूक्ष्म उसी वटबीज की महिमा या यश है। सर्वथा विपरिणाम या परिपाक के बाद प्रत्येक शरीर में अपने ही जैसा उत्पन्न करने की एक शक्ति आती है, उसी का घनीभूत रूप रेत या बीज है। यही **रेतोऽण्ड** अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त करते ही प्रत्येक शरीर क्षयोन्मुख होने लगता है। यही अपक्षीयते–स्थिति है। ये पाँचों अण्ड व्यक्तभाव के ही परिणाम हैं। अव्यक्त जब कभी व्यक्तभाव को प्राप्त करेगा उसे पाँच भावविकारों की क्रमिक स्थिति प्राप्त करनी होगी। शतपथब्राह्मण

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

की यह अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है। यह विषय अत्यन्त गूढ़ और क्लिष्ट है, किन्तु सृष्टिव्यापिनी निर्माणप्रक्रिया को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है। अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के प्रयत्न विश्वरहस्यमीमांसा को स्पष्ट करने में लगे हुए हैं। सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है ? क्यों इसकी प्रवृत्ति होती है ? इसके मूल में कौन-सी शक्ति है ? उसका स्पन्दन किस कारण से हुआ और किन नियमों से आज वह प्रवृत्त है ? शक्ति की प्राणनक्रिया और स्थूलभौतिक पदार्थों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? गति और स्थितिसंज्ञक द्विविरुद्ध भावों का जन्म क्यों होता है और उनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि एक से एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में हमारे सामने आ खड़े होते हैं। उनके समाधान का सच्चा प्रयत्न आज के वैज्ञानिक कर रहे हैं। नित्य नूतन प्रयोगों द्वारा वे विश्व की मूलभूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य को जानने में लगे हैं। वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओं ने इतना अब निश्चयपूर्वक जान पाया है कि स्थूल भौतिक सृष्टि जिसे हम भूतमात्रा, अर्थमात्रा या वैदिक परिभाषा में वाक् कहते हैं, अन्ततोगत्वा शक्ति के स्पन्दन का ही परिणाम है। विश्व के सब पदार्थ मूलभूत शक्ति की रश्मियों के स्पन्दन से घनीभूत या व्यवस्थित हुए हैं। यह शक्ति विश्व की प्राणनक्रिया है। प्रत्येक भूत में यह विद्यमान है। बुद्धिमान् उसे हर एक भूत में देखते और पहचानते हैं—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः

आज परमाणु के विशकलन ने यह सम्भव कर दिया है कि शक्ति के इस रहस्य की झाँकी मानव को प्राप्त हो सकी है। किन्तु भूतमात्रा और प्राणमात्र के सदृश ही तीसरी प्रज्ञानमात्रा भी है, जो समस्त सृष्टि में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार भूतमात्रा और प्राणमात्रा। लोष्ठ, पाषाण आदि असंज्ञ, वृक्ष—वनस्पति आदि अन्तःसंज्ञ, एवं पशु—मनुष्य आदि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ससंज्ञ भूतों में सर्वत्र अव्ययात्मा का श्वोवशीयस् मन अवश्य ही व्याप्त है। सबके जन्म, स्थिति और लय के पीछे मूलभूत त्रिक का नियम एक–समान है। अवश्य ही विश्व में वैचित्र्य और विज्ञान की अनेक कोटियाँ पाई जाती हैं जिनका स्पष्ट अन्तर कीट-पतंग आदि की मानव से तुलना करने पर समझा जा सकता है। प्रजापति का जो अमृत और अनिरुक्त स्वरूप है, उसकी भाषा को समझने की जो स्थिति हो सकती है विज्ञान भी शीघ्रता से उस ओर बढ़ रहा है और विश्वविज्ञान के तत्त्ववेत्ताओं की मौलिक चिन्तनप्रवृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह समय दूर नहीं है जब देश और काल के अतिरिक्त तीसरी सत्ता को भी मानने से ही विश्वनिर्माण की व्याख्या ठीक प्रकार करना सम्भव होगी। एक समय था जब देश के आयतन पर आधारित ज्यामिति द्वारा भूतों के निर्माण की मीमांसा की जाती थी। वैज्ञानिकप्रवर आइन्स्टाइन ने इस विचार में महती क्रान्ति की और देश के साथ काल को भी सृष्टिनिर्माण के मौलिक तत्त्व रूप में सिद्ध किया। गणित और भौतिक विज्ञान की उपपत्ति द्वारा यह तत्त्व सबके लिये मान्य हुआ। देश और काल सृष्टि के निर्माण का अनिवार्य चौखटा है। इसी साँचे में पड़कर भूतसृष्टि ढल रही है। देश और काल को ही नाम और रूप कहा गया है। शतपथ के अनुसार नाम और रूप दो बड़े यक्ष हैं जिनके पारस्परिक विमर्द या संघर्ष से यह सब कुछ हो रहा है। शक्ति की संज्ञा ही यक्ष है, किन्तु नाम और रूप दोनों अभ्व यक्ष कहे गए हैं। जो होकर भी नहीं है (भूत्वा न भवतीति) उसे अभ्व कहते हैं। नामरूपात्मक सारा विश्व वैदिक दृष्टि से अभ्व ही है। वैज्ञानिक की दृष्टि में भी यह सारा विश्व शक्ति के मूल आधार पर तरंगित नामरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो देश और काल के टकराने से अस्तित्व में आया है, आ रहा है और आता रहेगा। वह जो मूलभूत शक्ति है उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक को भी अभी बहुत कुछ जानना है। विश्व-रश्मियाँ (कास्मिक रेडियेशन) कहाँ से आती है, उनका स्रोत क्या है?

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शक्ति का जो समान वितरण इस समय हो रहा है, उसकी उलटी प्रक्रिया भी क्या कभी सम्भव है कि जिसके कारण महासूर्य जैसे ज्वलन्त शक्ति-केन्द्रों का पुनः निर्माण हो सके? एक बार शक्ति का विलय हो जाने पर इसकी पुनः प्रवृत्ति का क्या कोई हेतु और सम्भावना है? इत्यादि प्रश्न विज्ञान के संप्रश्न हैं, जिनका संकेत मानव का आह्वान उस ओर निश्चित रूप से कर रहा है, जो विश्व का मूल कारण है और जिसके विषय में सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वह इस विश्व से बाहर रहता हुआ भी इसकी रचना करके इसी में समाया हुआ है—

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'।

वैज्ञानिकों के सामने सुमेरु के समान दुर्धर्ष सृष्टि का संप्रश्न बना हुआ है। जैसा मनीषिप्रवर मॉरिस मेटरलिङ्क ने कहा है 'सत्य तो यह है कि इतना अनुसन्धान और बौद्धिक मन्थन हो जाने के बाद भी अभी विश्व– मानव उस स्थिति में नहीं पहुँच पाया है जहाँ एक भी परमाणु, एक भी घटक कोष या एक भी मानस का पूरा रहस्य या उसकी प्रक्रियाओं का पूरा भेद हमें मिल पाया हो।' अभी तक चारों ओर रहस्य ही रहस्य भरा हुआ है, किन्तु मानव प्रजापति का नेदिष्ठ रूप है। उसे तत्त्व की प्राप्ति के बिना सन्तोष हो नहीं सकता। शक्ति के स्वरूप और जीवन के स्रोत एवं मन के स्वरूप को जानकर ही मानव के प्रश्न का समाधान हो सकेगा। कहा जाता है कि विश्व वैज्ञानिक आइन्स्टाइन अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में विश्व की गूढ़ पहेली को समझने में अतिव्यस्त थे और उनके दृष्टिपथ में यह सत्य आने लगा था कि देश और काल के अतिरिक्त भी कोई शक्ति है जो सृष्टिप्रक्रिया में अनिवार्य अङ्ग के समान कार्य कर रही है और उसकी सत्ता को भी सम्भवतः गणित की उपपत्तियों द्वारा व्यक्त करना सम्भव होगा। यह भविष्य के प्रश्न हैं जिनके विषय में अधिक ऊहापोह सम्भव नहीं, किन्तु वैदिक विज्ञान की जो सामग्री हमारे सामने है

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उसका जब बुद्धिगम्य विवेचन हम देखते हैं तो यह ध्रुव निश्चित हो जाता है कि उस किसी सत् चित् आनन्द तत्त्व ने अपने त्रिवृत् स्वरूप द्वारा इस सर्ग का वितान किया है और वह स्वयं इसमें गूढ़ है, वही अव्यक्त से व्यक्त भाव में आया है। साथ ही समझने वालों को इसका भी आभास स्पष्ट मिलता है कि वैदिक विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान इन दोनों की शब्दावली और परिभाषाओं में चाहे जितना भेद हो, मूलतत्त्व की व्याख्या में बहुत कुछ सादृश्य है। ऊपर कही हुई पंचाण्डविद्या उसका एक छोटा-सा उदाहरण है। जन्म, वृद्धि और ह्रास की मौलिक प्रक्रिया जो विज्ञान और दर्शन में समानरूप से मान्य है वही पञ्चाण्डविद्या का विषय है। जिसे अंग्रेजी में ओवल या आयतवृत्त कहते हैं, वही अण्ड है। एक अविशेष केन्द्र से तीन विशिष्ट केन्द्रों का विकास यही सृष्टि है। त्रिकभाव का नाम ही विश्व है। **'त्रिवृद् वा इदं सर्वम्'** यह वेद की परिभाषा विज्ञान को भी मान्य है। इसी त्रिवृत्भाव की संज्ञा मन, प्राण, वाक् है जिसकी बहुत प्रकार की व्याख्या वैदिकसाहित्य में पाई जाती है। उस व्याख्या के भिन्न-भिन्न स्तर हैं, जैसे इस सृष्टि के विभिन्न क्षेत्र या स्तर हैं। यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि विज्ञान के नियम के समान ही मूलभूत वैदिक नियम भी अत्यन्त सरल हैं। अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत के स्तरों पर उन नियमों को समझने का प्रयत्न ब्राह्मणग्रन्थों में पाया जाता है। वैदिक विज्ञान का एक कठिन पक्ष भी है, वैदिक विज्ञान एक सूत्र या तन्तु नहीं, पूरा पट है। एक तन्तु को पकड़ते ही पूरे पट को सम्हालने का साहस यदि बुद्धि में न हो तो बुद्धि कातर हो जाती है और दिङ्मूढ स्थिति में पड़ जाती है। किस दशा में कहाँ गति की जाय यह स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता, किन्तु यह ऐसी कठिनाई नहीं है जिसका परिहार न हो सके। यह तो सृष्टि की ही विचित्रता है, उसमें सब कुछ ओतप्रोत है। एक सामान्यातिसामान्य अंकुर समस्त विश्व का प्रतीक बना हुआ है। उसका कृत्स्न ज्ञान कोई प्राप्त करना चाहे तो उसे एक ओर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

समस्त विज्ञान को और दूसरी ओर दर्शन के ज्ञान को मथना होगा। ज्ञान और विज्ञान को आत्मसात् करके ही अन्तिम तत्त्व का दर्शन किया जा सकता है। ज्ञान शिरोमूला दृष्टि है और विज्ञान पादमूला दृष्टि है। वट में बीज का दर्शन और बीज में वट का दर्शन ये दोनों ही ज्ञानसाधन के प्रकार हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

७. आयुष्टोम

सृष्टि का सबसे महान् रहस्य आयु है। यह वह वरदान है जो स्रष्टा ने प्रसाद रूप में प्रत्येक प्राणी को प्रदान किया है। विधाता या सृष्टिकर्ता की संज्ञा ही प्रजापति है। प्रजापति का महान् तप या महान् व्रत वह दुर्धर्ष अखण्ड नियम है जिससे जगती का विधान अस्तित्व में आया है। इसी की संज्ञा ऋत है। देश में काल का जो अप्रतिहत विस्तार है, जो आनन्द और उल्लास की शक्ति से ताना-बाना पूरा जा रहा है वही ऋत है। इसे ही विज्ञान, सृष्टि के महान् नियम की संज्ञा देता है। इसे ही प्राचीन चीनी दार्शनिक लाउत्सी 'ताओ' (= मार्ग) कहा करते थे। 'ताओ' प्रकृति का मार्ग है। वही अन्तिम तत्त्व के व्यक्त होने का प्रकार है। यही 'ऋतस्य पंथाः' वेदों में बार-बार आता है। 'ऋ गतौ' धातु से ऋत बना है। ऋत का धागा जितनी देश काल में सृष्टि है सब में पिरोया हुआ है। आदि से अन्त तक काल का एक भी क्षण ऐसा नहीं जो ऋत के सूत्र से न लपेटा गया हो। महाकाल ही आपेक्षिक युग, वर्ष, मास, दिन और क्षण संज्ञक खण्डों में व्यक्त हो रहा है। ये सब उस ऋत की शक्ति के व्यक्त रूप हैं, ऋत को गति से उत्पन्न हुए हैं। ऋत से ही यह ब्रह्माण्ड चक्र प्रवर्तित है। ऋत ही सूर्य और पृथिवी के परिभ्रमण का कारण है जिसके फलस्वरूप अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर संज्ञाओं का जन्म हो रहा है और वे मिल कर इस जीवन का निर्माण कर रहे हैं।

कितनी ही बड़ी आयु हो, साक्षात् मार्कण्डेय, ब्रह्मा या लोमश का भी युग और कल्प व्यापी आयुष्य हो वह सब ऋत की स्वाभाविकी बल क्रिया का परिणाम है। ऋत का वेग बल ही काल के रूप में प्रकट हो रहा है। जो चक्षुष्मान् हैं वे इस ऋत के तन्तु को सदा पहचानते हैं। ऋत का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म धागा कहाँ नहीं है ? ऊर्णनाभि के जाले के समान इसका तार सर्वत्र पूरा हुआ है। लोकों में, दिशाओं में जहाँ तक देश का विस्तार है, वह ऋत से व्याप्त है। वह ऋत का ही प्रकाश है। ऋत के ही ताने-बाने की संज्ञा देश-काल या नाम-रूप है। इस अन्तर्यामी ऋत के तन्तु को मानव किस रूप में प्राप्त करता है ?

ऋत के एक महनीय भाग को आयुष्य के रूप में प्रत्येक प्राणी प्राप्त करता है।

सृष्टि का जो ऋत या मार्ग है उसी मार्ग में यह हमारा अपना प्राण-रूपी सुपर्ण भी गतिशील है। जीवन और मृत्यु के दो पतत्र या पंखों को फड़फड़ाता हुआ यह लोक-लोकान्तर में उड़ रहा है। यह पक्षी उड़नफल खाकर ही जन्मा है। सूर्य भी तो एक सुपर्ण ही है। चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र तारे सब सुपर्ण हैं। वे इस महाकाश में विचर रहे हैं, इसी कारण 'खग' या खेट कहलाते हैं। सृष्टि का जो ऋत मार्ग है उसी में सूर्यादि सब सुपर्ण गतिमान् हैं। वे सब काल के छन्द से स्पन्दित हैं। यह समस्त भुवन-चक्र छन्दोमय है। प्रजापति का स्वरूप ही छन्द है। स्पन्दन या कम्पन का नाम ही जीवन है।

जीवन छन्द से छन्दित है। प्रजापति का जो महाछन्द प्रवर्तित है उसीका एक पल या निमेष हमारे जीवन का छन्द है। संवत्सर भी एक छन्द है। सृष्टि के अथ से इति तक इस छन्द का नित्य नित्य नूतन वितान होता रहता है। जो भी जन्म लेता है वह इस छन्द से छन्दित होकर ही आता है। महान् आदित्य से लेकर लघु तृण पर्यन्त सबके जीवन पर इस छन्द का अनुशासन है। हम सबके जीवन इस छन्द की नाभि में अर्पित हैं। सूर्य और संवत्सर दोनों ही प्रजापति के रूप हैं। जहाँ जहाँ छन्द या स्पन्दन है, वहीं प्रजापति के जायमान रूप का प्रत्यक्ष दर्शन मिलता है।

प्रजापति का एक रूप तो अव्यक्त, अनिरुक्त है, जो छिपा हुआ है। वह अन्तर्गर्भित अवस्था है। समस्त विश्व कभी उस अवस्था में था। 'यत्र

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain: Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विश्वं भवत्येकनीडम्' उसी के लिये कहा जाता है। उसकी और भी कई संज्ञाएँ हैं। वही केन्द्र, हृदय, नाभि, उर्ध्व या मूल है जो अनिरुक्त अमूर्त प्रजापति है। उस अव्यक्त केन्द्र से ही यह व्यक्त ब्रह्माण्ड जन्म लेता है। उसी के छंद से यह व्यक्त होता है। इसी के लिए मनु ने कहा है—

'कालं कालेन पीडयन्'

वह महाकाल अपने दुर्धर्ष मौलिक छन्द से इस व्यक्त काल को धक्का देकर चला रहा है। जिस प्रकार सूर्य की शक्ति से पृथिवी परिभ्रमण करती है, उससे संवत्सर का जन्म होता है, वह अव्यक्त महाकाल संवत्सर रूप में अभिव्यक्त हो जाता है, उसी प्रकार उस अव्यक्त स्वयंभू प्रजापति के रस और बल के तारतम्य से ही सूर्यादि सब महालोक उत्पन्न हुए हैं।

अभिव्यक्ति या जन्म विना स्पन्दन के हो ही नहीं सकता। सूर्य के अपने इसी सौर मंडल में, पृथिवी के गोचर जगत् में शीत और उष्ण के छन्द से ही समस्त व्यापार प्रवृत्त हैं। उसी से मनुष्य, प्राणी, वृक्ष वनस्पति आदि सृष्टि का जन्म हो रहा है, उसी के कारण मेघ समुद्र का जल लेकर आकाश में उठते हैं और पुनः उस जल की पृथिवी पर वृष्टि करते हैं। इस पूरे चक्र की संज्ञा एक आहुति है। इस प्रकार की न जाने कितनी आहुतियों से यज्ञों का वितान हो रहा है। बीज पृथिवी की कुक्षि में बो दिया जाता है और पुनः बीज का निर्माण करता है। यह दूसरी आहुति या यज्ञ का छन्द है। उस अन्न रूप बीज की वैश्वानर या जठराग्नि में आहुति होती है और रस आदि सप्त धातुओं की चिति होते हुए अन्त में उस छन्द के दूसरे छोर पर हमें रेत रूप बीज प्राप्त होता है। इस रेत की उत्पत्ति कालरूप प्रजापति के एक छन्द से हो रही है। उस रेत की पुनः आहुति होती है। वृषा प्राण योषाग्नि में उसकी आहुति देता है और पुरुष का जन्म होता है। यदि इन सब आहुतियों में काल द्वारा बीज परिपक्व न हो तो कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। अतएव कहा जाता है कि जो कुछ पृथिवी और

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

द्युलोक के बीच में है सब संवत्सर रूप प्रजापति के छन्द से छन्दित है, अथवा उसके स्पन्दन से स्पन्दमान है अथवा प्रजापति के वितान से ओतप्रोत है। जन्म-यौवन-जरा का नियत चक्र सबको घुमा रहा है। सब प्राणी और अप्राणी इसी चाक पर चढ़े हैं।

किंतु इस प्रक्रिया के मूल में विषाद की मात्रा नहीं है। इसके द्वारा अनंत उल्लास और आनंद की अभिव्यक्ति हो रही है। **'आनन्दरूपम् अमृतं यद्विभाति'** यही मंगल-ध्वनि चारों ओर उठ रही है। मानव भी इसी मंगल विधान का सुंदर फल है। उसे विश्व के ऋत द्वारा आयुष्य का वरदान मिला है।

आयुर्बल ही अमृत है। यही प्रजापति का प्रसाद है। विश्वव्यापी धर्म की शक्ति से शक्तिमान् उसी का एक रूप आयुष्य है।

यह आयु क्या है? यह एक स्तोम या ढेर है। महाकाल के अनन्त स्तोम में से शत-संवत्सर की राशि प्रजापति ने मनुष्य को प्रदान की है। संवत्सर इस महावाक्य के विराम चिह्न हैं, इस यात्रा के विश्रामस्थल हैं। संवत्सर का निर्माण अहोरात्र की इकाइयों से होता है। प्रत्येक अहोरात्र उस प्रजापति रूप संवत्सर का पादन्यास है जो हमारे लिए मूर्त बन रहा है। अहोरात्र ही आयुष्य का एक सूत्र है। इस प्रकार के ३६ सहस्र सूत्रों से हमारे शत-संवत्सर संमित जीवन-सूत्र का निर्माण हुआ। प्रतिदिन एक-एक आयुःसूत्र हमें स्वतः प्राप्त हो रहा है। यही वह अमृत है जिसे सूर्य प्रतिदिन अपनी रश्मियों से बाँट रहा है। ३६ सहस्र सूत्रों से जीवन के पट का वितान होता है। अन्त में यही पट जीर्ण हो जाता है और नए पट की आवश्यकता होती है। हमें प्रजापति के नूतन छन्द की आवश्यकता होती है। कितना स्वाभाविक और सरल यह नियम है? कवि ने कैसे सत्यात्मक शब्दों में इसी छन्द का वर्णन किया है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लव निमेष परिमाण युग वर्ष कल्प शर चंड ।
भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड ॥

लव, निमेष, अहोरात्र, वर्ष, युग और कल्प—ये महाकाल के विविध रूप हैं। ये उसके प्रचण्ड बाण हैं जो सबका वेधन कर रहे हैं। जो काल से परिच्छिन्न नहीं उसकी सत्ता नहीं, उसका जीवन नहीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म लव निमेष रूपी बाण संतत हमारे ऊपर बरस रहे हैं। जिस क्षण काल के इन सूक्ष्म खण्डों का संतत दान हमें मिलना शिथिल पड़ जाय या बन्द हो जाय, वहीं जीवन की समाप्ति समझनी चाहिए। इन बाणों का हमारे पास आना, हमें वेधना ही जीवन का लक्षण है। ये बाण सूर्य रश्मियों की भाँति बालखिल्य कहे जाते हैं, एक से दूसरे के बीच में बाल मात्र का भी खिल या व्यवधान नहीं है। जैसे सूर्य रश्मियों का एक दूसरे के साथ संतान या निरन्तर तार पूरा हुआ है ऐसे ही काल के लव निमेष आदि भागों का निरन्तर संतान या जाल वितत है। इनके चयन से ही अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर आदि काल खंड निर्मित होते हैं—

स वत्सरः स ऋतुः सोऽर्धमासः
सोऽहोरात्रः सकला वै स काष्ठाः ।
मात्रा मुहूर्ताश्च लवाः क्षणाश्च
विष्वक्सेनः सर्वमेतत् प्रतीहि ॥
(अनुशासन १५८।३२)

लव, कला, काष्ठा, मात्रा, मुहूर्त, अहोरात्र आदि काल विभाग उसी कालात्मा विष्णु के मूर्त रूप हैं। वही प्रजापति नित्य-नित्य नए-नए रूपों में थिरक रहा है। उसी की गति या ऋत से जीवन मिल रहा है। उसके ऋतात्मक स्पन्दन से जो अहोरात्र अस्तित्व में आता है वही तो हमारी आयु का सूत्र बन कर हमें प्राप्त होता है। लव निमेष आदि के रूप में उस देव के प्रसाद की वृष्टि हो रही है। वह प्रसाद ही आयुष्य का वरदान हमें

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दे रहा है। प्रजापति का ऋत ही हम सबकी आयुष्य के रूप में मूर्त्यन्तर हो रहा है।

कवि ने उस महाकाल के बाणों को प्रचण्ड कहा है। एक ओर कालात्मक इन्हीं बाणों से जीवन को गति और अमृत मिल रहा है। दूसरी ओर इन्हीं कालखण्डों के जीर्ण भाग का नाम मृत्यु है। आयुष्य के समग्र भाग को जब काल के ये प्रचण्ड शर बींध डालते हैं तो उस कालभुक्त आयु की संज्ञा मृत्यु है।

अमृत और मृत्यु के पारस्परिक संयोग का यह नाटक प्रत्येक के जीवन में प्रतिपल हो रहा है।

आयुष्य ही अमृत है, आयुष्य के भुक्तांश से ही मृत्यु का क्षरण हो रहा है। अमृत और मृत्यु के छन्द से छन्दित प्राणरूपी सुपर्ण फड़फड़ा रहा है। इसी का नाम जीवन है। जिस जीवन में प्रजापति के छन्द की अभिव्यक्ति है वहीं शान्ति और आनन्द का अनुभव है। जो इस छन्द का अनुभव करता है वह जीवन में आनन्दी बनता है और मृत्यु में विषाद नहीं करता। वह आयुष्य रूपी अमृत का शत-प्रतिशत सदुपयोग करता है। व्यक्तिगत जीवन में यही उत्थान का एकमात्र मार्ग है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

८. सविता

विश्व की प्रेरक शक्ति की संज्ञा सविता है। प्राण या क्रियाशक्ति ही देवचिति है। सब देवों की जो मूल प्रेरक शक्ति है वही सविता है। कहा है—**सविता वै देवानां प्रसविता।**

यह विश्व क्रियाशक्ति का अनन्त भंडार है। प्रत्येक परमाणु क्रियाशील है। क्रियाशीलता ही प्राणतत्त्व है। जहाँ प्राण है वहाँ क्रिया है। प्राण तैजस तत्त्व है। जहाँ तेज है वहाँ गति है। गतितत्त्व ही देवत्व है। प्रकाश भी गति का ही दूसरा नाम है। अतएव देवता प्रकाशमय होते हैं।

हमारे विश्व के लिये सूर्य सबसे महान् शक्तिस्रोत है। सूर्य की रश्मियाँ अहर्निश शक्ति का वितरण कर रही हैं। रश्मियों के सहस्र-सहस्र वितान से विश्व में प्रकाश की और गति की अजस्र धारा उत्पन्न हो रही है। मेघों का उठना, वृष्टि का होना, जलों का प्रवाहित होना, वायु का वेग से स्थानान्तरित होना, वृक्ष-वनस्पतियों का रस से पुष्ट होकर बढ़ना और जीर्ण होना, मानव-शरीर का जन्म से मृत्यु पर्यन्त विकसित होना इत्यादि सब सूर्य की शक्ति का ही फल है। सूर्य की शक्ति का नाम ही संवत्सर है। जितनी शक्ति सूर्य-केन्द्र से जितनी अवधि में निकलती है, उतनी अवधि में पृथिवी अपने क्रान्तिवृत्त पर एक बिन्दु से चलकर पुनः उसी बिन्दु पर आ जाती है। उतनी सूचित शक्ति की घनीभूत संज्ञा संवत्सर है। उसी मानदण्ड की अनुकृति पर पृथिवी के अपने अक्ष-परिभ्रमण काल की सूर्यशक्ति की संज्ञा अहोरात्र है। अहोरात्र, पक्ष, मास, अयन, संवत्सर सब सूर्यशक्ति की मात्राएँ हैं। इन मात्राओं का जन्म गतितत्त्व से हो रहा है। गति ही ब्रह्माण्ड का अमृत रूप है, अन्यथा विश्व की भौतिक वस्तुओं का निजी स्वभाव भारीपन, मूर्छा, तन्द्रा या मृत्यु का ही रूप है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मिट्टी के ढेले को हाथ से फेंक कर गति दीजिए। वह कुछ दूर जाकर गिर जाता है। ठहरने की प्रवृत्ति उसका स्वभाव है। ऐसे ही किसी गेंद को यन्त्र के बल से दूर फेंका जा सकता है। पर वह भी उसी बल की समाप्ति पर स्थिति भाव में आ जाती है। बल का यही स्वभाव है। वह क्षीण हो जाता है। देश और काल में बल की सीमा है। जितने बल हैं, सबको गति कहा जा सकता है। गति ही बल है। विश्व में पृथिवी आदि ग्रहों का परिभ्रमण, नक्षत्रों की गति भी बल का ही रूप है। ये सब बल सादि, सान्त होने चाहिए। इनको सदा गतिशील रखने के लिये किसी ऐसी प्रेरक शक्ति की आवश्यकता है जो स्वयं प्रतिष्ठ हो, नित्य हो और असीम हो। वही प्रेरक शक्ति विश्व के अन्य सब बलों को संतत प्रेरणा दे सकती है। ऐसी शक्ति की दूसरी विशेषता यह होनी चाहिए कि वह स्वतन्त्र हो, उसका अपना केन्द्र हो। वैदिक भाषा में केन्द्र को उक्थ कहते हैं। जिसमें बल स्वयं उत्थित होता है वही उक्थ कहलाता है—**उत्तिष्ठन्ति अस्मादिति उक्थम्** ।

उक्थ-केन्द्र की संज्ञा सविता है। जहाँ उक्थ केन्द्र का जन्म हो जाता है वहाँ ऐसी स्वयम् उद्भूत शक्ति का स्रोत प्रवाहित हो जाता है जो उस तंत्र के अन्तर्गत अन्य सब बलों को प्रेरणा देता रहता है। इस विश्व के लिये ऐसे उक्थ केन्द्र की आवश्यकता थी, उसी की संज्ञा सविता है। हमारे सूर्य को भी सविता कहा जाता है, क्योंकि यह प्रेरणा देता है। इसकी प्रेरणा का विस्तार समझना चाहें तो विश्व का दर्शन करें और विज्ञान की आँख से उसके क्रियाकलापों को समझने का प्रयत्न करें। सविता की शक्ति की संज्ञा सावित्री है। जहाँ सविता या उक्थ केन्द्र होगा, वहाँ सावित्री का होना आवश्यक है। सूर्य की शक्ति जो रश्मियों के रूप में पृथिवी की ओर आ रही हैं, वह उसकी सावित्री है। जब वही सूर्य-शक्ति या सावित्री पृथिवी से लौटकर पुनः सूर्य की ओर जाती है, तब उसे गायत्री कहते हैं। सावित्री पृथिवी तक आती है। गायत्री सूर्य तक जाती है। सावित्री-गायत्री

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक ही गतिचक्र के वे दो अंग हैं। इसी को विज्ञान की भाषा में **'एति च प्रेति च'** कहते हैं। एति-प्रेति से गति चक्र की सम्पूर्णता होती है। विद्युत् शक्ति अपने धनकेन्द्र से चल कर ऋणकेन्द्र की ओर जाती है और बार बार उसकी ओर लौटती रहती है। यही एति-प्रेति रूप शरीर में प्राणत्-अपानत् कहलाता है। सावित्री पृथिवी तक पहुँचते पहुँचते गायत्री बन जाती है। और गायत्री सूर्य तक पहुँचते पहुँचते सावित्री में परिणत हो जाती है। यह प्रक्रिया प्रतिक्षण हो रही है। इसी चक्र की सम्पूर्ण गति से सौरशक्ति का पृथिवी के साथ संयोग हो रहा है। इसी **'प्राणदपानत्'** चक्र के पूरा घूमने से शरीर की विद्युत्शक्ति उत्पन्न हो रही है।

व्यापक दृष्टि से सविता और सावित्री पर विचार करें तो सविता और सावित्री का द्वन्द्व ही अणु और महान् दोनों के जीवन का आधार है। जहाँ सविता से सावित्री का जन्म हो रहा है वहीं जीवन की अभिव्यक्ति है। बीज में जो सविता प्राण है वह क्रियाशील बनकर सावित्री रूप में प्रकट होता है, इसी का नाम जीवन है। संसार में हमें जितनी शक्तियों का परिचय है उनमें जीवन कीं शक्ति सबसे अधिक रहस्यमय है। यान्त्रिक शक्ति उस सावित्री शक्ति की तुलना में अति निम्न कोटि की है। बीज में संचित सविता ही क्रियाशील बनकर अंकुरित हो जाता है और उससे ही महान् विटप का जन्म होता है। सविता और सावित्री का संयोग ही धनविद्युत् और ऋणविद्युत् का संयोग है। इन्हें ही योषा-वृषा प्राण कह सकते हैं। सविता को सदा सावित्री-साक्षेप समझना चाहिए। इस दृष्टि से उष्ण और शीत का द्वन्द्व सविता-सावित्री का ही द्वन्द्व है। सविता एक योनि है, सावित्री दूसरी योनि है। दोनों के मिथुन भाव से शक्ति का जन्म होता है। इसी व्यापक विज्ञान-दृष्टि पर लक्ष्य रखते हुए गोपथ ब्राह्मण की सावित्री विद्या में उदाहरण के लिये सविता-सावित्री के बारह मिथुन या जोड़ों का परिगणन किया गया है। मन-वाक्, अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, आदित्य-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राप्त हो सकता है। छन्द उस पात्र को कहते हैं जिसमें वस्तु का संग्रह किया जाय। छन्द एक आवपन या जीवन की लययुक्त गति है।

उसी में भर्ग या अन्न का संचय किया जा सकता है। यदि जीवन का छन्द नहीं बनता तो उसमें कुछ भी संचित नहीं किया जा सकता। छन्द से छन्दित होकर ही अन्न का भाग हमारी पकड़ में आता है। ज्ञानमात्रा, कर्ममात्रा और भूतमात्रा को वैदिक भाषा में अन्न कहते हैं। भूतमात्रा में पाँच भूत आते हैं। ज्ञान, कर्म को मिलाकर सात अन्न होते हैं। मन, प्राण, वाक् की समष्टि का नाम आत्मा है। तीनों को तीन प्रकार का अन्न मिलना चाहिए। मन को ज्ञान, प्राण को कर्म और वाक् या भौतिक शरीर को पंचभूत या अर्थ या भौतिक पदार्थ रूपी अन्न चाहिए। भूतमात्रा की वैदिक संज्ञा वाक् है, क्योंकि पंचमहाभूतों में सूक्ष्मतम आकाश का गुण होने से वाक् या शब्द पाँचों का प्रतीक मान लिया गया है। सविता के साथ जीवन का छन्द और उस छन्द से छन्दित होने वाले जीवन-रस का घनिष्ट-तम सम्बन्ध है। इन पर विचार करना ही जीवन का स्रोत, लक्ष्य और संगठन को धीर भाव से सोच-समझ लेना है। यही सविता का संग्रहणीय भर्ग है। पर यह प्राप्त कैसे हो सकेगा? इसकी कुञ्जी जब तक न मिले, तब तक जीवन की योजना पूरी नहीं हो सकती। इसका उपाय है 'धी' की प्राप्ति। गायत्री उपनिषद् के अनुसार "कर्माणि धियः" अर्थात् कर्म की संज्ञा धी है।

ओं भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

ओंकार की अ-उ-म् मात्राएँ त्रिगुणात्मक जगत् का अक्षरात्मक प्रतीक हैं। भूः भुवः स्वः रूपी व्याहृतियाँ उसी का लोकात्मक संकेत हैं। इस महतो महीयान् क्षेत्र पर हमें अधिकार करना है। यह हमारा जन्म-सिद्ध दायाद है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इसमें सब कुछ है। विश्वकर्मा की इस हवि में सारे भोग्य पदार्थ हैं। वे हमें कैसे मिलें ? उस दायाद में हमारा भाग कितना है ? इन प्रश्नों का उत्तर सीधा है—हम अपने जीवन के लिए जैसा छन्द बना सकें और उसमें जैसा भर्ग या अन्न भरने का संकल्प कर सकें वही और उतना ही हमारा है। चुनना हमें है और हम चुनने में स्वछन्द हैं। चुनाव करने के उपरान्त प्राप्ति तभी होगी जब धी या कर्म शक्ति पर हमारा अधिकार होगा। उस कर्म को कौन चलाएगा ? वही सविता या उक्थ केन्द्र जो हमारा अपना केन्द्र है। कहीं बाहर से वह प्रेरणा शक्ति नहीं आएगी। बाहर से जितनी मात्रा उधार ली जाती है वह कुछ देर तक साथ देती है, फिर समाप्त हो जाती है। पर जब वह हमारा अपना उक्थ बन जाती है, तब वह हमारे प्राण और मन को स्वयं संचालित करने लगती है। ज्ञान का प्रकाश और कर्म की शक्ति हम बाहर से ले सकते हैं, पर अन्ततोगत्वा उसे अपने सविता का अंग बनाना होगा। जो स्वयं प्रकाश केन्द्र है उसी को सविता कहते हैं। सविता का तेज बुझता नहीं। वह परिपक्व तेज या भर्ग होता है। जो दूसरों की ज्योति से प्रकाश लेता है वह सविता नहीं। सविता की ज्योति या आभा निज केन्द्र में बनी रहती है। सूर्य इस विश्व का सविता है। उदय होने से पूर्व ब्राह्ममुहूर्त का सूर्य सविता कहलाता है, क्योंकि उसमें प्रेरणात्मक प्राण की मात्रा सबसे अधिक रहती है। गायत्री और संध्योपासना द्वारा उसी सविता प्राण या उद्बोधनात्मक मानसतत्व का आवाहन किया जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

६. छंद-मर्यादा

जहाँ छन्द होता है वहीं मर्यादा आ जाती है। जैसे ही मर्यादा का पालन किया जाता है छन्द का बनना आरम्भ हो जाता है। छन्दोलक्षग मर्यादा-सूत्र का आरम्भ होने से प्राण-नियत लय ग्रहण करने लगता है। छन्द के उदय से पहले प्राण अच्छन्दस्क रहता है। वह अच्छन्दस्क रूप आप्य है, पानी की तरह बिखरा हुआ है। उस बिखरे हुए रूप में प्रविष्ट हो कर उसे रूप देनेवाला तत्त्व छन्द है। आपः को सोम कहा जाय तो उससे विरुद्ध प्रकृतिवाला छन्दस्तत्त्व अग्नि है। अग्नि क्या करती है? गतितत्त्व अग्नि है। वह हलचल करता है। गति केन्द्र को संचालित करती है। वह केन्द्र से बाहर की ओर जाती है। सीमा तक जाकर फिर केन्द्र की ओर लौटती है। यह उसका आगति रूप है। गति-आगति का स्पन्दन जिस आयतन या मर्यादा के भीतर होता है वही उसका छन्द है। छन्द न हो तो गति जहाँ तक बाहर जा सकती है उसकी मर्यादा नहीं है। जो गति मर्यादा में नहीं है वह कुछ स्वरूप नहीं बनाती।

आप्यतत्त्व में, अच्छन्दस्क वस्तु में रूप निर्माण के लिये छन्द का प्रवेश, छन्द की प्रतिष्ठा, छन्द का कार्यशील होना आवश्यक है। ऋक् साम छन्द हैं। केन्द्र से बाहर जहाँ तक गति का विस्तार होता है वह उसका व्यास है। इसे ही विष्कम्भ कहते हैं। इसी स्कम्भ या खम्भे पर वस्तु का मूर्त्तरूप टिकता है। खम्भे से ही वह नियमित किया जाता है। किसी भी रूप-निर्माण के लिये खम्भा या टेक आवश्यक है। विश्व का विष्कम्भ उसके स्वरूप का नियामक है। विश्वनिर्माण की प्रक्रिया जब जहाँ से आरम्भ हुई उसने सबसे पहले अपना विस्तार, व्यास या विष्कम्भ तय किया। विश्व की जो पृथिवी है, उसका जो द्युलोक है—इन दो छोर, बिन्दु या मर्यादाओं के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

बीच में विश्व का स्कम्भ व्याप्त है। यह विष्कम्भ वह यूप, मेरुदण्ड या प्राणमय टेक है जो अपने-अपने वस्तु पिण्ड को धारण किये हुए है। यह अधिष्ठान सबके लिए आवश्यक है। इसकी नियति के अभाव में कोई पिण्ड बन नहीं सकता।

विष्कम्भ नियत होने के साथ उसका घेरा बन जाता है। वस्तु की यही सीमा या मर्यादा होती है। यह घेरा साम मंडल है। वस्तु के चारों ओर उसकी रश्मियों का तेजोमण्डल साम कहा जाता है। **सर्वं तेजो साम रूपं ह शश्वत्। ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः। सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।** तेज मण्डल किरणों के फैलाने से बनता है। किरणें या रश्मियाँ अर्क हैं। प्राण एक केन्द्र से जब चतुर्दिक् गति करता है तो उस केन्द्र को उक्थ (**उत्तिष्ठन्ति यतः**) और उसकी रश्मियों को अर्क कहते हैं। अर्चंश्चरति—जो गति भाव में आती हुई फैलती है। केन्द्र से गति का यह वितान चारों ओर होता है। उसी से मण्डल या साम बनता है। गति एक बलात्मक तत्त्व (फोर्स) है। वह अपने केन्द्र से उत्थित होकर विद्युत्तरंगों के समान मण्डलरूप में फैलता है। यह साममण्डल ऋक् पर निर्भर होता है। जितना ऋक् उसका तिगुना साम। ऋक् साम ही आयतन हैं, जैसे व्यास और परिधि वृत्त के स्वरूप के निर्माता बनते हैं। व्यास और परिधि ही ऋक्साम हैं। ऋक् सामे वै इन्द्रस्य हरी। ऋक साम इन्द्र के वाहन हैं। इन्हीं के द्वारा मध्य का केन्द्रस्थ प्राण गतिशील होता है। ऋक् साम न हों तो प्राण की गति सम्भव नहीं। छन्द बनने के साथ प्राणतत्व अभिव्यक्त होता है। केन्द्रस्थ प्राण ही मध्यप्राण है। मध्यत ऐन्ध, जो केन्द्र में दहकता है, समिद्ध होता है, वही इन्धनात्मक तत्त्व परोक्ष भाषा या संकेत रूप में इन्द्र कहलाता है—

स योऽयं मध्ये प्राणः। एष एवेन्द्रस्तानेव प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्ध, यदैन्ध तस्मादिन्धः, इन्धो ह वैतमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम् (श ६।१।१।२)।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

केन्द्रतत्त्व या बिन्दु ही इन्द्र कहलाता है (हृदयमेवेन्द्रः, श १२ ६ १ १५)। केन्द्र से परिधि तक गति ही इन्द्र की सक्रियता है। यही इन्द्र का इन्धन या स्पन्दन है। किन्तु इस इंधन की धारा तभी बनती है जब वह गति पुनः केन्द्र में लौटती है। जब वह आगति बन जाती है। गति तत्त्व इन्द्र है। आगति तत्त्व उसी का दूसरा रूप उपेन्द्र है। उपेन्द्र की संज्ञा विष्णु है। गति होगी तभी आगति संभव है। इन्द्र बड़ा भाई, विष्णु छोटा है। दोनों एक ही उदर से संभूत है। केन्द्र या उक्थ या नभ्य या मध्य बिन्दु से उत्पन्न होनेवाले गति तत्त्व में ही इन्द्र और विष्णु की कल्पना है। इन दोनों का संतत संघर्ष होता रहता है। यह शाश्वत स्पन्दन है। इसमें किसी की हार-जीत नहीं होती। एक भी परास्त हो जाय तो स्पन्दन रुक जायगा।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१०. सोम

यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।
ऋ० ५।४४।१४

जागरूक अर्थात् प्रज्ञावान् पुरुष के साथ ही सोम सख्य या मैत्री की इच्छा करता है। वेदों में सोम शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है इस शब्द के कितने ही अर्थ ब्राह्मणकारों ने दिए हैं, यथा—रेतो वै सोमः, (कौ०, श०, तै०), अन्नं सोमः (श०), सोमो प्रजापतिः, प्राणो वै सोमः (तां०), हविर्वै देवानां सोमः (श०), यशो वै सोमः (श०), क्षत्रं वै सोमः (कौ०, ऐ०), वर्चः सोमः (श०), रसः सोमः (श०) शुक्रः सोमः (तां०), सोमो वै ब्राह्मणः (तां०) ब्राह्मणानां स (सोमः) भक्षः (ऐ०) ।

अग्नीषोमाख्य नियम सृष्टिव्यापक विराट् द्वन्द्व है, जिससे समस्त जीवन नियन्त्रित होता है। शतपथ में कहा है—यद्वा आर्द्रं यज्ञस्य तत्सोम्यम्, यच्छुष्कं तदाग्नेयम्'। अग्निषोम ही सृष्टि की वैज्ञानिक व्याख्या है। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इस सूत्र में सब कुछ अन्तर्निहित है। मनुष्य एक अग्नीषोमीय पशु है। समस्त यज्ञों में संस्कारार्थ इसी की अपेक्षा है। परंतु यहाँ हम सोम के विशेष आध्यात्मिक अर्थ की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। ऊपर लिखे हुए ब्राह्मण वचन में अत्यन्त स्पष्टता से सोम का अर्थ वीर्य या रेत किया गया है। यज्ञ में हिरण्य देकर सोम लिया जाता है। इसका अर्थ शतपथ (३।३।३।६) में इस प्रकार है। शुक्रं ह्येतच्छुक्रेण क्रीणाति यत्सोमं हिरण्येन' (श० ३।३।३।६) । हिरण्य भी रेत की ही संज्ञा है। शुक्र से शुक्र की प्राप्ति होती है। यही यज्ञ के द्वारा यज्ञ करना है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
य० ३१।१६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ब्रह्मचर्य आश्रम में रेत के संचय से ही वीर्य प्रजा तेज आदि की संप्राप्ति होती है। प्राण की आहुति से प्राण पुष्ट होते हैं। शरीरस्थ शुक्र जब शरीर में ही पचाया जाता है तब ही शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक निर्मलता, प्रसन्नता और शान्ति प्राप्त होती।

मनुष्य शरीर में वीर्य रेत सबसे मूल्यवान् पदार्थ है। यह सोम जिन नस नाड़ियों में व्याप्त रहता है वे ही सोमवल्ली हैं। इनको ही केन्द्रीय नाड़ीजाल कहते हैं। यह नाड़ीजाल मनोमय प्राणमय वाङ्मय पुरुष की प्रतिष्ठा है। मस्तिष्क इसका ही एक भाग है। मस्तिष्क की संज्ञा. ही स्वर्ग है—

अष्टा चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।
(अथर्व १०।२।३१)

आठ चक्रों और नौ द्वारों से युक्त यह शरीर देवों की नगरी अयोध्या है; इसी में ज्योति से भरा हुआ सोने का कोष है जो स्वर्ग है। सोने का यह पात्र या खजाने से भरा हुआ सन्दूक मस्तिष्क ही है। यही नीचे मुँह और ऊपर पेंदी वाला करछुल, चम्मू या घट है, जिसके किनारों पर सप्तऋषि (सप्तशीर्षण्य प्राण-चक्षु, कर्ण, नासा, मुख) स्थित हैं—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। तदासत ऋषयः सप्त साकम्। (अथर्व १०।८।९)।

यह शरीर सोम कूटने की ग्रावा है—

बृहन्नद्रिरभवद्यच्छरीरम्। (अथर्व ६।४।५)

कूटने पीसने छानने के बाद निर्मल सोम से भरा हुआ शीर्षरूपी कलश इस शरीर में रहता है—

सोमेन पूर्णं कलशं विभर्षि (अथर्व ९।४।६)

अनन्त प्रकार से पुष्ट होने वाला जो प्राणतत्त्व है उसे अध्यात्म परिभाषा में ऋषभ कहा गया है। उस प्राणरूपी ऋषभ का रेत ही इस शरीररूपी यज्ञ में पड़ने वाला घृताज्य है। यही अध्यात्म यज्ञ है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः। (अथर्व ६।४।७)

सोम इस शिर की रक्षा करता है। अंशुः·······रक्षते शिरः (ऋ० ६।६८।४) और भी

सुत इन्द्राय विष्णवे सोमः कलशे अक्षरत्। चमूषु आ निषीदति। (ऋ० ६।६३।३, २)

मस्तिष्क का प्रतिनिधि ही यज्ञ में द्रोण कलश है, जिसमें सोम छान कर भरा जाता है (दधानः कलशे रसम्। ऋ० ६।६३।१३)। उसी में से हम ऐन्द्रवायव (वाक् + प्राण), मैत्रावरुण (चक्षु + मन), और आश्विन (श्रोत्र + आत्मा), इन इन्द्रियरूपी पात्रों या ग्रहों में इस सोम को भर कर पी रहे हैं। सोम इन्द्रियों का रस है (आत्सोम इन्द्रियो रसो, वज्रः सहस्रसा भुवत। ऋ० ६।४७।३)।

ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण और आश्विन, ये सब प्राण के ही नामान्तर हैं, क्योंकि प्राण ही दो देवताओं वाला (द्विदेवत्य) और एक पात्र में भरा हुआ सोम है। अथवा प्राण ही दो पात्रों में भरा हुआ किन्तु एक नाम वाला है।

प्राणा वै द्विदेवत्याः, एकमात्रा गृह्यन्ते, तस्मात् प्राणा एक-नामानो द्विमात्र हूयन्ते तस्मात्प्राणद्वन्द्वम्। ऐ० २।२७)

अयं··सरांसि धावति। (ऋ० ६।५।४।२)

यह सोम छाना हुआ सरोवरों में भर जाता है। मस्तिष्क में जो तीन प्रधान चमू या वापियाँ (ventricles) हैं वे ही यज्ञ के कलश हैं—

इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति।

(ऋ० १०।१०।१७)

इनको ही आधुनिक शरीरविज्ञान की परिभाषा में (सेरीब्रल वेन्ट्रिकिल्स) कहते हैं। इनकी संख्या चार भी मानी जाती है। (रायः समुद्रांश्चतुरो-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। आ पवस्व सहस्रिणः। ऋ०९।३३।६)

पवमान सोम स्वर्ग से और अन्तरिक्ष से पृथिवी के शृंगों (सानूनि) पर आता है (**पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत। पृथिव्या अधिसानवि** (९।६३।२७)। ऋ० ९।६४।६ में कहा है कि दिव्य पार्थिव और अन्तरिक्ष सोम को पवित्र करो। फिर, सोम द्युलोक का हेतु या प्रकाश है [**केतुं कृण्वन् दिवस्परि विश्वरूपाभ्यर्षसि** ऋ० ९।६४।८]। सोम द्युलोक का अमृत है; वह द्युलोक का शिशु है।

दिवः पीयूषं···सोमं [ऋ० ९।५१।२]
दिवः शिशुम्। ऋ० ९। ३३।५

सोम को उदीची दिशा का स्वामी कहा गया है। सोम इन्द्रियों का रस है। सोम के त्रिविध स्थान को यों समझना चाहिए।

नाड़ी जाल के तीन भाग हैं [**त्रिभिः धामभिः पुनीहि**, ९।६७।२६]

द्युलोक—सेरीब्रम (Cerebrum)—सर्वोच्च मस्तिष्क।

अन्तरिक्ष—मेड्ला ओब्लोंगाटा (Meadulla ablongata)—मध्य मस्तिष्क।

पृथ्वी—स्पाइनल कालम (Spinal column) मेरुदण्ड या केन्द्रीय नाड़ी जाल।

सोम को त्रिपृष्ठ कहा जाता है [**वृषा, त्रिपृष्ठो** ऋ० ९।७१।७]। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ—ये तीन स्थान ही सोम के तीन पृष्ठ हैं। सुहुताद गौएँ अर्थात् इन्द्रियाँ अपने दुग्ध देनेवाले ऊधस् को मूर्धा या मस्तिष्क में मिला कर दूध की वर्षा करती हैं [ऋ० ९।७१।४]। इन्द्रियों का संयम करने से मस्तिष्क के सोम में इन्द्रियरूपी गौओं का दुग्ध या तेज मिलता रहता है। कहा है—

तव शुक्रास अर्चयो दिवस्पृष्ठे [ऋ०.७।६६।५]।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Funding: MIDF

द्युलोक के स्थान में सोम की प्रकाशमान अर्चियाँ हैं। यज्ञ का आत्मा सोम है [सुन्वन्ति सोममद्रिभिः। ऋ०६।३४।३; सुष्वाणो अद्रिभिः; ऋ० ६।६७।३]। ग्राव्णा तुन्नः ऋ०६।६७।१९]। दश प्राण ही सोम के दश अंशु हैं। कहा है कि सप्त सिन्धु सोम के ही अनुशासन को मानते हैं [तमेते सप्त सिन्धवः प्रशिषं सोम सिस्रते, ऋ० ६।६६।६]। शरीर में सप्त प्राण धाराएँ सप्तसिन्धु हैं। एक सत्र में सोम को पांचजन्य पुरोहित कहा है—

अग्निः पवमानः पांचजन्यः पुरोहितः तमीमहे महागयम्।

इंद्रियाँ ही पंचजन हैं।

सोम इस शरीर रूपी रथ या शकट पर लादा जाता है—

ते त्रिपृष्ठे त्रिवन्धुरे रथे युंजन्ति यातवे।
ऋषीणां सप्त धीतिभिः। [ऋ० ६।६२।१७]

तीन पृष्ठ वाला रथ शरीर है। सप्त ऋषियों की धी या स्तुति से यह जुता हुआ है। सोम शरीररूपी ऋत के सदन में सुत होता है [सुता ऋतस्य सादने। ऋ० ६।१२।१]। उसीसे ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है।

एक स्थान पर सोम के अधिश्रयण या परिपाक का वर्णन है—

सोमो गौरी अधिश्रितः [ऋ० ६।१२।३]

कन्या की संज्ञा गौरी है। विवाह से पूर्व कौमार अवस्था में सोम का गौरी कन्या के शरीर में प्रकृति द्वारा अधिश्रयण या पचन होता है। सोम इस शरीर गुहा में संचित है जहाँ द्युलोक या मस्तिष्क में ज्ञानी लोग उसे विवेक की आँख से देख पाते हैं—

अध्वर्युभिः गुहा हितं सूरः पश्यति
चक्षसा। (ऋ० ६।१०।६)

अप्रेचत अज्ञानी उसकी अवहेलना करते हैं। जो ज्ञानी धीर प्रचेता हैं, वे सोम की उत्पत्ति, उसके परिपाक एवं उसकी अनेक रहस्यमयी शारीरिक और मानसिक प्रक्रियाओं को देखते हैं :—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आ यद् योनिं हिरण्ययमाशुर्ऋतस्य सीदति ।
जहाति अप्रचेतसः । [ऋ० ६ । ६४ । २०]

ऋत की हिरण्मयी योनि मस्तिष्क है। इसे ही अथर्ववेद में हिरण्य का कोष एवं स्वर्ग कहा गया है। यहाँ सोम जब प्रतिष्ठित होता है, तब अप्रचेत या अज्ञान छूट जाता है।

अभि वेना अनूषतेयक्षन्ति प्रचेतसः। मज्जन्त्यविचेतसः।
[ऋ० ६।६४।२१]

जो आत्मदर्शी हैं वे सोम का गान गाते हैं। जो विवेक शील हैं, वे सोम का यजन करते हैं। जो मूर्ख हैं वे सोम के क्षय से डूबते और नीचे गिरते हैं।

इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः। ऋतस्य योनिमासदम्।
[ऋ० ६।६४।२२]

मरुत् संज्ञक प्राणों के मध्य में समिद्ध होनेवाला जो मुख्य प्राण इन्द्र है, उसके लिये हे मधुमान् सोम, तुम अर्पित हो। शरीर का जो मधु भाग है उसको संचित रखने वाले मधुमय रस तुम्हीं हो। ऋत की योनि मस्तिष्क है उसमें सोम का स्थान है।

ऋधक् सोम स्वस्तये संजग्मानो दिवः कविः। पवस्व सूर्यो दृशे।
(ऋ० ६।६४।३०)

क्रान्तदर्शी सोम मस्तिष्क या शीर्षरूपी द्युलोक (स्वर्ग) से स्वस्तिभाव के लिये प्रवाहित होता है। सूर्य के समान तेजस्वी सोम का हम दर्शन करें।

आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्यम्। अस्मे श्रवांसि धारय।
(ऋ० ६।६३।१)

हे सोम, अपरिमित वीर्य और रयि को हमारे शरीर में पवित्र करो, जिससे हम सुयशस्वी बनें। सोम सिन्धुमातृक है (**सिन्धुमातरम्। ऋ० ६ । ६१ । ७**) अर्थात् नदीरूप नाड़ियों से सोम रस का क्षरण होता है। सोम को प्रत्न पय (**दुहानः पत्नमित्पयः। (ऋ० ६ । ४२ । ४)**

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

या सनातन रस कहा गया है। सोम ही शरीररूपीयज्ञ में प्राचीनतम रस है। सोम ही परम अमृत है। सोम ही रेत, प्राण, वर्चं, हिरण्य, शुक्र और चान्द्रमस पीयूष है।: यह सोम दो ग्रावाओं से अभिपुत होकर शिरः कपालों के मध्य में सम्भृत होता है। इसको पान करने वाला इन्द्र प्राणों का भी प्राण आत्मा है। सोम का अभिस्रव जन्म से ही होने लगता है, परन्तु हर समय का सोम पृथक् पृथक् है। ऊर्ध्वरेता पुरुष का सोम उत्तरायण मार्ग से देवलोक का सिंचन करता है। शीर्ष ही वह द्युलोक या देवलोक स्वर्ग है। शीर्ष में ही मस्तिष्क प्रतिष्ठित है। वैदिक परिभाषा में मस्तिष्क ही राजा सोम है।

सोमो राजा मस्तिष्कः। (अथर्व ६।७।२)।

इसी दृष्टि से सोम ब्राह्मणों का राजा कहा गया है। जो विराट् या समष्टि के लिये जीवित रहता है, वही ब्राह्मण है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

११. मेध तत्त्व

पुरुषमेध, अश्वमेध, गोमेध—ये तीन ही मेध पशुओं के यज्ञ हैं। यद्यपि पशु अनेक हैं, फिर ये तीन ही मेध क्यों हुए ? यह मौलिक प्रश्न बात की तह तक पहुँचाता है। वस्तुतः मेध तत्त्व हिंसा नहीं है। यह तो प्रकृति की सृष्टि विद्या का विज्ञान है। **'मेधृ संगमने'** धातु से मेध शब्द बनता है। जिसका मेध किया जाय वह 'मेध्य' कहलाता है। संगमन का अर्थ है इकट्ठा करना, फैली हुई वस्तु को समेटकर एक केन्द्र के अधीन लाना। जैसे राष्ट्र की जो शक्ति बिखरी हुई हो, उसे यदि एक केन्द्र में घनीभूत कर दिया जाय तभी वह शासन के योग्य बनती है। जन-जन में फैली हुई शक्ति का संगमन या मेध न हो तो राज्य या शासन की व्यवस्था हो ही नहीं सकती। ऐसे ही सृष्टि विज्ञान में सूर्य की शक्ति है। सूर्य के निर्माण से पहले वह विद्युत् शक्ति विशाल आकाश में बिखरी हुई थी। उस समय वह साम्यावस्था में थी। विद्युत् की तरंगों के संतत कम्पन से वह शक्ति एक केन्द्र में संचित हुई। उस केन्द्र की संज्ञा सूर्य हुई जहाँ से ताप और प्रकाश के रूप में वह शक्ति फैल रही है। सूर्य की रश्मियाँ उसके अश्व हैं। उन्हें ही गौएँ भी कहते हैं। सूर्य के शरीर में जो शक्ति है उसका निरन्तर वितरण हो रहा है। सूर्य रूपी अश्व का यह अश्वमेधयज्ञ है जो सौर जगत् की बहु विधि गति का कारण है। सूर्य रूपी गौ के गोमेध से ही उसकी रश्मियाँ चारों ओर फैलकर सब पदार्थों की रचना कर रही हैं। सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से केवल तीन ही तत्त्व या मौलिक पदार्थ हैं—भूत (Matter), शक्ति (Energy) और मन (Mind)। प्रत्तेक जीवधारी में ये ही तीन तत्व हैं। इनमें मन या प्रज्ञान का भाग प्रज्ञा मात्रा, शक्ति का भाग प्राणमात्रा और भूतों का भाग भूतमात्रा कहलाता है। इन तीनों के स्रोत

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri Funding: MIDF

तीन हैं। पहला अव्यय पुरुष है जिससे मन या प्रज्ञा मात्रा का निर्माण होता है। दूसरा अक्षर पुरुष है जिससे प्राण शक्ति की धारा आती है। तीसरा क्षर पुरुष है जिससे पाँच भूत बनते हैं। कहा भी है—**क्षरः सर्वाणि भूतानि**। यों विराट् प्रकृति में जो अव्यय अक्षर क्षर हैं उनके मेध या यज्ञीय वितरण से ही प्रत्येक व्यक्ति में मन-प्राण-भूत के भाग आ रहे हैं। मूल शक्ति एक होते हुए उसकी अभिव्यक्ति तीन रूपों में हो रही है और फिर वे तीनों एक साथ मिलकर शरीर को चलाती हैं। यदि इन शक्तियों का मेध न हो तो कोई सृष्टि संभव नहीं। यही ब्रह्माण्ड और पिंड में मेध तत्त्व का स्वरूप है। यदि प्रज्ञामात्रा (मन), प्राणमात्रा (क्रिया) और भत-मात्रा (भौतिक अर्थ या देह या स्थूल शरीर पिंड) इन तीन शक्तियों का मेध या एकत्र समूहन न हो तो कोई सृष्टि या रचना सम्भव नहीं बन सकती। पिण्ड और ब्रह्माण्ड के संचालन के लिये मेध या शक्ति के केन्द्रीय संगमन, आलंभन या समूहन की अनिवार्य आवश्यकता है।

संसार में पशु तो अनेक हैं, किन्तु तीन ही मेध या यज्ञीय पशुओं का समालंभन किया जाता है। वस्तुतः स्थूल दृश्य भूत रूप को पशु कहा जाता है। पुरुष भी पशु है। 'यदपश्यत् तस्मात्पशुः।' मूल भूत प्रजापति का नाम अग्नि है। ब्रह्माण्ड व्यापी यच्चयावत् शक्ति की संज्ञा अग्नि है। अग्निः सर्वा देवताः; अर्थात् कहने को देवता अनेक हैं, पर अकेला अग्नि तत्त्व ही सब देवताओं का स्वरूप है। अग्नि तत्त्व ही गति तत्त्वकी संज्ञा है। गति तत्त्व ही सौर मंडल या संवत्सर के संचालन की एक मात्र कुंजी है। जहाँ अग्नि है वहीं ताप और प्रकाश या गति है।

विश्व का मूल उद्भाव गति तत्त्व है। काल ही गति तत्त्व है। वहीं सौर संवत्सर के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। इस सौर जगत् में सूर्य ही वह अश्व है जिसका निरन्तर मेध हो रहा है। सौर मंडल विराट् अश्वमेध है। इस अश्वमेध में सूर्य की रश्मियों का चतुर्दिक् वितान हो रहा है। यह रश्मियों की श्वेत चादर ही सूर्य रूपी अश्व की वपा है। इसी के अग्नि-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

होत्र से सूर्य या सौर मंडल का जीवन संभव बन रहा है। सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से न कहीं कोई अश्व है, न उसकी हिंसा है और न कोई अन्य वपा होम है। सभी कुछ आधिदैविक विज्ञान के प्रतीक हैं। प्रतीकों की जब कभी कल्पना की जायगी वह स्थूल ही होगी। स्थूल भूतों की शब्दावली ही विज्ञान के प्रतीक या सांकेतिक अर्थों का विधान करती है।

पुरुष, गौ और अश्व-इन तीन पशुओं के स्वरूप को और भी स्पष्टता से समझा जा सकता है। यदि हम गणित के वृत्त की कल्पना करें तो उसका सम्पूर्ण अस्तित्व केन्द्र, व्यास और परिधि के रूप में आ जाता है। केन्द्र में सब गतियों की समष्टि है अर्थात् गति का नितान्त अभाव है। केन्द्र सर्वथा अविचाली तत्त्व है। केन्द्र स्थिति का प्रतीक है। केन्द्र से परिधि की ओर जो गति है वही वास्तविक गति है। परिधि से केन्द्र की ओर जो गति आती है वही आगति कहलाती है। स्थिति-गति-आगति ये तीन भेद एक ही मूलभूत गति तत्त्व के हैं। बस यही नियम सारे विश्व में भी है। इनमें से स्थिति या प्रतिष्ठा को ब्रह्मा, गति को इन्द्र और आगति को विष्णु कहा जाता है। ये भी वैज्ञानिक परिभाषाएँ ही हैं। इन्हीं को नामान्तर से पुरुष, अश्व और गौ के प्रतीकों द्वारा प्रकट किया जाता है। ब्रह्मा या प्रतिष्ठा तत्त्व पुरुष है। केन्द्र से बाहर की ओर गति अश्व है। इसीलिए इन्द्र का सम्बन्ध अश्व पशु से विशेष है। इन्द्र अपने अश्व वाहन पर सवार होकर ही गति कर सकता है। बाहर से या परिधि से केन्द्र की ओर आगति की संज्ञा गौ है। विष्णु का घनिष्ट सम्बन्ध गौ से है। यह त्रेधा विभाग प्रत्येक परमाणु में और विराट् ब्रह्माण्ड में सर्वत्र संतत क्रियाशील है। पुरुष, अश्व और गौ तीनों ही अग्नि प्रजापति के रूप हैं। मूलभूत पशु तो अग्नि ही है। (अग्निर्ह्येष यत्पशवः, शतपथ ब्राह्मण ६।२।१।१२)। देव तत्त्व प्राण या अग्नि तत्त्व का नाम है। विराट् विश्व में दो ही तत्त्व हैं, एक प्राण या गति तत्त्व (Energy) और दूसरा भूत तत्त्व (Matter)। प्राण को देव और भूत को पशु कहते हैं। जो स्थूल या दृश्य है वही पशु

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। सृष्टि का नियम है कि प्रत्येक केन्द्र में देव या प्राण पशुरूप में और पशु प्राण या देवरूप में परिणमित हो रहा है। अन्न भूत या पशु है। उसकी प्राण में आहुति होकर वह शक्ति स्वरूप बन जाता है और पुनः उस शक्ति से शरीर के स्थूल मांसादि या पशु भाग का निर्माण होता है।

प्राण या देव से पशु का निर्माण एवं भूत या पशु से देव या शक्ति का निर्माण होता है। इसे ही यज्ञ कहते हैं। शरीर यज्ञ में स्वतः प्रकृति अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान कर रही है। उन्हीं की प्रतिकृति वैधयज्ञ हैं वहाँ हिंसा का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। वह सृष्टि विद्या की प्रतीकमयी भाषा है। किसी भी शरीर में पशव्या चिति वही है जो स्थूल रस असृक् मांस मेद अस्थि मज्जा शुक्र की धातु चिति है। इसी पशव्या चिति के आधार पर देव या प्राण की चिति होती है। भूत की सहायता से ही या भूत के आधार पर ही प्राण या देव की अभिव्यक्ति होती है। पशु विज्ञान को वैदिक सृष्टि विद्या के धरातल पर समझना होगा, अन्यथा अनेक विप्रतिपत्तियों का समाधान संभव न हो सकेगा। संसार में पशु तो असंख्य हैं, पर यज्ञीय पशु पाँच ही हैं—पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज। ऐसा क्यों है? इस प्रश्न का समाधान साधारण युक्ति या हेतु से नहीं हो सकता। इसके लिये वैज्ञानिक रीति से सृष्टि विद्या की व्याख्या ही एकमात्र समाधान का कारण हो सकता है। किसी को जिह्वा लोलुपता से मांस भक्षण करना ही हो तो पेचीदा विधि विधान से भरे हुए याज्ञिक कर्मकाण्ड के पचड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता है? वह तो बहुव्यय साध्य टेढा मार्ग है। अतएव **'उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः'** अर्थात् उषा मेध्य अश्व का मस्तक है इस प्रकार के वाक्यों का अर्थ मारकाट या हिंसा परक सम्भव ही नहीं है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१२. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (ऋग्वेद)

यह जगत् अनन्त रूपों का भंडार है। श्री हार्ट की परिभाषा के अनुसार जिस वस्तु का ज्ञान होता है अथवा जो वस्तु उत्पन्न हुई है वे सब मूर्तियाँ या मूर्त रूप हैं।[1]

मूर्त रूपों की समष्टि ही जगत है। प्रजापति के दो रूप कहे गये हैं— मूर्त और अमूर्त। अमूर्त का मूर्त में आना यही सृजन कार्य है, जो सृष्टि के आदि से चल रहा है। नाना रूप देश और काल में उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न हो चुके हैं, उत्पन्न हो रहे हैं, एवं भविष्य में भी यही क्रम चलता रहेगा। ये जितने रूप हैं, सब जिस स्रोत से प्रकट हुए हैं, वह प्रतिरूप है। ये प्रत्येक रूप जिसकी अनुकृति हैं वह मूल प्रतिरूप स्वयं अमूर्त होते हुए भी सब रूपों की समष्टि है। ये रूप नकल हैं; वह जो असल है वह प्रतिरूप है। वह प्रतिरूप ही रूप-रूप में परिणत हो गया है। वह प्रतिरूप मूल प्रतिबिंब है जिसकी छाया से सब रूप बने हैं।

वह प्रतिरूप एक है। उसमें नाना भाव नहीं। वह किसी एक रूप के साथ तदाकार नहीं होता; क्योंकि सभी रूपों के साथ उसका तादात्म्य है। वह मूल प्रतिरूप अमिट है। देश और काल से वंचित नहीं होता। नकल बनती और बिगड़ती है। उस मूल या असल का सत्य रूप कभी परिवर्तित नहीं होता। असल एक होता है। उसकी नकल या नमूने अनेक हो सकते हैं। प्रतिरूप एक था, रूप अनेक हैं। प्रतिरूप अमृत था, रूप मर्त्य हैं। प्रतिरूप अपरिवर्तनशील था, रूप परिवर्तनशील हैं। उस एक प्रतिरूप में सब रूपों का अन्तर्भाव है।

---

1. Any thing known of born is an image.

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सब व्यक्त भावों की संज्ञा रूप है। जितने व्यक्त भाव हैं, अव्यक्त से उत्पन्न हुए हैं और अव्यक्त में लीन हो रहे हैं। गणित के शब्दों में कल्पना करें तो जितने अंक हैं सब रूप हैं। सब अंकों की समष्टि शून्य है। शून्य में सब अंकों का अन्तर्भाव है। ऐसा कोई अंक नहीं जो शून्य में न हो। स्वयं शून्य रूपहीन या अणु है। अत एव यह भी चरितार्थ होता है कि जो सब रूपों को अपने में धारण करता है वह स्वयं अणु है। दूसरा उदाहरण लें। एक ओर की गति गति है। जिस दिशा में वह प्रयुक्त होती है उस दिशा में उस ओर उसके व्यक्त भाव को हम देखते हैं। किन्तु सब गतियों की समष्टि का नाम स्थिति है। जिस पदार्थ पर सब ओर से वेग और गतियाँ केन्द्रित होती हैं वह स्थितिभावापन्न हो जाता है। इस प्रकार एक-एक वर्ण का अपना-अपना रूप है, किन्तु सब वर्णों की समष्टि स्वयं अवर्ण या रूपहीन हो जाती है। सूर्य की रश्मियों के पृथक् पृथक् वर्ण हैं, पर उनकी समष्टि का वर्ण श्वेत होता है। इस प्रकार विश्व के सब रूप जिस एक बिन्दु में केन्द्रित होते हैं, वह मूल सत्र का प्रतिरूप है। उसे गुहानिहित या रूपशून्य कह सकते हैं।

जो शून्य है उसी की संज्ञा वज्र है। रूप या नकल विकृत हो सकती है, वह बिगड़ती रहती है। रखनेवाले के मन, प्राण औद वाक् की शक्ति के अनुसार उसका नाश या विकार होता है, किन्तु इस विश्व में जो एक अचिन्त्य अप्रतर्क्य प्रतिरूप है वह वज्र की भाँति दृढ़ है। जिसे अन्य कोई वस्तु पराभूत न कर सके वही वज्र कहा जाता है। वही प्रतिरूप वज्र है, क्योंकि वह देश और काल से पराभूत नहीं होता। वह अमूर्त है; उसी का एक अंश रूप या नकल में आ पाता है। सब रूपों से कहीं अधिक महान् अप्रघृष्य वह प्रतिरूप या मूल प्रजापति है जिसके विषयमें कहा जाता है—'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः।' वह असल किसी नकल से दबता नहीं। वह सबके ऊपर, सबसे ठाढ़ा, सबका विधायक, स्वयं अमिट ध्रुव सत्तावाला, ऊँचे वृक्ष की भाँति समस्त अन्तराल को अपने वितान से घेर कर खड़ा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। वह स्वयं सिद्ध है और सर्वप्रत्यक्ष है। विश्व का कोई भाग या कोई रूप उसके वितान से बचा नहीं। वह प्रतिरूप अन्तर्यामी और सूत्रात्मा इन दो रूपों से सब रूपों में आता है। उसका जो अव्यक्त अमृत भाग है वह प्रत्येक पिंड पदार्थ या रूप में प्रविष्ट अन्तर्यामी अंश है। उसका जो मूर्त या व्यक्त भाग है वही प्रत्यक्ष पिंड का सूत्रात्मा है। एक सूक्ष्म है, दूसरा स्थूल। एक को अन्तःस्थिति और दूसरे को बाह्यस्थिति कहा जाता है।

प्रत्येक रूप का स्थूल उपादान जगत् के आदि कारण उसी प्रतिरूप से आया है और उसका सूक्ष्म भाग भी वहीं से आता है। प्रतिरूप से रूप भाव में आने के लिये सूक्ष्म और स्थूल ये दो धागे हैं। विश्व के जितने रूप हैं सबमें ये पिरोये हुए हैं। यही सब रूपों की एकतानता है। सृष्टि के आदि से नाना प्रकार के पुष्प, लता, वृक्ष, वनस्पति आदि उत्पन्न होते रहे हैं और हो रहे हैं। उनमें जो सादृश्य है उसका कारण यह है कि देश और काल का व्यवधान होने पर भी उन सब में एक ही अन्तर्यामी और एक ही सूत्रात्मा पिरोया हुआ है अर्थात् जो मूलभूत प्रतिरूप है उससे निर्गत सूक्ष्म और स्थूल के नियम सर्वत्र सब काल में एक समान व्याप्त होते रहे हैं।

वैदिक परिभाषा में केन्द्र बिन्दु को हृदय कहते हैं। जो हृदय है वही प्रजापति कहा जाता है। जो केन्द्र है वह एक है। एक केन्द्र से नाना परिधि का आविर्भाव होता है। नियम है—'**एकं वा इदं विबभूव सर्वम्**।' एक ही सर्व हुआ है। एक प्रतिरूप सर्वरूप बना है।

शिल्पी निर्माण की इच्छा से जब ध्यान करता है, उसके ध्यान में सर्व रूप समाविष्ट रहते हैं। उसका प्रज्ञान या मन जब एक रूप को पकड़ता है तो वही रूप स्फुट हो कर चित्र या पाषाण में अभिव्यक्त हो जाता है, शेष रूप हट जाते हैं। समस्त रूपों की समष्टि में से जब एक रूप को शिल्पी एक बिन्दु पर प्रकट कर देता है, वहीं शिल्प की अभिव्यक्ति हो जाती है। उस रूप में अपने प्रतिरूप की जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति होगी, उतनी ही

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

श्रेष्ठ वह शिल्पकृति मानी जायगी। रूप वही अच्छा है जो अपने प्रतिरूप का अधिकतम परिचय दे सके, जिस में उसका सर्वोत्तम दर्शन मिल सके। वही शिल्पकृति विश्वरूप या प्रतिरूप के अधिक निकट है जिसमें व्यक्ति का रूप कम से कम हो। व्यक्ति का रूप एक से परिच्छिन्न, सीमित, होता है। वह समष्टि से अधिक से अधिक विच्छिन्न रहता है। व्यक्ति विशेष की प्रतिकृति मूर्ति (शबीह) की यही स्थिति होती है; वह मानो विश्वात्म भाव से दूर रहती है। यही उसके रूप की दरिद्रता है, अथवा उसकी भावाभिव्यक्ति की सीमा है। भारतीय शिल्प में प्रतिकृति को इसी कारण अस्वर्ग्य कहा गया है। वह जड़ या मर्त्य भाव से आक्रांत होती है और नितान्त पार्थिव एवं स्थूल होती है। जैसे व्यक्ति देश और काल दोनों में सीमाबद्ध है, ऐसे ही भाव जगत् में उसकी प्रतिकृति भी विजड़ित होती है।

जो प्रतिरूप है उसकी सब से अधिक अभिव्यक्ति प्रतीक द्वारा ही की जा सकती है। प्रतीक का ही अपर नाम लिंग या केतु है। प्रतीक ही अमूर्त की सच्ची मूर्ति है। लिंग में व्यक्तिगत रूपों का अभाव होने से वह प्रतिरूप के सब रूपों को प्रकट कर सकता है। एक-एक रूप तो एक-एक मूर्ति से प्रकट किया जा सकता है, किन्तु सर्वरूपमय प्रतिरूप की अभिव्यक्ति लिंग मूर्ति से ही हो सकती है। जो स्वयं मूर्त भाव से कम से कम आक्रांत होता है वही प्रतिरूप का सबसे अधिक परिचायक है। भारतीय शिल्पी ने व्यक्तियों की प्रतिकृति या रूपों से मोह करना नहीं सीखा। उसके शिल्प का निर्माण उस भाव जगत् में होता है जिसमें वह सर्वरूप का ध्यान करता है। सर्वरूप का तात्पर्य समाजव्यापी परिनिष्ठित रूप से है, व्यक्ति-विशेष के सादृश्य से नहीं। युग विशेष में स्त्री-पुरुषों के प्रतिमानित सौंदर्य का ध्यान करके भारतीय शिल्पी उसे चित्र या शिल्प में प्रयुक्त करता है। व्यक्तिविशेष के रूप को वह अपने तक्षण या चित्र में नहीं उतारता। वह तो समाज में आदर्शभूत सर्वरूपों का एक बिम्ब कल्पित करता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रूपकी वह भाँति युग की भाँति बन जाती है। मथुरा की यक्षीप्रतिमाएँ स्त्रीविशेष की प्रतिकृति नहीं। वे नारी-जगत् की आदर्श प्रतिकृति हैं। जो रूप उस देश में और उस काल में शिल्पी के मन में निष्पन्न हुआ वही इन रूपों में मूर्त हुआ है। बुद्ध मूर्ति देश, काल में जन्मे हुए ऐतिहासिक गौतम की प्रतिकृति नहीं है। वह तो दिव्य भावों से संपन्न रूप है। योगी के अध्यात्म गुणों से युक्त पुरुष की जो आदर्श आकृति हो सकती है वही बुद्ध की मूर्ति है।

गुणों की समष्टि की संज्ञा देवता है। उसका रूप मर्त्य पिंड के सौंदर्य पर निर्भर नहीं। वह तो दिव्य अमृत भावों से संपन्न होनेवाला रूप है। मानव का एकत्व भाव उसका मर्त्यभाव है, वह उसकी खंड स्थिति है। समष्टि में विलीन हो जाना ही अमृत भाव है। अतएव मर्त्य मानव के स्थान पर समष्टिगत मानव रूप ही भारतीय चित्र और शिल्प में पूजित हुआ है। देवता, राजा, ऋषि, योगी, अंतःपुर के परिचारक जन—ये सब समष्टि के अथवा आदर्श लोक के प्रतिनिधि बन कर शिल्प में मूर्त होते हैं। वे सब व्यक्ति रूप न हो कर प्रतीक रूप हैं। ऐसे ही पशु, पक्षी भी व्यक्तिगत सीमाभाव से विरहित समष्टि के प्रतीक या प्रतिनिधि रूप में ही चित्रित किये जाते हैं।

भारतीय शिल्पी का मन नितान्त सीमित या वैयक्तिक प्रतिकृति शिल्प में उल्लसित नहीं होता। यहाँ प्रतिकृति का अंकन अस्वर्ग्य माना गया है। यह तथ्य इसी दृष्टिकोण पर अवलम्बित है कि व्यक्ति का स्वतन्त्र रूप या सौंदर्य सीमाभाव में बद्ध होने के कारण प्रवाह से विरहित या खंडित हो जाता है। खंड भाव में मृत्यु का निवास है। जहाँ मृत्यु की छाया है, वहाँ आनन्द रूप अमृत की अनुभूति नहीं होती। आनन्द या अमृत की संज्ञा ही रस है। परिशुद्ध भारतीय परम्परा में उस अर्थ में प्रतिकृति के चित्रों के लिये स्थान नहीं है जिस अर्थ में आज हम ऐसे चित्रों को लेते हैं। किन्तु भारतीय विचारधारा शत पथों से प्रतीक की उपासना करती है। प्रतीक की ही वैदिक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

संज्ञा 'केतु' है। कहा गया है कि प्रत्येक प्रतीक सृष्टि के उसी महान देव का 'केतु' या चिह्न है—

देवं वहन्ति केतवः

हम अपने चारों ओर भूतसृष्टि में जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं वह सब उसी देवाधिदेव के प्रतीक रूप में उसी की महिमा को व्यक्त कर रहा है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, आकाश, पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, बिन्दु, रेखा, त्रिकोण, चतुष्कोण, सब उस देव के शिल्प हैं और उसी के रूप की प्रतीति करानेवाले प्रतीक हैं। भारतीय प्रतीकों का अपरिमिति विस्तार है। नाना भाँति के अलंकरण, वृक्ष और वनस्पति, पुष्प और लताएँ, पशु और पक्षी, सब प्रतीक रूप में ही कला की कृतियों में स्थान पाते हैं। पूर्ण-घट, चक्र, त्रिरत्न, स्वस्तिक, नन्दिपद, वर्धमान, देवगृह, रत्नपात्र, माल्यदाम, मीनयुगल, श्रीवत्स, कौस्तुभ आदि जो अनेक मांगलिक चिह्न हैं, वे भी उन प्रतीकों के रूप हैं जिन्हें मानव की कलात्मक भाषा ने शिल्प में सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिये कल्पित किया है। ये चिह्न कला की भाषा के लिये उस वर्णमातृका के समान हैं जो अर्थ की प्रतीति के लिये आवश्यक है। अनन्त अर्थ को आत्मसात् करने के लिये वाणी ही एक मात्र साधन है, यद्यपि इस साधन की भी सीमाएँ हैं। क्यों कि अमूर्त अर्थ को मूर्त शब्दों द्वारा समग्र रूप में पकड़ पाना असंभव ही है, अतएव अन्ततोगत्वा प्रत्येक शब्द अपने अर्थ का प्रतीक मात्रा ही बन कर रह जाता है।

कला और काव्य दोनों ही का उपजीव्य भावलोक है। भाव सृष्टि से ही आरंभ में गुण सृष्टि का जन्म होता है और फिर भाव और गुण दोनों की समुदित समृद्धि भूतसृष्टि में अवतीर्ण होती है। भाव सृष्टि का संबंध मन से, गुणसृष्टि का प्राण से और भूत सृष्टि का स्थूल भौतिक रूप से है। इन तीनों की एकसूत्रता से ही लौकिक सृष्टि संभव होती है। इन तीनों के ही नामान्तर ज्ञान, क्रिया और अर्थ हैं। ज्ञान या मन से जब क्रिया या

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राण छन्दित होता है तभी अर्थ या भूत मात्रा का जन्म होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थूल भौतिक पदार्थ या शिल्पकृति भावों का एक प्रतीक मात्र है। इस प्रकार का प्रत्येक प्रतीक एक-एक रूप है जो विश्व के अनन्त अमूर्त अर्थों का मूर्त परिचायक बना हुआ है। इस प्रकार शब्द और अर्थ का, मूर्त और अमूर्त का अतिरमणीय विधान हमारे चारों ओर फैला हुआ है। वस्तुतः इसीके ओतप्रोत भाव का नाम विश्व है। इसमें मूर्त के अन्दर बैठा हुआ अमूर्त, अमृत अर्थ प्रतिक्षण झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है; अथवा यों कहें कि जो अनिरुक्त अर्थ है वह निरुक्त या अभिव्यक्त मूर्ति के द्वारा प्रकट हो रहा है।

किसी वस्तु को देखने की तीन दृष्टियाँ मानी गई हैं—**शिरोमूला, पादमूला, और चक्षुमूला**। सूक्ष्म से स्थूल की ओर आना शिरोमूला दृष्टि है, इसे ही **ज्ञानदृष्टि** या **संचरदृष्टि** भी कहते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना अर्थात् स्थूल प्रतीक के द्वारा सूक्ष्म अर्थ तक पहुँचना, यह **पादमूला** दृष्टि है। इसे ही प्रतिसंचर क्रम या विज्ञान का दृष्टिकोण कहते हैं। तीसरी दृष्टि वह है जिसमें स्थूल और सूक्ष्म अथवा ज्ञान और विज्ञान, इन दोनों का समन्वय पाया जाता है, इसे **चक्षुमूला** दृष्टि कहते हैं। यह मध्य पतित दृष्टि ही समन्वय की दृष्टि है, जिसे गीता में **ज्ञानविज्ञान-समन्वित दृष्टि** कहा है। वस्तुतः उत्तम कला के साथ इसी दृष्टिकोण का संबंध है। इसमें आन्तरिक भाव और बाह्यरूप दोनों में सौंदर्य का संतुलित विधान पाया जाता है।

शब्दसौंदर्य और अर्थसौंदर्य दोनों एक-दूसरे के साथ जहाँ समन्वित रहते हैं उसी श्रेष्ठ स्थिति को कवि ने वागर्थ से संपृक्त काव्य का आदर्श कहा है। जैसे काव्य में वैसे ही कला में भी आभ्यंतर अर्थ और बाह्यरूप, दोनों का जहाँ एक समान रमणीय विधान हो, वहीं श्रेष्ठ कला की अभिव्यक्ति है।

गुप्त कला इसका उदाहरण है। उसमें बाह्यरूप की पूर्ण मात्रा को अनुप्राणित करनेवाला जो अर्थसौंदर्य है, वह शब्द का अद्भुत या विलक्षण

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रूप प्रस्तुत करता है। शिल्पी या चित्राचार्य अलंकरण संभार से संनतांगी कलाकृतियों का निर्माण कर के ही परितृत नहीं हुए। उनकी कृतियाँ उस सविशेष अर्थ से प्राणवन्त हैं जो बुद्ध के अनुत्तर ज्ञान एवं शिव की समाधि से अथवा लोकसंरक्षण में व्यापृत परमेष्ठी विष्णु के अहर्निश संवेदनशील स्वरूप से भावापन्न या ओजस्विनी बनी है। उन कलाकृतियों में कितनी रमणीयता, कितनी सजीवता और कितना अनन्त अक्षुण्ण आकर्षण है, इसे किस प्रकार कहा जाय! उनके सान्निध्य में स्थूल सीमाभाव विगलित हो जाता है और मन दिव्य भावों के लोक में विलक्षण आनन्द, शान्ति और प्रकाश का अनुभव करता है। इस अमृत आनन्द या रस तक जो पहुँचा सके वही चिरंतन काव्य और कला है।

ऊपर कही हुई तीन दृष्टियों में से चाहे किसी भी दृष्टि को व्यक्तिगत रुचिभेद के कारण हम स्वीकार करें, किन्तु सर्वोपरि सत्य वही रहता है। जो स्थूल रूप, शब्द या कलाकृति है वह उसी का एक प्रतीक है। इस विषय में जो कोई एक देव सहस्रधा महिमाओं से सर्वत्र, सर्वदा प्रकट हो रहा है, उसी की महिमा के परिचायक ये सब प्रतीक हैं। इनके अस्तित्व की और कोई सफलता नहीं। सब का पर्यवसान उसी एक लक्ष्य में है। नाना रूप उसी एक प्रतिरूप का संकेत कर रहे हैं। किन्तु फिर भी उसकी महिमा प्रख्यात करने में ये पर्याप्त नहीं हैं। विश्व के रोम-रोम से यही महान् प्रश्न उठ रहा है—

कतमः स केतुः ?

'कौनसा वह केतु है? कौनसा वह केतु है?' इन समस्त प्रतीकों से प्रतीयमान, इन समस्त रूपों से आविर्भूत वह केतु, प्रतीक या प्रतिरूप कहाँ है? उस समग्र की प्राप्ति क्या संभव है? क्या ये रूप उस प्रतिरूप के अनन्त सौंदर्य, उसकी अनन्त महिमा और उसके अनन्त आनन्द और ऐश्वर्य को पर्याप्त रूप से प्रकट कर सकते हैं? यही कहना पड़ता है कि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्थूल रूप और शब्द अपर्याप्त हैं। वे संकेत मात्र हैं, जो निरन्तर उस देवात्मक ज्योति की ओर संकेत कर रहे हैं—

देवं वहन्ति केतवः

विश्व के अप्रतर्क्य, तमोभूत, अप्रज्ञात पूर्व युग में जब अव्यक्त से व्यक्त भाव का उद्गम हुआ, अमित ने अपने आपको मित भाव में परिवर्तित किया, जब शान्त रस रूप महासमुद्र के गर्भ में स्पंदनात्मक बलों का जन्म हुआ और उन बलों के ग्रंथि-बन्धन से हिरण्यमय सौर तेज की अभिव्यक्ति हुई, तब से आज तक देवशिल्पी की उसी परम्परा में अनेक प्रतीकों का अजस्र निर्माण होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। प्रत्येक प्रतीक की संज्ञा हिरण्य तत्त्व है। वैदिक परिभाषा में अव्यक्त का व्यक्तभाव में आना ही हिरण्य है। देश और काल में जितने भी व्यक्तभाव हैं व्यक्तीकरण की एक ही मूल धारा से जुड़े हुए हैं। सबके केन्द्रों में एक ही सूत्र पिरोया हुआ है। जहाँ कहीं, जो कुछ भी निर्मित होता है या व्यक्त रूप प्राप्त करता है, वह विश्व के उसी अन्तर्यामी सूत्र के साथ जुड़ जाता है, जिसके प्रभाव से अव्यक्त और व्यक्त की यह महती प्रक्रिया सब ओर वितत है। जो तत्त्व इतना महान् है, जो सब के मूल में है, प्रश्न होता है कि उसे आत्मसात् करने के लिये मानव के पास क्या उपाय है? इस प्रश्न का एक ही उत्तर संभव है और वह यह है कि रूपों के माध्यम से ही प्रतिरूप को समझना और पाना है। प्रतीकों के द्वारा ही देव की निगूढ़ आत्मशक्ति को पहचाना जा सकता है। हम एक भी भूत या स्थूल रूप का निराकरण नहीं कर सकते। हमें अपने समस्त कलात्मक विधानों की शक्ति से, उनकी रूप-संपादन-समृद्धि से इन समस्त प्रतीकों को सजाना है। इन्हें सुन्दरतम बना कर इन्हीं में उस प्रतिरूप के दर्शन करने हैं—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः

धीर इन्हीं भूतों में उसे ढूँढते और पहचानते हैं।

यही कला का दिव्य संदेश है और यही उसकी सार्थकता है और यही

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मानव-जीवन के साथ उसका शाश्वत अमिट संबंध है। जिसका धागा कभी टूट नहीं सकता। इस प्रकार इन स्थूल रूपों या भूतों में उस देव को पहचानने की सार्थकता यह है कि इनके अभ्यन्तर में निगूढ़ उस देव को पहचानने के लिये इन्हें अनन्त प्रकार से सजाना और संवारना है। जब-जब भी मानव-जीवन और कला का यह नित्य पारस्परिक संबंध शिथिल या ओझल हो जाता है तभी कला का ह्रास और जीवन की हानि होती है। अतएव उत्तम स्थिति वह है जिसमें मानव हृदय दिव्य आनन्द और अमृत ऐश्वर्य के भावों से आनन्दोलित होता है और प्राणों की उस व्याकुलता के अनुरूप शान्ति के लिये अपने चतुर्दिक् स्थूल या भौतिक प्रतीकों को रूप-संपन्न बनाता है। उसकी यह साधना ही उत्तम जीवन और महती कला को जन्म देती है।

काल के सतत प्रवाही क्रम में बारंबार कला के लिये प्राणवन्त युगों का आवाहन करना होगा और ऐसा करते हुए मानव स्वयं अपने ही केन्द्र की किसी अमृत प्रेरणा की पूर्ति करेगा।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१३. जिज्ञासा

मैं कौन हूँ, यह सृष्टि क्या है, इसका बनाने वाला कौन है, यह कब बनी और कब इसका अन्त होगा, मैं स्वयं भविष्य में रहूँगा या नहीं, मैं सुखी क्यों हूँ, प्राणी दुःखी क्यों हैं, उनके कर्मों का फल होता है या नहीं, सच्चा सुख क्या है, मनुष्य का प्रकृति के साथ क्या सम्बन्ध है, इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान विश्वास के योग्य है या नहीं—इस प्रकार के असंख्य प्रश्नों की जिज्ञासा से दार्शनिक विचार का जन्म होता है। मनुष्य को जब से अपने इतिहास का ज्ञान है, तब से आज तक कोई समय ऐसा नहीं हुआ, जब उसकी मननात्मक प्रवृत्ति ने उसे चैन से बैठने दिया हो। विचारों का बवंडर न केवल संसार के दुःखों से पीड़ित प्राणी को ही झकोरता है, वरन् कभी कभी सब प्रकार से सुखी मनुष्य के मन में भी उथल पुथल मचा डालता है। यह आँधी जितनी बलवती होती है, उतनी ही गहराई से मनुष्य विचार करने पर विवश होता है। 'कस्त्वं कोऽहम्' की मीमांसा मनुष्य के लिये उतनी आवश्यक है, जितनी अन्न वस्त्रादिक के द्वारा उसकी सामन्य रहन सहन। गौतम बुद्ध के जीवन से हम इस नियम का सत्य समझ सकते हैं। एकछत्र राज्य का अपरिमित वैभव जिस विलास की सामग्री को उपस्थित कर सकता है, उसके बीच सुकुमारता से पले हुए राजकुमार सिद्धार्थ को कोई भी प्रलोभन विषयोपभोग के बन्धन में बाँधकर नहीं रख सका। जिस समय मनुष्य के मन में ऊपर कहे हुए विचारों का चक्र चलता है, विषयों का मधुर आस्वाद उसे विष के समान जान पड़ता है। विचारों की वह झंझावात की सच्ची जिज्ञासा है। इस प्रकार की जिज्ञासा ही दर्शन की जननी है। यह जिज्ञासा दिव्य अग्नि के समान है। इससे दग्ध मनुष्य का हृदय ही सत्य की प्राप्ति का एक मात्र पुण्य स्थल है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भारतीय दर्शन का सूत्रपात्र करनेवाले-मनीषियों ने जिज्ञासा को बड़ा महत्व दिया है। 'जिज्ञासु' पद हमारे यहाँ एक विशेष अधिकार को सूचित करता है। जो जिज्ञासु नहीं है, जिसमें 'जानने' की भूख नहीं है, वह दार्शनिक ज्ञान का अधिकारी नहीं माना जा सकता। बहुधा जब हम अपने सम्बन्ध से अथवा अन्य किसी के सम्बन्ध से मृत्यु के नाटक के अति सन्निकट होते हैं, तब हमारी जिज्ञासा वृत्ति जगरूक हो उठती है और उस समय 'कस्त्वं कोऽहम्' के प्रश्न हमें सच्चे और आवश्यक जान पड़ते हैं। हमारे साहित्य में जिज्ञासा वृत्ति का सर्वोत्तम उदाहरण नचिकेता है। उसकी जिज्ञासा का उदय भी यम के सान्निध्य में होता है। नचिकेता (न+चिकेतस्) शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसके अन्दर जानने की उत्कट इच्छा हो परन्तु जो जानता न हो। जिज्ञासा के वर को नचिकेता सर्वश्रेष्ठ समझता है—

नान्यो वर स्तुल्य एतस्य कश्चित् [कठ उपनिषद् १।२२]

नचिकेता वाजश्रवा ऋषि का पुत्र था। एक बार ऋषि ने दक्षिणा में अपना सर्वस्व दे डाला। तब पिता से यह बार बार पूछने लगा कि 'मुझे किसको दे रहे हैं।' पिता ने रोष में कह दिया कि मैं तुम्हें मृत्यु को अर्पित करता हूँ। इस पर नचिकेता यम (मृत्यु) के पास चला गया। यम से उसने 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में कई प्रश्न किए। यम ने तरह तरह के प्रलोभन देकर इस जिज्ञासा को छोड़ देने के लिये उसे फुसलाया, किन्तु नचिकेता नें अपनी टेक न छोड़ी और तीन दिन तक निराहार रहकर निवास किया। अन्त में यम ने उसे 'ब्रह्म ज्ञान' का उपदेश दिया।

मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व है या नहीं, प्राणी का शरीर क्षणभंगुर है अथवा नित्य तत्त्व वाला है?—इस प्रश्न के समान अन्य कोई प्रश्न नहीं है, इसीलिये इस शंका के समाधान का वरदान सर्वोपरि है। नचिकेता के प्रलोभन के लिये यमराज उसके सामने अनेक कामनाएँ रखता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है—चिरजीवी पुत्र-पौत्र, बहुत से पशु-सवारियाँ, अमित धन-राशि, पृथिवी का राज्य, सुन्दर स्त्रियाँ, कल्पान्त आयु—जितने भी मर्त्यलोक के दुर्लभ काम हैं, हे जिज्ञासु, उनको अपनी इच्छानुसार तुम चुन सकते हो। यही वैभव तो गौतम बुद्ध के सामने भी था। परन्तु दार्शनिक प्रश्नों की मीमांसा इस लौकिक सामग्री से कभी सम्भव नहीं। नचिकेता ने जो उत्तर दिया था, वह उत्तर दार्शनिक संसार के प्रमुख तोरण-द्वार पर आज भी अमिट अक्षरों में लिखा हुआ है। यदि मनुष्य का मरण ध्रुव है, तो उसके लिए ये अनित्य पदार्थ किस काम के? इनसे इन्द्रियों का तेज क्रमशः क्षीण होता रहता है। जीवन की अवधि स्वल्प है, इसमें नृत्य गीत के लिये स्थान कहाँ? चाँदी और सोने के रुपहले-सुनहले टुकड़ों से कब मनुष्य का पेट भरा है *? सुनहरी दलदल में पड़ने से पहले ही उस महान् प्रश्न का समाधान ढूँढ़ने का प्रयत्न करना उचित है।

यह मनः स्थिति ही सच्ची जिज्ञासा है। हमारे दार्शनिक साहित्य में कठ उपनिषद् का नचिकेता–उपाख्यान इसलिए महत्त्वपूर्ण है। जितने ज्वलंत रूप में दार्शनिक जिज्ञासा का परिचय हमें यहाँ मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। इस बात में संदेह है कि संसार के दार्शनिक इतिहास में अन्य किसी भी देश में जिज्ञासा के महत्त्व और स्वरूप को समझने का ऐसा सुन्दर प्रयत्न किया गया हो। जिज्ञासा के साथ दार्शनिक विचारों की उद्भावना व्योम विहारी पक्षिराज गरुड़ के उड़ान के सदृश है। बिना सच्ची जिज्ञासा के तत्त्व की उधेड़-बुन बुद्धि का कुतूहल-मात्र रह जाता है। दिमाग की पैंतरेबाजी से जिस दर्शन का जन्म होता है, उसे भारतीय परिभाषा के अनुसर 'दर्शन' कह सकना कठिन है। हम यह नहीं कहते कि इस प्रकार दिमाग पर जोर डाल कर दर्शन की सृष्टि यहाँ कभी नहीं की गई। हमारा आशय तो इतना ही है कि जिज्ञासा के बाद जो तत्त्व-ज्ञान

---

* न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः (कठ उपनिषद १।२७)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

की मीमांसा की जाती है, उसके और शुष्क दर्शन के भेद को अच्छी तरह समझ लिया जाय।

यदि उपरोक्त दो प्रकार की परिस्थिति में पनपने वाली दार्शनिक विचारधाराओं के भेद की गहरी छान-बीन की जाय तो हम दो परिणामों पर पहुँचते हैं।

पहला भेद तो दर्शन की परिभाषा से संबन्ध रखता है और दूसरा उसके फल से। यहाँ पर हमको दर्शन के लिये जो अँगरेजी शब्द है, उसके साथ भी परिचय प्राप्त करना चाहिए। अँगरेजी में दर्शन को Philosophy (फिलासफ़ी) कहते हैं। पश्चिम की अन्य भाषाओं में भी प्रायः यही शब्द व्यवहृत होता है। जिस प्रकार पाश्चात्य दर्शन का आरम्भ सर्व सम्मति से यूनान में हुआ, उसी प्रकार 'फिलासफ़ी' शब्द भी यूनानी भाषा से लिया गया है। यूनानी शब्द Philo-Sophia का अर्थ है ज्ञान का प्रेम। ज्ञान का तात्पर्य बुद्धिकृत मीमांसा से है। तत्संबन्धी रुचि ही Philosophy है। इसके विपरीत भारतीय शब्द है 'दर्शन', जिसका अर्थ है 'देखना' अर्थात् तत्त्व का साक्षात्कार करना। ज्ञान के जिस विवेचन में सत्य या तत्त्व को स्वयं न देखा जाय, उसे 'दर्शन' कहना कठिन है। वही तत्त्व सत्य है, जिसके संबन्ध में हम यह कह सकें कि वह हमारा साक्षात्कृत है, वह हमारे अनुभव का विषय है अर्थात् वह हमारा 'दर्शन' है। बुद्ध भगवान् अपने उपदेशों में इस बात पर बहुत जोर दिया करते थे कि मैं जिस बात का शास्ता हूँ, मैंने उसे स्वयं देख लिया है। जब तक किसी उपदेष्टा या ज्ञानी की ऐसी विश्वस्त स्थिति न हो, तब तक वह मानव जीवन के लिये असंदिग्ध या महत्त्वपूर्ण तत्त्व का व्याख्यान नहीं कर सकता। दर्शन का संबन्ध जीवन के साथ अति घनिष्ट है। जीवन में आत्मकृत अनुभव के बिना तेजस्वी दर्शन का जन्म नहीं होता। इस देश में तो जिस समय भी दर्शन की पहली ज्ञान रश्मियाँ प्रस्फुट हुई थीं, उसी समय यह बात जान ली गई थी कि दर्शन का अर्थ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

साक्षात्कार है। हमारी परिभाषा में प्राचीनतम ज्ञानियों का नाम ऋषि है। संस्कृत भाषा में जो अद्भुत निरुक्त शास्त्र की सामर्थ्य है, उसके द्वारा 'ऋषि' शब्द 'दार्शनिक' के अभिप्राय को यथार्थ रूप से प्रकट कर देता है। यास्काचार्य ने लिखा है—

ऋषिर्दर्शनात् (निरुक्त २। ११)

अर्थात् ऋषि शब्द का अर्थ है द्रष्टा (देखनेवाला)। शुष्क ऊहा-पोह करनेवाला तार्किक भारतीय अर्थ में 'दार्शनिक की पदवी का अधिकारी नहीं बनता। दार्शनिक बनने के लिये 'दर्शन' होना चाहिए, अथवा और भी पवित्र शब्दों में कहें तो ऋषित्व होना आवश्यक है। इस देश की परिपाटी के अनुसार जो व्यक्ति अपने आप को ज्ञान का अधिकारी कहे, उसे यह कहने की सामर्थ्य पहले होनी चाहिए कि 'मैंने ऐसा देखा है'। यजुर्वेद के शब्दों में सच्चा दार्शनिक वही है, जो यह कह सके— **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्'**, अर्थात् 'मैं इस महान पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य के समान भास्वर और तम से अतीत हैं।' **'मया श्रुतं'** कहने वाले के पास स्वयं अपने दर्शन का अभाव है। जीवन तो आत्मानुभव का नाम है। दूसरे के दर्शन से अपनी तृप्ति त्रिकाल में भी सम्भव नहीं।

हमारे साहित्य में दर्शन के लिये प्राचीन शब्द **'आन्वीक्षिकी'** भी था। चाणक्य के अर्थशास्त्र में विद्याओं का वर्गीकरण करते समय आन्वीक्षकी पद का प्रयोग किया है। आन्वीक्षिकी शब्द में भी [अनु+ ईक्ष] ईक्षण या देखने का भाव है। डा॰ बैटी हाइमान ने भारतीय विचारी-प्रणाली की विशेषता का अध्ययन करते हुए इन परिभाषात्मक शब्दों के विषय में ठीक लिखा है—

"यदि हम पाश्चात्य शब्द और उसके संस्कृत पर्याय पर विचार करें, तो दोनों का मौलिक भेद तुरन्त प्रकट हो जाता है। यूनानी शब्द का शब्दार्थ है 'ज्ञान का प्रेम' अर्थात् मानवी तर्क, उसका क्षेत्र, व्यावसायात्मक निश्चय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एवं विशेषता की परख। इसके प्रतिकूल संस्कृत शब्द 'आन्वीक्षिकी का तात्पर्य है पदार्थों का ईक्षण, अर्थात् सृष्टि के जितने पदार्थ हैं उनके मार्ग से चल कर तत्त्व वस्तु की खोज या तत्त्व-निदिध्यासन। संसार के पदार्थ हमारे ईक्षण का विषय इसलिए बनते हैं कि हम उनके द्वारा तत्त्व का ध्यान कर सकें, केवल पदार्थों की छान बीन या वर्गीकरण ही हमारा ध्येय नहीं"।

सच्ची जिज्ञासा के कारण जो 'कस्त्वं कोऽहम्' प्रश्नों की मीमांसा की जाती है, उसके अनुसार 'दर्शन' शब्द की परिभाषा का ऊपर स्पष्टीकरण किया गया है। दर्शन का मानव जीवन पर जो परिणाम या फल होता है, उसका भी जिज्ञासा के साथ गहरा सम्बन्ध है। जिज्ञासु के लिए दर्शन बुद्धि का कुतूहल नहीं। वह कमरे के भीतर बन्द होकर कुर्सी पर बैठा हुआ अपने कर्तव्य की इति श्री नहीं समझता। उपनिषद् में जो यह कहा गया है कि यह आत्मतत्त्व केवल मेधा, या बहुत विद्या पढ़ने (बहुश्रुत होने) से नहीं मिलता, वह जिज्ञासु मनोवृत्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने के लिये है। महाकवि जायसी ने इसी बात को सीधे सादे शब्दों में यों कहा है—

का भा जोग कथनि के कथे।
निकसै घिव न बिना दधि मथे॥

अर्थात् योग की कथा कहने-सुनने से क्या फल है? दही को मथे बिना घी नहीं निकल सकता। इसलिए भारतीय परम्परा के अनुसार दर्शन या साक्षात्कार की विधि ऐसी ही है, जैसे स्वयं दही मथकर घी निकालना। इस उक्ति से एक जीवन क्रम का परिचय मिलता है। दूसरे शब्दों में दर्शन का फल 'साधना है। साधना के ही नामान्तर 'तप' या 'व्रत' या 'दीक्षा' हैं। इसीलिए उपनिषदों ने कहा है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थात् सत्य, तप, सात्त्विक ज्ञान और नित्य निर्विकार रहने से ही आत्म तत्त्व का दर्शन हो सकता है।

ये बातें साधना की ओर संकेत करती हैं। जीवन में दर्शन का फल है साधना का उदय। साधना की भावना से सात्त्विकी श्रद्धा का जन्म होता है। प्रश्नात्मक जिज्ञासा को अश्रद्धा या श्रद्धा का अभाव नहीं समझना चाहिए। जिज्ञासा का अभाव अश्रद्धा है। जिज्ञास्य विषय को अपने अध्यवसाय की क्षमता से अनुभव का विषय बना सकना यही श्रद्धा का लक्षण है। आत्म विश्वास ही श्रद्धा है। जिज्ञासु को अपनी दृढ़ता में विश्वास होता है। यही उसका पाथेय है।

अपने में अविश्वास का होना अश्रद्धा का रूप है। प्रश्नों का उत्पन्न न होना तो तम या मूर्च्छा है। संदेह या प्रश्नों को परास्त करने की शक्ति ही जिज्ञासु की श्रद्धा कहलाती है। जिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर यदि जीवन के क्रम में परिवर्तन नहीं होता, तो मानो जिज्ञासु 'दर्शन' या साक्षात्कार के साथ अपना सीधा संबन्ध जोड़ने से बचना चाहता है। इस दृष्टि से दार्शनिक का जीवन एकान्ततः नैतिक बन जाता है।

दार्शनिक कैंट ने एक स्थान पर कहा है :—

'नीतिमय' जीवन का प्रारम्भ होने के लिये विचार-क्रम में परिवर्तन तथा आचार का ग्रहण आवश्यक है।'

भारतीय परिभाषा में इस प्रकार के जीवन-क्रम की संज्ञा तप है। इसीलिए तो यहाँ का प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय जीवन की एक न एक साधना की शिक्षा देता है। ज्ञान, कर्म, उपासना अथवा वेदान्त-सांख्य-योग सब के साथ एक-एक जीवन मार्ग का घनिष्ट संबन्ध है। इसी कारण भारतवर्ष में जीवन से विरहित कोई दर्शन नहीं पनप सका। जिस दर्शन का जीवन के साथ सब से घनिष्ट संबन्ध था, वही विचार यहाँ सबसे अधिक फूला फला।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१४. संप्रश्न

[तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या, ऋग्वेद १०।८२।३]

जिज्ञासा दर्शन की जननी है। उस जिज्ञासा के पथ अनेक हैं। उन सब मार्गों का पर्यवसान किसी एक अज्ञेय रहस्य में है। उसके विषय में महान्यग्रोधों के नीचे विराजमान हमारे पुराण-पुरुष जितना जान पाए थे; उससे कुछ भी अधिक आज तक के भगीरथ प्रयत्नों के द्वारा हम नहीं जान सके हैं। इस सृष्टि का क्या रहस्य है, इसका नियन्ता कौन है, इसका आदि क्या है, अन्त क्या है, इसके पीछे क्या ज्ञानमय हेतु काम कर रहा है ? ये प्रश्न आज के नहीं हैं अनेक वार पूछे जा चुके हैं। सर्व प्रथम गंगा की अन्तर्वेदी में इनका समुत्थान हुआ।

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानम् ? [ऋ० १०।१३०।३]

सृष्टि क्यों ? इसकी प्रमा क्या थी ? किस प्रतिमा या नमूने को लेकर सृष्टि कर्त्ता ने इसका सूत्रपात किया ? किस आयोजना या रचना विधि का अनुसरण यहाँ किया गया, पुनश्च किस निदान या उपकरण सामग्री से इनकी रचना की गई ? क्यों, कैसे और किससे—ये तीन महान प्रश्न हैं। इनके गर्भ में अनेक उत्तरों की आहुतियाँ पड़ती रही हैं, परन्तु ये प्रश्न आज भी पूर्ववत् बुभुक्षित हैं। ज्ञानतीर्थ के अगणित यात्री इन महादेवों के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि भेट कर चुके हैं, परन्तु इनका अन्तिम वरदान किसी एक को पूर्णतया मिल सका है, यह संदिग्ध है। अस्य वामीय सूक्त के ऋषि ने गिने हुए शब्दों में इसी महान् तत्त्व को ज्ञानसृष्टि के आदि में ही व्यक्त किया था—

कवीयमानः क इह प्रवोचत् ? (ऋ० १।१६४।१८)

क्रांत दर्शी प्रज्ञा से विचार करते हुए कौन अब तक उस रहस्य के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अन्त तक पहुँच सका, और कौन उसे कह पाया ? भारत के सर्व श्रेष्ठ मनीषी कवि थे। कवि ही उनकी ऋतम्भरा प्रज्ञा को व्यक्त करने के लिये सब से उपयुक्त शब्द है। कवि को प्राप्त होने वाले साक्षात् दर्शन को उन्होंने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। परन्तु इसलिए कि हममें से कभी कोई धोखे में न रहे कि रहस्य को जानने का अब अन्त हो गया है, उन्होंने स्वयं ही सचाई से अपनी मर्यादाओं को हमारे सामने रख दिया है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् ?

अर्थात् कौन जानता है, कौन कह सकता है ? ये उद्गार अगाध ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने वाले अनुभव की गम्भीरता और पूर्णता को ही प्रगट करते हैं, इनमें अशक्त मनुष्यों की निराशा का भाव नहीं है। अनन्त आकाश में महा बल्वान गरुड़ के समान ऊँची-से ऊँची उड़ान भरने पर भी उसका अन्त पाना कठिन है। कागभुशुण्डि जी ने ठीक कहा है—

तुमहिं आदि खग मसक प्रजंता।
नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अन्ता ॥

अपने पंखों से वायु मंडल को धुन देने वाले पक्षिराज गरुड़ को भी यदि आकाश की अनन्तता के आगे नत मस्तक होना पड़े, तो इससे केवल आकाश की ही महिमा प्रगट होती है, गरुड़ की क्षुद्रता नहीं।

विद्वद्वर मेंटरलिंक ने 'The Great Secret नामक ग्रन्थ में बड़े तेजस्वी शब्दों में लिखा है कि—नासदीय सूक्त के कर्ता ने जिज्ञासा और प्रश्न के मार्ग में, जितना हम कभी पहुँच सकेंगे उससे भी आगे बढ़ कर, निराशा और अश्रद्धा से हमारी रक्षा करने के लिये, पहले ही कह दिया है—

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् स अंग वेद
यदि वा न वेद।

अर्थात् इस सृष्टि के रहस्य को कौन जान पाया है, और कौन कह सका

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है ? जो इस सब प्रदर्शन का अध्यक्ष परम पद में प्रतिष्ठित है, वह भी इसे जानता है या नहीं, इसमें सन्देह है ? यह है भारतीय ज्ञान की चुनौती, जिसकी सत्यता आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के सहस्रमुखी प्रयत्नों द्वारा भी खण्डित नहीं हो सकी है। विज्ञान ने भूत सृष्टि के अपरमित विश्लेषणों द्वारा प्रोटन, इलेक्ट्रन, न्यट्रन, पाजीट्रन आदि रहस्यमय पदार्थों को हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया है, जिनका अवलोकन कर प्राचीन देवों का स्मरण हो आता है। परन्तु विश्व का रहस्य कहीं इन सबके पीछे छिपा हुआ है और जिस प्रकार ऋग्वेद के ऋषिने कहा है कि देवगण बाद में जनमे हैं अतएव उन्हें कर्ता के आद्य रहस्य का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार हम भी कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान के ये 'अर्वाचीन देवता' शक्ति के आद्य कारण का पता लगाने में बिल्कुल अशक्त है—

न तं विदाथ य इमा जजान [ऋ० १०।८२।७]

'वे उसे नहीं जानते जिसने इस सब को उत्पन्न किया है'। विज्ञान के चमत्कार स्तुत्य हैं, परंतु किं, कथं, कुतः, इन मौलिक प्रश्नों की उद्भावना जहाँ पहले थी, आज भी वहीं है। **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** का काव्यमय संगीत आज भी अमर है और नये अर्थों से भरा हुआ है।

दर्शन के ऊषः काल में जब भारतवर्ष के ऋषियों ने इस प्रकार अपने अनुभवों को व्यक्त किया था, उसके बाद से आजतक विश्व नियन्ता के रहस्य के विषय में हम क्या जान सके हैं ? मेटरलिंक ने "The Supreme Law' नामक अपने ग्रन्थ में प्राचीन और नवीन दोनों की तुलना करते हुए लिखा है—"तब से हमारे ज्ञान ने क्या प्रगति की है ? एडिंगटन का वचन है 'कहीं पर कोई कुछ कर रहा है।' परन्तु क्या विज्ञान की यह अंतिम स्वीकृति कि 'हमें कुछ नहीं मालूम' इन महान् ओजस्वी वचनों की, जिन्हें सामवेद के ऋषि ने परब्रह्म के विषय में कहा है, एक अति तुच्छ और बोदी प्रतिध्वनि जैसी नहीं जान पड़ती—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतामविज्ञातमविजानताम् ॥
[सामवेदीय केन उपनिषद]

अर्थात् जो मानता है कि मैं ब्रह्म को नहीं जानता, वह उसे जानता है; और जो यह मानता है कि मैं जानता हूँ, वह कुछ नहीं जानता। जो उसके जाननेवाले हैं, वे उसे अनजाना हुआ समझते हैं, और जो कुछ नहीं जानते, वे समझते हैं कि हमने ब्रह्म को सर्वथा जान लिया"।

ब्रह्म या अंतिम रहस्यात्मक तत्त्व की यही अनिर्वचनीयता है, जिसके कारण उसके आगे सदा के लिये एक दुर्धर्ष प्रश्नवाची चिन्ह लगा हुआ है। इसी से मुग्ध होकर ऋग्वेद के ऋषि ने उस रहस्य का एक नाम संप्रश्न कहा है। यह ऐसा विराट् प्रश्न है, जिसकी कुक्षि में विश्व का समस्त ज्ञान समाया हुआ है, जो भूत भुवन भविष्यत् से गर्भित होकर भी— अनन्त अवकाश को लिए हुए है—

यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या [ऋ० १०।८२।३]

अर्थात् अनेक देवों के नामों के पीछे जो एक तत्त्व समाविष्ट है, उस 'संप्रश्न' नामक देव में सब भुवनों का पर्यवसान है।

क्या यह कभी संभव है कि इस प्रकार के रहस्यमय देव ने जिस रहस्यमय जगत् को उत्पन्न किया है, उसके एक परिमाणु का भी संपूर्ण रहस्य हमें कभी मिल पायगा ? मेटरलिंक ने कहा है कि मैं अपने शत्रु के लिये भी इस प्रकार की कामना न करूँगा कि उसे ऐसे संसार में रहना पड़े, जिसके एक अणु का भी सारा भेद खुल गया हो। फिर वहाँ मनुष्य के लिए कुतूहल और आनन्द का क्या सामान बच रहेगा ? अपनी समस्त तर्कणा शक्ति, बुद्धि, धैर्ययुक्त-परिश्रम और आविष्कृत वैज्ञानिक साधनों से निरन्तर अध्ययन के बाद भी हमारा ज्ञान अधिमाधिक अ + ज्ञान में परिणत

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हो रहा है। जितना हम प्रकाश ढूँढ़ते हैं, हमारे परिचय का अभाव उतना ही अधिक हमें खटकता है। क्या मनुष्य के प्रयत्नों का पर्यवसान इसीलिए है? परन्तु इससे हम निराश न हों। 'संप्रश्न' के साथ टक्कर मारकर जिस अज्ञान की अनुभूति होती है, वह उस थोथे पांडित्य से भली है, जिसमें जिज्ञासा और संशय का उदय ही नहीं होता। उस रहस्य को जानने की जो सनातनी पद्धति है, उससे कम-से-कम उस तत्त्व का माहात्म्य तो प्रकट होता ही है—

प्रभु प्रताप महिमा उदघाटी।
प्रगटी धनु-विघटन-परिपाटी।

उस अज्ञेय रहस्य-रूपी शिव धनु के विघटन के लिये एक के बाद एक होनेवाले असफल प्रयत्न, उस शक्ति की अनन्त और अचिन्त्य महिमा को अवश्य व्यक्त करते हैं। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'—मैं उस महान पुरुष को जानता हूँ, इस प्रकार कह सकनेवाले विरले धीर पुरुष ही उस कठोर संप्रश्न-रूपी पिनाक को अधिज्य करने में समर्थ हो पाते हैं।

अर्थात् 'संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विचार करने का जो सर्वोत्तम क्रमबद्ध विधान है, उसका पूर्ण विकास करने में पश्चिमी विद्वान् सफल हुए हैं। किन्तु भारतवर्ष के मनीषियों ने जो ध्येय अपने सामने रक्खा, वह यह था कि मनन करने की स्वाभाविक सरणि या प्रणाली सदा ऐसी लचीली बनी रहे कि उसमें सब प्रकार के भूत और भावी विचारों के पनपने की गुंजाइश हो।'

मनन के आदि युग में ही मेधावी ऋषि ने घोषणा की—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।
ऋग्वेद १।१६४।४६

अर्थात् प्रज्ञावान् मनीषी लोग एक सद्वस्तु का अनेक प्रकार से बखान करते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ये अमर अक्षर आज भी भारतीय ज्ञान-मन्दिर के तोरण द्वार पर लिखे हुए हैं। उनका कल्याणप्रद आश्वासन इस ज्ञानमन्दिर के भक्तों का अमोघ स्वातन्त्र्य पद है। वेदों का व्यास करनेवाले भगवान् द्वैपायन कृष्ण ने इसी सत्य को अनेक स्थानों पर दुहराया है।

एकधा च द्विधा चैव बहुधा स एव हि।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रशः॥
महाभारत अनुशासन १६०।४२

भगवान् कृष्ण ने काव्यमय ढंग से इसी बात का समर्थन किया है—

ऋषिभिर्बहुधागीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। गीता

अर्थात् विविध छन्दों में पृथक्-पृथक् ऋषियों ने एक ही तत्त्व का बहुधा बखान किया है। सर्वत्र 'बहुधा' पद महत्त्वपूर्ण है। अनेक ऋषियों को अनेक प्रकार से तत्त्व का अनुभव हुआ। सबने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार उसका वर्णन किया है—

भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए (तुलसीदास)

उस अज्ञेय रहस्य को 'ठीक ऐसा है' कहना कठिन है—

इदमित्थं कहि जाय न सोई।

अथवा कवि ने कितनी सुंदर कल्पना की है कि ज्ञानरूपी महान अश्वत्थ की दिगदिगन्त व्यापिनी प्रशाखाओं पर आश्रित सहस्रों पक्षी अपने-अपने संघों में रात-दिन अमृत तत्त्व का गान करते हैं। वही ज्ञान विश्व भुवन का पालक है। उसी का एक पक्व कण आज हमारे अन्दर प्रविष्ट हुआ है।* काव्यमय ढंग से उन पक्षियों को 'मध्वद' अर्थात् शहद का

---

* यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनः विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥
[ऋ० १।१६४।२१]

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

चखनेवाला कहा गया है। क्या सत्य ज्ञान के अन्वेषक विश्व के समस्त ज्ञानियों की गिनती इसी प्रकार के मध्वद सुपर्णों में नहीं है? अनन्त काल से ये पक्षी विशाल ज्ञान-अश्वत्थ की शाखाओं पर बैठते आए हैं; आज भी अपने-अपने स्वर में उनका गान जारी है, और आगे भी चलता रहेगा। उनके स्वरों की बहुविधता ही इस संगीत का वास्तविक भूषण है। उसकी सुन्दरता को पहचानने के लिये दृष्टिकोण ठीक होना चाहिए। कितने व्यक्ति हैं, जो संगीत की नीचे लिखी विशेषता को श्रद्धा के साथ मानते हैं—

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

कवि और विप्रों के वचनों में, चाहे वे इस देश के हों चाहे विदेश के, एक तत्त्व की बहुधा कल्पना सर्वत्र उपलब्ध होती है। इसमें विरोध देखना दृष्टि दोष है। श्रुतियों का 'बहुधा' पद उनके मौलिक समन्वय की ओर हमारा ध्यान खींचता है। इस विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक एक महती प्राणधारा (मधुकशा) ओत-प्रोत है। उसी का विकास यह सब कुछ है, उसी के स्वरूप का अध्ययन वैज्ञानिक लोग करते हैं; एवं उसी के रहस्य की मीमांसा ज्ञानी करते हैं। जब उसका ही चरित अनेक प्रकार का है, तब ज्ञानियों का अनुभव भी अनेक प्रकार का हो, इसमें कौन-सा आश्चर्य है। वे जैसा समझ पाते हैं, वैसा प्रकट करते हैं—

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां
पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः।

अर्थात् अनेक प्रकार से मीमांसा करते हुए ज्ञानी विश्व में उसके व्यापार की विचित्रता का दर्शन करते हैं। यम ने नचिकेता से कहा कि अनेक प्रकार से चिन्त्यमान वह तत्त्व अल्पबुद्धि मनुष्यों के लिये बड़ा दुर्ज्ञेय है। सत्यधृति लोग ही उसका अनुभव कर पाते हैं।

यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या श्रुतियों की और शास्त्रों की बहुविध मीमांसा बुद्धि का कौशलमात्र नहीं है? इस प्रकार के विभ्रम

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

से क्या कभी कोई परिणाम निकल सकता है ? इसके उत्तर में वृत्त और केन्द्र के प्रसिद्ध उदाहरण की कल्पना कीजिए। केन्द्र ही वृत्त और विश्व की समस्त आकृतियों का मूल है। अथवा यों कहें कि यद्यपि नामरूप की दृष्टि से केन्द्र की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती, फिर यथारुचि उससे त्रिभुज, चतुर्भुज, पंचभुज आदि आकृतियाँ बनती रहती है। यही तो **'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'** वाली प्रक्रिया है। सृष्टि की रचना में ही इसका मूल अन्तर्निहित है। **'एकं बीजं बहुधा यः करोति'**—अर्थात् सृष्टि कर्ता ने एक मूल बीज से बहुविध प्रपंच का विस्तार किया है। जब मूल वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है, तो मानव बेचारा उसमें क्या हस्तक्षेप करे ? श्रुतियों में स्पष्ट कहा है कि प्रजापति सृष्टि के गर्भ में रम रहा है। उसके उस स्वरूप को जो केन्द्र की तरह है, ज्ञानी लोग देखते हैं। वही बहुत प्रकार से अभिव्यक्त हो रहा है। उसी में समस्त लोक प्रतिष्ठित हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
[यजुर्वेद ३१ । १९]

आर्य श्रुति ज्ञान अथवा ऋतंम्भरा प्रज्ञा के अनुभव वाक्यों के अतिरिक्त अर्वाचीन विज्ञान की साक्षी भी इसी ओर है। प्रकृति के बानवे तत्त्वों का पार्थक्य आज परिमाणु के न्यट्रन, प्रोट्रन, इलेक्ट्रन आदि अणोरणीयान् विद्युत अंशों की खोज के कारण विलीन होता जा रहा है। सहस्रांशु सूर्य की असंख्य किरणों और उनके रंग-बिरंगे चमत्कारों का आपसी भेद भी केवल गणित की कृपा पर अवलम्बित माना जा रहा है। निदान यह कि दृश्यमान जगत के पीछे एक ही मूल बीज या प्रेरणा काम कर रही है। वही अनेक रूपों में प्रकट हो रही है। **'एकं बीजं बहुधा यः करोति'** नियम के अधीन ही वैज्ञानिक की भी सृष्टि है। जिन ऋत्विजों ने कहा था—**'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्'** वे वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से बहुत दूर हटे हुए नहीं थे।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऊपर निर्दिष्ट 'बहुधा'-सम्बन्धी दृष्टिकोण को मानने का परिणाम भारतीयों के व्यावहारिक जीवन पर बहुत सुन्दर हुआ। इसी के कारण यहाँ अद्भुत विचार-सहिष्णुता पनप सकी है। प्रतीत होता है कि गंगा का तट चार्वाक से लेकर शंकर तक, सबके लिये शीतलवाही है। आकाश से बरसा हुआ जल जैसे समुद्र में मिल जाता है, वैसे ही चाहे जिस देवता को नमस्कार करो, सब प्रणाम ईश्वर में जाकर एक हो जाते हैं। यह नितान्त रमणीय भाव है इसी भाव ने समस्त भारतीय संस्कृति और राष्ट्र को अटल समन्वय के सूत्र में सदा के लिये बाँध रक्खा है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१५. अनन्त या सहस्र

अंतिम रहस्यात्मक तत्त्व को जानने के प्रयास में ज्यों-ज्यों हम अग्रसर होने का प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों नई नई पहेलियाँ सामने आकर हमें चुनौती देने लगती हैं—'तुम उसे नहीं जान सकते, नहीं जान सकते।' अपनी सीमित बुद्धि की डोर से हम उसे नापने चले हैं—गज-मील, वर्ष-युग की इयत्ता में उसे बाँधने! किन्तु पहले ही साक्षात्कार में अपने अनन्ततत्त्व की एक झलक दिखा कर वह मानों हमारी लघुता पर खिल-खिला उठता है! वास्तव में यदि मनुष्य बलपूर्वक उस अनन्त को अपनी बुद्धि के शिकंजे में कसने का आग्रह करे तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा!

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये।

उस सहस्र रूपोंवाले अनन्त पुरुष को हमारा प्रणाम हो, इन शब्दों में भारतीय विद्वानों ने अनन्त के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए ऋषियों को जिस अनुभव ने सबसे अधिक आश्चर्य चकित किया, वह भगवान् का अनन्त रूप था। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त सहस्रशीर्षा पुरुष का वर्णन करता है। वेदों की परिभाषा में 'सहस्र' शब्द अनन्त या अपरिमित का पर्यायवाची है। सहस्रशीर्षा विराट् पुरुष इस अनन्त ब्रह्माण्ड को सब ओर से व्याप्त करके स्थित है। यह विश्व उसके एक अंश से निर्मित हुआ है। वह अनन्त ईश्वर इस जगत् के बाहर भी है। सृष्टि के निर्माण में ब्रह्म का समस्त अंश परिच्छिन्न नहीं हो सका। सृष्टि के बाहर ब्रह्म का जो भाग बच गया, वह सृष्टि में प्रयुक्त होनेवाले भाग से कहीं अधिक है। यही उसकी महिमा है। इसी भाव को प्रगट करने के लिये वेद में कहा है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

[पुरुष सूक्त]

अर्थात् यह जितना दृश्यमान जगत् है, सब उस पुरुष की महिमा है। पुरुष अपनी इस महिमा से भी अधिक महान् है। समस्त ब्रह्माण्ड उसके चौथाई भाग में है। पुरुष का तीन-चौथाई भाग द्युलोक में अमृत अंश है। यहाँ पर एक-चौथाई और तीन-चौथाई शब्द सापेक्षिक और निदर्शन मात्र हैं। शब्दातीत तत्त्व को वाणी के द्वारा प्रकट करने के लिये यह एक कल्पना है; अन्यथा अनन्त वस्तु में इस प्रकार के योग-विभाग का स्थान ही कहाँ है? एक दूसरे स्थान पर अनन्त पुरुष को और सृष्टि में व्याप्त उसके अंश को आधा-आधा कहा गया है :—

अर्धेन विश्वं भुवनं जजान।
यो अस्यार्धः कतमः स केतुः ॥

अर्थात् पुरुष के अर्ध भाग से सब भुवनों का निर्माण हुआ है; उसका जो दूसरा अर्धांश है, उसका निशान क्या है?

आधे भाग का प्रतीक तो जगत् के रूप में हमारे सामने है, परन्तु दूसरा जो अमृत अंश है, उसका प्रतीक किसी को ढूँढ़ने से भी नहीं मिल रहा है। एक दूसरी दृष्टि से उसीके दो भागों को मर्त्य और अमृत कहा गया है। जो भाग सृष्टि में समाया हुआ है, वह काल के वशीभूत हो जाने के कारण मर्त्य बन गया है। जो उससे बाहर है, वह देश और काल से परे है, इसलिए अमृत है। मर्त्य भाग को अन्न भी कहा जाता है, क्योंकि वह काल के द्वारा खाया जाता है। परन्तु अमृत भाग पर काल का कोई प्रभाव नहीं होता, वह स्वयं अन्नाद (अन्न को खानेवाला) है। मर्त्य और अमृत अथवा अन्न और अन्नाद की संधि ही सान्त और अनन्त की ग्रन्थि है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जो देश से परिच्छिन्न है और काल मर्यादित है, वहीं सान्त है। जगत् केवल इसी दृष्टिसे सान्त कहा जा सकता है, अन्यथा क्या परिमाणु और क्या विराट दोनों दिशाओं में विश्व की इयत्ता और रहस्य को ढूँढ़ने वाले वैज्ञानिकों को भी अभी तक वह अन्तिम आधार-बिन्दु नहीं मिल सका है, जहाँ पहुँच कर यह कहा जा सके कि बस अब इससे आगे कुछ नहीं है।

आधुनिक विज्ञान ने अत्यन्त चमत्कारी यंत्रों के द्वारा विश्व की अनन्त कहानी को पढ़ने का प्रयास किया है। माउण्ट विल्सन पर जो १०० इंच व्यास के शीशे वाला दूरदर्शक यन्त्र है, वह वैज्ञानिकों का दूरतम जानेवाला नेत्र है। उस दिव्य चक्षु से विश्व के परदे के भीतर का जो दर्शन हमें प्राप्त हुआ है, वह मानव बुद्धि को तथाकथित सत्य से परे ले जाकर कल्पना की गोंद में छोड़ देता है। गीता के शब्दों में ब्रह्माण्ड के विराट् 'ऐश्वर योग' को देखने की क्षमता वाले इस दिव्य चक्षु से जो दृश्य हमें प्रत्यक्ष होता है, वह महान् से भी महान् है। हमारे सामने बीस लाख नीहारिकाएँ या नक्षत्र-जगत् विस्तृत हैं। ये विश्व इतनी दूर हैं कि १,८६,००० मील प्रति क्षण की गति से चलने वाला प्रकाश वहाँ से ५ करोड़ वर्षों में हमारे समीप तक पहुँचता है। ऐसे प्रत्येक नक्षत्रजगत् में अरबों नक्षत्र हैं, अथवा उन नीहारिकाओं में कोटानुकोटि नक्षत्रों के निर्माण की सामग्री विद्यमान है। परंतु हमारे दूरदर्शक यंत्र की फोटोग्राहिणी शक्ति से भी परे इस अनन्त ब्रह्माण्ड में शंखानुशंख नक्षत्र-जगत् एवं नीहारिकाओं का अस्तित्व और भी है। क्या मानव बुद्धि कभी उस सत्य का साथ दे सकती है? क्या केवल कल्पना ही वहाँ एक मात्रा हमारा अवलंब नहीं रह जाती? मेटर-लिंक के शब्दों में देश, काल, चैतन्य, अनन्तता और शाश्वतता केवल अगम्य रहस्य हैं।

अनुभव की इस उच्च भूमिका में पहुँच कर ही **'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः'** का सच्चा अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। उस

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सृष्टिकर्त्ता की इतनी विशाल महिमा है। ज्ञान-सूर्य की पहली पौ फटने के साथ ही ऋग्वेद के मनीषियों के ये उद्गार हमारे सामने आते हैं—

सहस्रधा महिमानः सहस्रम्
[ऋ० १०।११४।८]

अर्थात् उस सृष्टिकर्त्ता की महिमाएँ अनन्त एवं अनन्त प्रकार की हैं। यदि वैज्ञानिक की बुद्धि बलपूर्वक उस अनन्त को अपनी समझ के शिकंजे के कसने का आग्रह करे, तो अवश्य ही मानवी मस्तिष्क फटकर आकाश में उड़ जायगा। जनक के वहुदक्षिण यज्ञ में जिस समय कुतूहल से प्रेरित होकर गार्गी ने इस विश्व के संबंध में 'अति प्रश्न' पूछे, उस समय याज्ञवल्क ने उसे चेतावनी देते हुए कहा—हे गार्गि! अति प्रश्न मत पूछो, कहीं तुम्हारी बुद्धि का आधार यह मस्तिष्क ही अपने स्थान से न हट जाय।' वस्तुतः मानव मस्तिष्क भी विल्सन पर्वत की चोटी के सौ-इंची दूरवीक्षण-यंत्र की भाँति एक यंत्र ही तो है। अनन्त आकाश के कुछ आवरणों को पार करके बीस लाख नीहारिकाओं के दर्शन कर लेने के बाद उस सौ-इंची यंत्र की शक्ति थक जाती है, उसका—'मूर्धावपतन होने लगता है। क्या विल्सन पर्वत के इस सौ-इंची वैज्ञानिक 'जटायु' की असमर्थता में और राम के उदर में 'अनेक अंडकटाहों का दर्शन करके थक जाने वाले तुलसीदास के काग-भुशुण्डि में तत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर है? दोनों अपना अन्तिम अनुभव एक ही प्रकार से हमारे सामने रखते हैं—

'उदर मांझ सुनु अंडजराया।
देखेहुँ वहु ब्रह्माण्ड निकाया॥
एक-एक ब्रह्मांड महँ रहेउँ बरस सत एक।
यहि बिधि मैं देखत फिरेउँ अंडकटाह अनेक'॥
(रामायण)

वैज्ञानिकों के सुपरिचित 'कोटि-कोटि नक्षत्र' और पुराणों के शत कोटि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ब्रह्माण्ड-निकाय अन्ततोगत्वा एक ही हैं। अनादि और अनन्त संसार रूपी अश्वत्थ की इयत्ता का अनुभव दोनों को नहीं मिल सका। सापेक्षतावादी वैज्ञानिकों के मत में यह ब्रह्माण्ड सान्त है। इस सान्त विश्व का व्यास १४० करोड़ प्रकाश वर्ष बताया जाता है। इसी से इसकी परिधि की कल्पना हो सकती है। उन लोगों के मत में एक प्रकाश की रश्मि अपने नियत स्थान से चलकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करती हुई फिर उसी स्थान पर लौट आती है।

इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्माण्ड सान्त है, अर्थात् आकाश पोलाकार है। परन्तु इस प्रकार के सान्त ब्रह्माण्ड की कल्पना भी विज्ञान का अन्तिम पड़ाव नहीं है। सापेक्षतावाद के प्रतिपादक आइन्स्टाइन के प्रमुख समर्थक वैज्ञानिक एडिंगडन ने अपने 'एक्सपेंडिंग यूनिवर्स' ग्रन्थ में यह प्रतिपादन किया है कि इस विश्व का पोला उदर नक्षत्र और नीहारिकाओं की प्रगति से गुब्बारे की तरह नित्य प्रति बढ़ रहा है। अनुमान किया जाता है कि १४० करोड़ प्रकाश वर्ष के समय में ब्रह्माण्ड का व्यासार्ध द्विगुणित हो जाता है। महाकवि तुलसी के शब्दों में 'नभ शतकोटि अमित अवकाशा'*

जिसका स्वरूप है, उस आकाश की अनन्तता के संबंध में विज्ञान की ये धारणाएँ उस अनन्तता के मौलिक स्वरूप में तिल मात्र भी परिवर्त्तन नहीं कर सकतीं। एक सूक्ष्म परमाणु के केन्द्र का रहस्य हमारे बुद्धिवाद को चुनौती देने के लिये पर्याप्त है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहकर श्रुतियों ने जिसकी अनन्तता की ओर संकेत किया है उस परम तत्त्व के दृश्यमान रूप विश्व की अनन्त महिमा की झलक जहाँ हमें विज्ञान के दूरदर्शक यंत्रों से मिल रही है, वहाँ सूक्ष्मदर्शक यंत्रों द्वारा उसकी अनन्त लघुता का भी आभास हमें मिलता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि कोई चाहे आकाश के तारों की भी गणना कर ले किन्तु वृक्ष

* उत्तरकांड के दोहा १३०—१३१—। इस प्रकरण को शत कोटि उपनिषद कहा जा सकता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

की एक पत्ती में जितने कोश और उनमें जितने अणु-परिमाणु होते हैं, उनकी गणना नहीं कर सकता। इतनी अधिक उन कोशों की संख्या होती है। तो विराट् आकाश को गणित के अंकों द्वारा बाँधने के प्रयास भी निष्फल हैं।

शेष और विष्णु

गणित के गुरुतर अंकों से दबी हुई कातर मानवी बुद्धि को अनन्त का स्वरूप समझाने के लिये शेषशायी विष्णु की कल्पना अवश्य ही काव्यमय आनन्द से ओत-प्रोत मालूम होगी। विष्णु शेष के आश्रय से योगनिद्रा में निमग्न रहते हैं, यह एक छोटा-सा सूत्र है। भारतीय शिल्प में शेषशायी विष्णु इसी का मूर्त्त रूप है। परन्तु विष्णु कौन है और शेष क्या है, इन प्रश्नों की मीमांसा बड़ी मनोहर है। निरंजन ब्रह्म का जो अंश सृष्टि में परिच्छिन्न या व्याप्त है, वही 'वेवेष्टि व्याप्नोति इति विष्णुः' इस परिभाषा के अनुसार विष्णु संज्ञक है। विष्णु ब्रह्माण्ड का अधिपति तत्त्व है। वह विष्णु शेष के आश्रय से प्रतिष्ठित रहता है। सृष्टि की परिधि से बचा हुआ जो ब्रह्म का भाग है, वही 'शेष' है। कहा भी है :—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।

अर्थात् पुरुष अपनी विश्व रूपी महिमा से बहुत बड़ा है। उसका वह शेष भाग अनन्त है। इसीलिए विष्णु का आधार 'शेष' पुराणों में अनन्त-संज्ञक कहा गया है। विष्णु उस अनन्त शेष की शय्या पर सोते हैं, यह एक काव्यमय कल्पना है। विज्ञान के शब्दों में हम कुछ-कुछ इस प्रकार कहेंगे कि सान्त विश्व अनन्त के आश्रय से प्रतिष्ठित है। विष्णु सान्त विश्व का प्रतीक है और शेष अनन्त का। विष्णु की नाभि से ही सृष्टि की बृंहण-प्रक्रिया का प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है। सृष्टि के भीतर ही उसकी वृद्धि और लय के रहस्य अन्तर्हित हैं। विष्णु से व्यतिरिक्त

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शेष सहस्र संज्ञक या अनन्त है। अनन्त की शिल्पगत कल्पना सीधी रेखा से नहीं हो सकती, उसके लिए कुंडलित रेखा ही उपयुक्त है। यही सर्पाकृति है। पुराणों की भाषा में अनन्त शेष के सहस्र मुख हैं; उन फणों के अनन्त विस्तार में हमारे इस ब्रह्मांड की तुलना ऐसी ही है, जैसे समस्त पृथ्वी की तुलना में एक छोटा सा रजकण—

स्फारे यत् फणाचक्रे धरा शरावश्रियं वहति।

एक ओर पुराणों की यह भाषा है, दूसरी ओर अर्वाचीन विज्ञान ने मानो 'दो और दो चारवाली' तथ्यात्मक भाषा से उकता कर एक नवीन शैली का आश्रय लिया है। विद्वद्वर जेम्स जीन्स ने 'इओस' या 'ब्रह्माण्ड विज्ञान के व्यापक पहलू' (Eos) नामक अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि हमारी इस पृथिवी का विस्तार विश्व की अपेक्षा से इतना ही है जितना कि अटलांटिक महा सागर में भरे हुए असंख्य बालू के कणों की तुलना में एक बालुका कण। अवश्य ही अनन्त के आँगन में विज्ञान और पुराण एक दूसरे से हाथ मिलाते हुए दिखाई देते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१६. विराट् और वामन

सूक्ष्मतया देखने पर यह विश्व हमें दो तरह का दिखाई पड़ता है, एक महत् रूप में, दूसरा अणुरूप में। जो अलख निरंजन तत्त्व है वह महत् और अणु दोनों से परे है, इसीलिए उसे 'महतोमहीयान्' और 'अणोरणीयान्' ये दोनों विशेषण दिए जाते हैं। परंतु जिस संसार के साथ हमारा व्यावहारिक परिचय है, उसमें एक ओर तो विशाल व्यापक या विराट् रूप दिखाई पड़ता है, दूसरी ओर अति सूक्ष्म अणुरूप के दर्शन होते हैं। अनन्त के वर्णन में विश्व के विराट् रूप को लक्ष्य करके यह बताया गया है है कि विज्ञान के अर्वाचीन साधन विराट् की थाह लेने में असमर्थ है। सौ इंची दूरवीक्षण-यंत्र से जो रहस्य भरा चमत्कार हमें दिखाई पड़ा है, उससे हम आश्चर्य से स्तब्ध रह जाते हैं। पर यह अनुमान किया जाता है कि बीसलाख नीहारिकाओं को दर्शन-पथ में खींच लानेवाले इस 'वैज्ञानिक-चक्षु' से जितना आकाश प्रदेश हमें दिखाई देता है, विश्व का निखिल आकाश उससे भी एक अरब गुना बड़ा है! यदि हमें कोई ऐसा दिव्य चक्षु मिल सके, जिसके द्वारा हमें इस महाकाश के दर्शन भी होने लगें तो नीहारिका और नक्षत्रों की संख्या बीस लाख से भी अरबों गुना अधिक पहुँचेगी।

महत् से दृष्टि हटाकर जब हम अणु की शरण में जाते हैं, तब और भी आश्चर्यजनक रहस्य सामने आता है। विज्ञान हमें बताता है कि जगत् ९२ मूलभूत पदार्थों से बना हुआ है। प्रत्येक पदार्थ की सूक्ष्म रचना का आधार परमाणु है। अथवा यों कहे कि परमाणु की ईंटों को जोड़ कर पदार्थ का विशाल भवन निष्पन्न होता है। परमाणु की आन्तरिक रचना कुछ-कुछ सौर मण्डल से मिलती है। परमाणु के मध्य में एक धन-विद्युत् का बिन्दु है, जिसे केन्द्र (न्यूक्लियस) कहते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इसका व्यास एक इंच के दस लाखवें भाग का भी दस लाखवाँ भाग बताया जाता है। परमाणु के जीवन का सार इसी केन्द्र या हृदय-भाग में बसता है। इसी केन्द्र के चारों ओर अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विद्युत् कण चक्कर काटते रहते हैं जिन्हें ऋण विद्युत्-प्रधान होने के कारण 'इलैक्ट्रन' कहा जाता है। ऋणात्मक विद्युत् कण परमाणु का बुभुक्षित भाग है। ये केन्द्र से मिलने के लिये उत्कण्ठित रहते हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि केन्द्र के भीतर भी और कई प्रकार के विद्युत् कण संगृहीत हैं, जिनके वास्तविक स्वरूप की जाँच-पड़ताल अभी तक जारी है। इन सबके समाहार का एकत्र स्वरूप हमारा परमाणु है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

विराट् और अणु दोनों के अध्ययन से एक फल वैज्ञानिकों के हाथ लगा है। वह यह है कि विराट् सृष्टि में जो नियम कार्य करते हैं, वे ही नियम अणु परिमाणात्मक तत्त्वों के मूल में भी निहित है।

क्या विश्वविजयी विज्ञान का यह सत्य भारतीय दार्शनिकों के '**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**' से मिलता हुआ नहीं है। विज्ञान की आँख से '**महतो महियान्**' और '**अणोरणीयान्**' के भीतर छिपी हुई एकता को हम पहचानने में समर्थ हो सके हैं। भारतीय दर्शनकारों ने भी तत्त्व दर्शन के ऊषःकाल में ही 'पिण्ड' और 'ब्रह्माण्ड' की एकविधता को ढूँढ़ निकाला था। इसी सत्य की मूल-भित्ति पर यहाँ के ज्ञान का विशाल भवन निर्मित हुआ है। जिस अतिमानवी सरलता से उन्होंने इस प्रचण्ड सत्य को शब्दों में पिरो दिया है वह आज तक विश्व साहित्य में अद्वितीय है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सूत्र को भारतीय दर्शन की बारह खड़ी ही कहना चाहिए। सृष्टि-स्थिति-विनाश के जो नियम पिण्ड में दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हीं का साम्राज्य ब्रह्माण्ड में है। हमारे सामने के सुवासित पुष्प में अथवा बुँदकीदार परोंवाली नन्हीं-सी तितली में जरा-जन्म-मृत्यु के जो पाश फैले हैं, उन्हीं के ताने-बाने में क्या सारा संसार

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

समाया हुआ नहीं है ? पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता नितान्त अखण्ड है। जो इसे देख लेता है, उसी का देखना सच्चा है, वही ज्ञानी है।

वामन और विष्णु

वैदिक परिभाषा में पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता को वामन और विष्णु की कल्पना के द्वारा प्रकट किया है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

वामनो ह विष्णुरास। श० १। २। ५। ५

अथवा

स हि वैष्णवो यद्वामनः। श०। ५। २। ५। ४

अर्थात् जो विष्णु है, वही वामन है। जो पहले देखने में वामन या बौना जान पड़ता था, वही पीछे से वैष्णव या विराट् रूप में प्रकट हुआ। वामन और विष्णु दोनों एक ही केन्द्र में गुथे हुए हैं। वही केन्द्र आणिमा है वही विस्तार पाकर भूमा बन जाता है। केन्द्र और उसकी परिधि में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। केन्द्र अनिर्वचनीय रहता है। उसमें कोई परिमाण नहीं है, परिमाण के विस्तार से केन्द्र ही भूमा या परिधि बन जाता है। परिधि रूप से केन्द्र के फैलाव की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। वामन ही शरीर के विस्तार से विष्णु बनता है। पुराणों के मनीषी लेखकों ने अपनी काव्यमय कल्पना के द्वारा वामन-वैष्णव के वैज्ञानिक सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये वामनवेषधारी विष्णु के त्रिविक्रम अवतार का उपाख्यान रूप से वर्णन किया है। जिस मूर्त्ति को पहले सबने वामन या अल्प समझा था, उसने ही देश में देह का विस्तार करके विष्णु-रूप में तीन पैरों से त्रिलोकी को नाप लिया। ऋग्वेद में इस वैज्ञानिक नियम की ओर संकेत किया गया है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे।
—ऋ० १। २२। १७

सब कुछ विष्णु के तीन चरणों में नाप लिया गया है। मानवी जीवन

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भी इन्हीं तीन चरणों की नाप में समाया हुआ है। बाल्य, यौवन और जरा ये ही मनुष्य-रूपी विष्णु के तीन पैर हैं। यज्ञ की परिभाषा में आयु के इन विभागों को प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और सायंसवन कहा जाता है। मनुष्य का जीवन संवत्सर की प्रतिमा है। उसकी आयु के तीन भाग वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु के समान हैं। वसन्त ऋतु प्रथम काल है, यही ब्रह्मचर्य काल है। इसमें देवेन्द्रियों के पोषक रसों के कण शरीर में बसने लगते हैं, इसी से यह संयम आयु का वसंत काल है। यौवन ग्रीष्म ऋतु है। ग्रीष्म ताप के द्वारा रस कणों को विशेष आग्रह के साथ ग्रहण करता है या अपने में खीचता है। यही प्रवृत्ति यौवन की है। शरद् काल में रस शुष्क या शीर्ण होता है। आयु के तृतीय सवन में मनुष्य-देह भी परिहाणि की ओर अग्रसर होता है। सृष्टि के यच्चयावत् पदार्थ आदि-मध्य-अन्त के इन्हीं तीन चरणों में परिच्छिन्न हैं, कुछ भी इस विष्णु के त्रिविक्रम से बाहर नहीं है।

विष्णु प्रारम्भ में वामन बन कर आता है। वामन रूपी शिशु में भावी विष्णुत्व के बीज छिपे रहते हैं। मानवी अभिलाषाएँ वामन से विराट् रूप धारण कर लेती है। वासनाएँ छोटे अंकुर के रूप में मनुष्य के मनमें जन्म लेती हैं, हम उनके वशीभूत हो जाते हैं, पीछे उनका विराट् रूप प्रकट होता है। यद्यपि मनुष्य की भोगशक्ति वामन या परिमित ही बनी रहती है, परन्तु वासनाओं का विराट् रूप वश में नहीं आता। वासनाओं के द्वारा हम त्रिलोकी को अपने विषय-सुख की परिधि में बाँध लेना चाहते हैं। सहस्र संवत्सर तक विषयों का उपभोग करने के बाद ययाति ने जो अपना अनुभव व्यक्त किया था, वह मनुष्य की विराट् वासनाओं को लक्ष्य करके ही घटित होता है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यति तृषं त्यजेत्॥

वामन-रूपी वैश्वानराग्नि शीघ्र ही तृप्त हो सकती है, पर विराट् वासना

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अक्षय उपभोग चाहती है। यही वामन और विष्णु का अन्तर है। शरीर से हम सब वामन हैं, पर मन से विष्णु बने हुए हैं। काल-रूपी विष्णु का वामन रूप एक क्षण है। आदि-मध्य-अध्त ये उसके तीन चरण हैं। गीता में कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

अर्थात् भूतों का आदि अव्यक्त है, उनका अंत भी अव्यक्त है। केवल मध्य भाग ही व्यक्त या दृष्टिगोचर है। यही इस सृष्टि का नियम है। इसके आदि अंत का साक्षी कोई नहीं है, देवता भी इसके बाद जन्मे हैं—

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेन (नासदीय सूक्त)

इसका जो मध्य भाग है, वही हमारे दृष्टि पथ में आता है, वही ज्ञान का विषय बनता है। ऋग्वेद में विष्णु के बीच के चरण के लिये कहा है—

समूढ़मस्य पांसुरे

अर्थात् यह चरण ऐसे व्यक्त है, जैसे धूलि में छपा हो। इसी व्यक्त भाग में सब कुछ निपतित है।

भारतीय साहित्य में विष्णु के विराट् रूप की कल्पना आर्यगाथा शास्त्र की एक अपूर्व विशेषता है। पुरुष सूक्त में उसका उपक्रम है—

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमि मथो पुरः॥५॥

× × ×

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥१४॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थात् समस्त विश्व एक ही पुरुष के यज्ञांगों से निर्मित हुआ है। इस विराट् विश्व के भीतर वह पुरुष ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य-वायु-अग्नि-अंतरिक्ष-द्यौः पृथिवी-दिशाएँ और अन्य लोक, सब पुरुष के अंगों के उपादान से रचे गए हैं।

पुरुष-शरीर के अनादि अनन्त यज्ञ के द्वारा सृष्टि-विकास की कल्पना आर्यों की अन्य शाखाओं में भी मिलती है। स्कैंडिनेविया प्रदेश की उत्तराखंडवर्त्ती आर्य जातियों में भी यह विश्वास प्रचलित था कि अग्नि और जल के पारस्परिक संघर्ष से जो देव उत्पन्न हुआ, उसीके विविध अंगों से पृथिवी, आकाश, समुद्र आदि की रचना हुई। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक कारलाइल ने संक्षेप में उसका वर्णन यों किया है—

सृष्टि की उत्पत्ति संबन्धी उनकी आदिम पौराणिक गाथाओं पर ही विचार कीजिए। जब देवगण तप्त-वायु एवं तुषार तथा अग्नि के संघर्ष से उपजी हुई अव्यवस्था से उत्पन्न दैत्य यमेर को मार चुके तो उन्होंने उसके अवशेषों से एक नई दुनिया की रचना करने का निश्चय किया। उसके रक्त से सागर का निर्माण हुआ, मांस से भूमि बनी और अस्थियों से पर्वतों की शिलाएँ बनाई गईं, उसकी भौहों से देवताओं के निवास स्थान 'असगार्द' की रचना हुई, उसका कपाल ही अनन्त व्यापी नीलाकाश बन गया, तथा बादलों की रचना उसके मस्तिष्क के भेजे से की गई। कैसा विराट् अति दानवीय कृत्य रहा होगा वह !

आर्य परम्पराओं का गोता भारतीय साहित्य विराट् सम्बन्धी ऐसे उद्दाम वर्णनों से भरा पड़ा है। अथर्ववेद में विराज गौ या प्रकृति का जो वर्णन मिलता है, सचमुच वह हमारे कवियों का आदि शिक्षक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसी परम्परा में दीक्षित होकर लिखा था—

विश्वरूप रघुवंसमनि, करहु वचन विस्वासु।
लोक कल्पना वेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पग पताल सीस अजधामा;
अपर लोक अँग-अँग बिस्रामा।
भ्रकुटि-बिलास भयंकर काला;
नयन दिवाकर कच घन-माला।
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा;
निसि अरु दिवस निमेष अपारा।
स्रवन दिसा दस बेद बखानी;
मारुत स्वास निगम निज बानी।
अधर लोभ जम दसन कराला;
माया हास बाहु दिगपाला।
आनन अनल अंबुपति जीहा;
उतपति पालन, प्रलय समीहा।
रोमराजि अस्टादस भारा;
अस्थि सैल सरिता नस-जारा।
उदर-उदधि अधगो जातना;
जगमय प्रभु का बहु कलपना।

अर्थात् ब्रह्म लोक जिसका मस्तक, पाताल पैर, काल भौं, सूर्य नेत्र, मेघमाला केशकलाप, अहोरात्र असंख्य निमेष, दिशाएँ श्रोत्र, वायु, श्वाश, वेद वाणी, मृत्यु कराल डाढ़ें, माया हँसी, अग्नि मुख, पर्वत अस्थियाँ और सरिताएँ नाड़ी जाल हैं, ऐसा प्रभु विश्व में सर्वत्र रमा हुआ है। उसके विषय में बहुत कल्पना क्या की जाय, क्योंकि कल्पनाएँ वाणी का विकार या विलासमात्र हैं। परन्तु क्रान्तिदर्शी साहित्यिकों ने जान-बूझकर जो इस प्रकार विराट् के वर्णन का प्रयास किया है, इसे उनका स्वभाव ही समझना चाहिए—

बिदुषन प्रभु बिराटमय दीसा;
बहु-मुख-कर-पद-लोचन-सीसा।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थात् समस्त विश्व एक ही पुरुष के यज्ञांगों से निर्मित हुआ है। इस विराट् विश्व के भीतर वह पुरुष ओत-प्रोत है। चन्द्र-सूर्य-वायु-अग्नि-अंतरिक्ष-द्यौः पृथिवी-दिशाएँ और अन्य लोक, सब पुरुष के अंगों के उपादान से रचे गए हैं।

पुरुष-शरीर के अनादि अनन्त यज्ञ के द्वारा सृष्टि-विकास की कल्पना आर्यों की अन्य शाखाओं में भी मिलती है। स्कैंडिनेविया प्रदेश की उत्तराखंडवर्त्ती आर्य जातियों में भी यह विश्वास प्रचलित था कि अग्नि और जल के पारस्परिक संघर्ष से जो देव उत्पन्न हुआ, उसीके विविध अंगों से पृथिवी, आकाश, समुद्र आदि की रचना हुई। प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक कारलाइल ने संक्षेप में उसका वर्णन यों किया है—

सृष्टि की उत्पत्ति संबन्धी उनकी आदिम पौराणिक गाथाओं पर ही विचार कीजिए। जब देवगण तप्त-वायु एवं तुषार तथा अग्नि के संघर्ष से उपजी हुई अव्यवस्था से उत्पन्न दैत्य यमेर को मार चुके तो उन्होंने उसके अवशेषों से एक नई दुनिया की रचना करने का निश्चय किया। उसके रक्त से सागर का निर्माण हुआ, मांस से भूमि बनी और अस्थियों से पर्वतों की शिलाएँ बनाई गईं, उसकी भौंहों से देवताओं के निवास स्थान 'असगार्ड' की रचना हुई, उसका कपाल ही अनन्त व्यापी नीलाकाश बन गया, तथा बादलों की रचना उसके मस्तिष्क के भेजे से की गई। कैसा विराट् अति दानवीय कृत्य रहा होगा वह !

आर्य परम्पराओं का गोता भारतीय साहित्य विराट् सम्बन्धी ऐसे उद्दाम वर्णनों से भरा पड़ा है। अथर्ववेद में विराज गौ या प्रकृति का जो वर्णन मिलता है, सचमुच वह हमारे कवियों का आदि शिक्षक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसी परम्परा में दीक्षित होकर लिखा था—

विश्वरूप रघुवंसमनि, करहु बचन विस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर, अंग अंग प्रति जासु॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पग पताल सीस अजधामा;
अपर लोक अँग-अँग बिस्रामा।
भ्रकुटि-बिलास भयंकर काला;
नयन दिवाकर कच घन-माला।
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा;
निसि अरु दिवस निमेष अपारा।
स्रवन दिसा दस बेद बखानी;
मारुत स्वास निगम निज बानी।
अधर लोभ जम दसन कराला;
माया हास बाहु दिगपाला।
आनन अनल अंबुपति जीहा;
उतपति पालन, प्रलय समीहा।
रोमराजि अस्टादस भारा;
अस्थि सैल सरिता नस-जारा।
उदर-उदधि अधगो जातना;
जगमय प्रभु का बहु कलपना।

अर्थात् ब्रह्म लोक जिसका मस्तक, पाताल पैर, काल भौं, सूर्य नेत्र, मेघमाला केशकलाप, अहोरात्र असंख्य निमेष, दिशाएँ श्रोत्र, वायु, श्वाश, वेद वाणी, मृत्यु कराल डाढ़ें, माया हँसी, अग्नि मुख, पर्वत अस्थियाँ और सरिताएँ नाड़ी जाल हैं, ऐसा प्रभु विश्व में सर्वत्र रमा हुआ है। उसके विषय में बहुत कल्पना क्या की जाय, क्योंकि कल्पनाएँ वाणी का विकार या विलासमात्र हैं। परन्तु क्रान्तिदर्शी साहित्यिकों ने जान-बूझकर जो इस प्रकार विराट् के वर्णन का प्रयास किया है, इसे उनका स्वभाव ही समझना चाहिए—

बिदुषन प्रभु बिराटमय दीसा;
बहु-मुख-कर-पद-लोचन-सीसा।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विराट दर्शन का फल

सत्य की खोज करते हुए मनुष्य के लिये विराट् रूप का दर्शन अत्यन्त आवश्यक है, और इस दृष्टिकोण के विकसित हो जाने का निश्चित फल उसके जीवन पर पड़ता है। अपने हृदय की क्षुद्रता पर विजय पाने के लिये हमारा दृष्टिकोण व्यापक बनना चाहिए। प्रत्येक वस्तु या कर्म को अलग-अलग देखने की प्रवृत्ति से मानवी अहंकार, शंका और अश्रद्धा का जन्म होता है। समस्त पदार्थों में व्यापक नियमों को देखकर मनुष्य विश्व की पहेली के अर्थ को समझने लगता है। उसके लिये सृष्टि एक उन्मत्त नृत्य की भाँति न रहकर नियमित प्रक्रिया के रूप में उपस्थित होती है। उस प्रक्रिया का प्रत्येक अंश चेतन ज्ञान-मय शक्ति से नियंत्रित प्रतीत होता है। मनुष्य सृष्टि के भार से स्वयं कातर नहीं होता, वह उसे सत्य से धारण की हुई देखता है। विश्व और विश्व-नियन्ता के संबन्ध का साक्षात्कार विराट् का दर्शन है। विराट् दर्शन 'कृत्स्न' का दर्शन है।

भारतीय ऋषियों ने इस दृष्टिकोण को मानवी जीवन के सान्निध्य में लाने का यत्न किया है। आयु के अन्तिम दो आश्रम इसी दृष्टिकोण के विकास का फल है। वनस्थ तपस्वी और संन्यासी के लिये स्वार्थमय क्षुद्रता का लोप हो जाता है। वह आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखता है। वह मानवमात्र को अपने परिवार का अंग समझने का अभ्यास बढ़ाता है, और अंत में प्राणी मात्र को, पशु-पक्षी और लता-वनस्पति आदि को भी, एक ही चैतन्य से ओत-प्रोत देखता है। विश्व का कल्याण ही उसका अभीष्ट रह जाता है।

भारतीय वाङ्मय के रचयिताओं के मन पर विराट् दर्शन की छाप पड़ी थी। वे किसी एक शास्त्र को औरों से व्यपेत या पृथक् नहीं देखते। सब शास्त्र मनुष्य जीवन के साथ संबन्ध रखते हैं, अतएव सबका आदि मूल एक ज्ञानमय वेद है और सबका फल मोक्ष है। हमारे इतिहास युद्ध

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के वर्णन न रहकर मोक्ष-धर्म-निरूपण के शास्त्र बन गए हैं। हमारे उत्तम काव्यों का फल भी आलंकारिकों के शब्दों में 'सद्यः परनिर्वृ ति' (तुरन्त परमानन्द की प्राप्ति) निर्धारित हुआ है। एतद्देशीय शास्त्रों और विद्याओं के वर्गीकरण में भी यही एक सूत्रता दृष्टिगोचर होती है। 'विश्व की रूपरेखा'* के लेखक ने यह विचार प्रकट किया है कि 'पिछले चार सौ वर्षों में व्यापक दृष्टि को छोड़कर लोग विशेष की ओर बढ़ते रहे, अतएव सार्वलौकिक दर्शन उनके लिये दुर्लभ बन गया। अब हमें पुनः विश्व या 'सर्वलोक को देखने की आदत सीखनी होगी। नैमिषारण्य के सूत मानो सभी शास्त्रों का मानव-जीवन के साथ संबन्ध स्थापित करने की प्रतिज्ञा करके बैठे थे। उनके दर्शन का मूलमन्त्र यह था—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्। [शान्तिपर्व २९९।२०]

अर्थात् 'यह रहस्य-ज्ञान तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ यहाँ कुछ भी नहीं है।'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१७. अश्वत्थ

जगत् क्या है, यह प्रश्न मनुष्य के लिये एक अबूझ पहेली बना हुआ है। किन्तु भारतीय दर्शनकारों ने जिस सरल और मनोहर रूपक द्वारा इस अबूझ पहेली को समझने का प्रयत्न किया है, वह स्तुत्य है।

आर्य प्रज्ञान ने जिन रमणीय सृष्टि-विषयक कल्पनाओं को जन्म दिया है उसमें संसार की अश्वत्थ रूप में कल्पना अत्यन्त मनोहर है। संसार-रूपी अव्यय वृक्ष देश और काल के अनन्त विस्तार को सब ओर से व्याप्त करके नित्य नये-नये रूपों में फलता फूलता रहता है। उसकी महिमा कल्पनातीत है और उसकी विचित्रता मानवी बुद्धि के लिये एक अबूझ पहेली बनी हुई है। यह महान् वृक्ष पुरातन होते हुए भी नित्य नया है। जिस प्रकार वेदों में सूर्य की ज्योतिष्मती पुत्री उषा को एक ही साथ 'पुराणी' और 'युवति' ये दो विशेषण दिए गए हैं, उसी प्रकार हमारा यह संसाररूपी विटप कालचक्र को अपने उदर में रख कर भी कभी बूढ़ा होने का नाम नहीं लेता। इस रहस्य भरे अश्वत्थ के पोषक रस में जो दुर्धर्ष-शक्ति विधाता ने एक बार भर दी थी उसके वीर्य से इसका यौवन सदा एकरस बना रहता है। इसके मूल में अमृत और मृत्यु का विलक्षण सम्मिश्रण पाया जाता है। ज्ञानी लोग इसके अमृत अंश को ग्रहण करते हैं, और अविवेकी जन मृत्यु के अतिरिक्त कुछ नहीं ले पाते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने संसार के इन्हीं दो विपरीत भावों को इस बेल के कड़वे और मीठे फल कहा है। भारतीय साहित्य की अमर परम्परा का अनुसरण करके उन्होंने संसार रूपी अश्वत्थ का इस प्रकार वर्णन किया है—

अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने;
षट कंध साखा पंचवीस अनेक पर्न सुमन घने।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

फल जुगल विधि कटु मधुर वेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे;
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे।
(उत्तरकाण्ड, वेद-स्तुति)

अर्थात् संसाररूपी सनातन वृक्ष को प्रणाम है। इस अनादि वृक्ष की जड़ें अव्यक्त या निर्गुण ब्रह्म के साथ मिली हुई हैं। शास्त्रों में कही हुई जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति, और तुरीया नामक जो चार अवस्थाएँ हैं वे ही इसके वक्कल हैं। अव्यक्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा, भूतात्मा ये छः इस वृक्ष के स्कन्ध हैं, जिनमें से शाखाएँ फूटती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और पाँच विषय, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव ये पच्चीस शाखाएँ हैं। अनेक मनोरथ इस वृक्ष के पत्ते और फूल हैं। मीठे और कड़वे फलवाली मायारूपी बेल इस पेड़ को चारों ओर से घेरे हुए हैं। इस प्रकार यह अनादि वृक्ष सदा हरा-भरा बना रहता है। इस वृक्ष के एक-एक पत्ते पर असंख्य युगों के और अनेक देशों के इतिहास अंकित हैं। भूत, भविष्य और वर्त्तमान इसको जीवन के रस से सींचते रहते हैं।

सुदूर यारप के उत्तराखंडवर्त्ती स्कैण्डिनेविया और आइसलैंड आदि देशों के प्राचीन गाथा-शास्त्र में भी भारतीय साहित्य से मिलती हुई संसार विटप की कल्पना पाई जाती है। अँगरेजी के प्रकाण्ड साहित्यिक कारलाइल ने इस संसार-रूपी अश्वत्थ का निम्न शब्दों में बहुत ही भव्य वर्णन किया है—

"मुझे उनके (उत्तराखंडवर्ती स्कैंडनेविया देश के) यग्द्रसील वृक्ष की कल्पना बहुत प्रिय है। वे लोग जीवन की कल्पना एक वृक्ष के रूप में करते हैं। इस वृक्ष का नाम यग्द्रसील है। इसकी जड़ें पाताल-स्थित यम लोक में हैं। इसका तना स्वर्ग तक सिर ऊँचा किए हुए अपनी शाखाओं को सारे संसार में फैल रहा हैं। यह भव-वृक्ष (Ash Tree) है। यम के लोक में जो धर्मकूप है, उसके जल से भूत,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भविष्य और वर्त्तमान रूपी तीन देवियाँ इसको सींचती रहती हैं। वहीं निधुग नामक सर्प अपने परिवार के साथ इसकी जड़ों को कुतरता रहता है। इसकी शाखा-प्रशाखाएँ, जिनमें संसार की दारुण घटनाएँ और सम्पूर्ण कर्म चक्र गुथा हुआ है, देश-देश और युग-युग में फैली हुई है। इस वृक्ष का हर एक पत्ता क्या एक जीवनचरित्र नहीं है? क्या इसकी नस-नस में मनुष्यों के कर्म और वचन नहीं छिपे हुए हैं? जातियों के इतिहास इसकी शाखाएँ हैं। मनुष्य जीवन की कल-कल ध्वनि ही इस भव-विटप के पत्तों की मर्मर ध्वनि है। इसका अस्तित्व हमारे सामने है। मानवी वासना की उच्छ्वास इसमें व्याप्त है, अथवा झंझावात के रूप में इसको झकोरती हुई देवों के क्रन्दन सी जान पड़ती है। यह यग्द्रसील जीवन का विटप है। इसी में भूत, भविष्य और वर्तमान है; जो हो चुका है, जो हो रहा है, और जो होगा, इसी का रूप है; अर्थात् 'डुकृञ् करणे' धातु के असंख्य रूप इसमें भरे हुए है। संसार रूपी वृक्ष के समान दूसरी सत्य, सुन्दर और महान् उपमा मुझे नहीं मिली। इसके विपरीत संसार की यंत्र के रूप में कल्पना कितनी फीकी उतरती है"।

ब्रह्म-वन और संसार वृक्ष

उत्तराखंड के गाथा-शास्त्र का भी जो मूल है, उस आर्य साहित्य में विश्व-विटप का वर्णन और भी अधिक महनीय है। ऋग्वेद का ऋषि अपने संदेह को साहस के साथ व्यक्त करता हुआ प्रश्न करता है :—

१—मैं नहीं जानता हूँ, पर जो जानने वाले कवि हैं, उनसे पूछता हूँ, अनजान का जानने के लिये यह प्रश्न है। मैं पूँछता हूँ कि छः लोकों को अपने नियति चक्र में बाँधकर रखने वाले उस अविनाशी का भी क्या कोई नियत स्वरूप है?

२—इस विश्व को जब प्रजापति बनाने लगे, तब क्या उसका आधार (अधिष्ठान) था, और कौनसी सामग्री (आरम्भण) थी? यदि विश्वका

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कोई आरम्भण (उपादान) था, तो वह कैसा था ? विश्व द्रष्टा और विश्वकर्मा प्रजापति ने भूमि को बनाते हुए द्युलोक अपनी महिमा से बड़ी दूर तक फैलाया।

३—वह ऐसा कौन-सा महावन था ? उस महावन में ऐसा कौन-सा महावृक्ष था, जिसे काट छाँट कर द्यावा-पृथिवी रूप संसार बनाया गया ? हे विद्वानों, अपने से ही यह पूछो कि किस महावन के किस महावृक्ष से इस विश्व को बनाकर उसे अपने में धारण करके प्रजापति सबका अधिष्ठाता बना हुआ है।

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं
कतमस्वित् कथासीत्। [ऋ० १०।८१।२]

किंस्वद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसापृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।
[ऋ० १०।८१।४]

अचिकित्वान् चिकितुषश्चिदत्र कवीन्।
पृच्छामि विद्मने न विद्वान्। [ऋ० १।१६४।६]

यह विश्व रूप स्तम्भ किस वृक्ष को गढ़-छीलकर खड़ा किया गया है ? कितना उदात्त मौलिक प्रश्न है, जो तत्त्व की खोज करनेवाले ज्ञानी ऋषि और विज्ञानी, सभी के सामने आता है ? इसके समाधान में एक ओर ब्रह्म की अचिन्त्य निगूढ चेतना शक्ति है, दूसरी ओर विद्युत् के रहस्यात्मक कण और तरंगें हैं। दोनों ही बुद्धि के लिये पहेलियाँ बनी हुई हैं। ब्रह्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, यह वेदाभिमत निश्चित सिद्धान्त है। सृष्टिवित् आप्त महर्षि पूर्व प्रश्नों का समाधान करते हुए कहते हैं—

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानिधारयन्॥
—तैत्तिरीय ब्राह्मण

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थात् ब्रह्म वन था, ब्रह्म ही वृक्ष था, जिससे द्युलोक और पृथिवी तराशे गए हैं। हे विद्वानों, मन से चिन्तन कर के यह बताता हूँ कि ब्रह्म ही भुवनों को धारण करके उनका अधिष्ठाता बना हुआ है। अनेक वृक्षों का समुदाय वन होता है। एक विश्व एक महावृक्ष है। ऐसे-ऐसे कोटि-कोटि वृक्ष या ब्रह्माण्डों की जहाँ सत्ता है, वही ब्रह्मवन है। ब्रह्म का वह कल्पनातीत स्वरूप सब से परे होने के कारण 'परात्पर' कहा जाता है। परात्पर ब्रह्मवन के एक-एक महावृक्ष में सहस्र-सहस्र शाखाएँ हैं। एक ब्रह्माण्ड की प्रवृत्ति सहस्रधा और सहस्रमुखी हैं। वैदिक भाषा में शाखा या टहनी को 'वल्शा' कहते हैं। अतएव इस ब्रह्मवन का प्रत्येक ब्रह्मवृक्ष सहस्र वल्शाओं से युक्त कहा जाता है। यही अनन्त ब्रह्माण्ड का काव्यमय दिग्दर्शन है। (ब्रह्मवन के विशद वर्णन के लिए देखिए ईशोपनिषद् हिन्दी भाष्य, पं० मोतीलाल शास्त्री जयपुर, पृष्ठ १७–२२)।

यह महावृक्ष अश्वत्थ कहा जाता है। अश्वत्थ का नाम संकेतमय है। वैदिक भाषा में आदित्य को अश्व कहा गया है।

असौ वा आदित्योऽश्वः (तै० ब्रा० ३। ६। २३। २)

प्रत्येक वल्शा या टहनी के मूल में एक सौर मण्डल है। सूर्यरूपी अश्व जिसके आधार पर स्थित है, वही अश्वत्थ है। अथवा, विराट् की संज्ञा अश्व है। अदिति मण्डल में प्रतिष्ठित सौर एवं पार्थिव प्राण की समष्टि 'अश्व' पशु है। जो सौर प्राण पृथिवी से सूर्य तक फैला है, वही अश्व है। इसी में विराट् पुरुष का अन्तर्भाव है। अश्वमूर्ति विराट् पुरुष है, अथवा यों कहें कि विराट् का नाम ही अश्व है (देखिए पं० मोतीलाल शास्त्री कृत शतपथ ब्राह्मण, हिन्दी विज्ञान भाष्य, ३ वर्ष, पृष्ठ ६३)। जो विराट् बन गया वही सृष्टि में सम्मिलित हो गया। यदश्वत् तदश्वः, जो फूलकर बढ़ गया वही अश्व है। केन्द्र ही विराट् बनकर 'अश्व' बन जाता है। केन्द्र = हिरण्यगर्भ है। वही आकाश के साथ मिल कर विराट् या परिधि बन जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विराट् विश्व-रूपी अश्व जहाँ स्थित है, वही अश्वत्थ है। नित्य परिवर्त्तनशील होने के कारण भी संसार को अश्वत्थ कह सकते हैं—**न श्वः** **चिरं तिष्ठति**, 'जो कल देर तक न ठहरे'—वही तो जगत् या संसार है।

ऊर्ध्व और अधः

श्रुतियों का अनुवाद करनेवाले गीता शास्त्र में संसार रूपी अश्वत्थ का और भी विशद वर्णन मिलता है—

> ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
> छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१५॥१॥
> अधश्चोर्ध्वं प्रसृता तस्य शाखा
> गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
> अधश्च मूलान्यनु संततानि
> कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥१५॥२॥

अर्थात् ऊर्ध्व या अव्यक्त जिसका मूल है, और अधः या व्यक्त जिसकी शाखाएँ हैं, ऐसा यह संसार रूपी सनातन अश्वत्थ है। सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण उन शाखाओं को नित्य पुष्ट करते रहते हैं। विषय-विकार ही उन टहनियों के पत्ते हैं। कर्म बन्धनों से जकड़ी हुई इस संसार वृक्ष की जटाएँ नीचे की ओर मनुष्य लोक में फैलती रहती हैं। यह समस्त वृक्ष कर्मानुबन्धी है। कर्म ही इसके नाना भाँति सम्वर्धन और वितान का कारण है। वैराग्य ही इस कर्म वृक्ष से छुड़ाने वाला दृढ़ शस्त्र है।

इस वर्णन में ऊर्ध्व और अधः शब्द मार्मिक हैं। इनका अर्थ साधारण ऊपर-नीचे नहीं है, बल्कि केन्द्र का नाम ऊर्ध्व है, और परिधि का नाम अधः है। दार्शनिक परिभाषा में भूमा की संज्ञा ऊर्ध्व और अणिमा की अधः है। केन्द्र को ही वैदिक परिभाषा में हृदय कहते हैं। केन्द्र का परिधि रूप धारण करना ही हिरण्यगर्भ का विराट् हो जाना है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है। प्रत्येक परिमाणु की आन्तरिक रचना में यही भेद पाया गया

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। वैज्ञानिक क्षेत्र में यदि 'न्यूक्लिअस' से 'इलैक्ट्रन' तक का जो आकाश प्रदेश है, उसको निकाल दिया जाय तो एक इंच के व्यास की घनीभूत डली में लाखों टन का बोझ आ सकता है। इस घन द्रव्य से गर्भित अवस्था को हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्य वस्तु का वीर्य या मूल कारण है। प्रत्येक पदार्थ सृष्टि से पहले इसी अवस्था में रहता है। मानवी कर्मों का जो पदार्थ दृष्टिगोचर होता है वह भी क्या पहले मानसिक क्षेत्र में गर्भित नहीं रहता ? हमारा जो रेत य वीर्य है, वह भी स्वर्ण है। हिरण्यगर्भ अवस्थारूपी ऊर्ध्व कारण के विना सृष्टि या प्रजोत्पादन हो ही नहीं सकता। हिरण्यगर्भ को ही 'शुक्र' कहते हैं। विना शुक्र के सृष्टि संभव नहीं। अतएव कहा जाता है—

'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'

सबसे पहले हिरण्यगर्भ था। उसी से चराचर भूत उत्पन्न हुए। अथर्ववेद में और निश्चित शब्दों में कहा है—

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत्प्राजनयत्। तदेकम भवत्। तत् ललाम अभवत्। (अथर्व० १५।१।३)

अर्थात् सृष्टि की कामना करनेवाले प्रजापति ने अपनी अन्तरात्मा में सुवर्ण (हिरण्य, रेत या शुक्र) के दर्शन किए; तब प्रजनन किया। वह अकेला था, प्रजनन के लिये 'ललाम' बना; महान् बना········और तब उत्पन्न हुआ।

प्रजनन के लिये आत्मा में रेत का दर्शन चाहिए। यही मनु का अविलुप्त ब्रह्मचर्य है। रेत से ललाम भाव उत्पन्न होता है। ललाम भाव ही योषित् की सम्प्राप्ति है। सामाजिक क्षेत्र में इसका नाम विवाह है। विज्ञान में यही धन और ऋण विद्युत् का द्वैधी भाव है। सृष्टि- प्रक्रिया की विधि विराट् ब्रह्माण्ड में और सूक्ष्म परमाणु में एक-जैसी है। विज्ञान की खोज ने इसी कहानी को सुन्दर रूप में प्रकट

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

किया है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का अनुशासन सर्वत्र समान है। वैदिक विज्ञान की परिभाषा में केन्द्र को ही प्रजापति कहते हैं। केन्द्र वृत्त के गर्भ में छिपा रहता है, उसकी सत्ता सब पर हावी है, पर गुप्त रूप से विलीन रहती है। यही प्रजापति का हाल है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त-
रजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा
स्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ (यजु० ३१।१६)

अर्थात् प्रजापति केन्द्र या गर्भ में रहता है। वह जन्म न लेता हुआ भी नाना रूपों में प्रकट होता है। उसके कारण को ज्ञानी लोग देख पाते हैं। उसी में समस्त भुवन स्थित हैं।

यह वर्णन अक्षरशः केन्द्र और उसकी परिधि के लिये ठीक है। केन्द्र का जन्म नहीं होता, पर केन्द्र से ही नाना रूपों में परिधि और आकृतियों का विस्तार होता है। 'एकं बीजं बहुधा यः करोति', एक बीज ही बहुधा होता है, यह परिभाषा केन्द्र में घटती है। सृष्टि इसी का विकास है। वैदिक शब्दों में केन्द्र प्रजापति अनिरुक्त है। केन्द्र के विषय में लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई की कल्पना छू तक नहीं गई है। इसी लिए यज्ञ में प्रजापति के लिये आहुति डालते हुए मन-ही-मन में मंत्र पढ़ा जाता है—ॐ प्रजापतये स्वाहा। (तूष्णीं पठति)। 'तूष्णीं' यही प्रजापति या केन्द्र का सच्चा रूप है। केन्द्र का नाम अश्वत्थ विद्या में ऊर्ध्व है। केन्द्र ही अव्यय है। अव्यय की जो परिभाषा है, वही केन्द्र की है—

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
सर्वेषु च वचनेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥
(महाभाष्य १।१।३८)

सब लिंगों में, सब वचनों में और सब विभक्तियों में जो नहीं बिगड़ता,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वही अव्यय है। आकृतियों के नाना भाँति से बदलते रहने पर भी केन्द्र में बिगाड़ नहीं पैदा होता।परिधि घटती-बढ़ती है, त्रिभुज से सहस्रभुज पर्यन्त बहुरूपी आकृतियाँ केन्द्र के सहारे बनती और मिटती हैं, पर केन्द्र सदा अविकारी, अविचल, एकरस अव्यय बना रहता है।

इन्हीं दो भावों का अद्‌भुत संमिश्रण जगत् है। एक विकारवान् है, दूसरा अविकारी है। एक मर्त्य है, दूसरा अमृत है। एक दुःख, दूसरा सुख है। एक अभ्व, न होता हुआ भी जो हो (अभूत्वा भवतीति) या मिथ्या है, दूसरा आभु चारों ओर से परिपूर्ण रहनेवाला (आसमन्तात् भवतीति) सत्य है। आभु का नाम भूमा है। उपनिषद् के ज्ञानियों ने भूमा को आनन्द कहा है। जब मर्त्य मनुष्य में भूमा भाव का प्रवेश होता है, तभी वह आनन्दी बनता है—

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति

भूमा में सुख है, भूमा का विरोधी अल्पभाव है। यही विश्व का विचित्र परन्तु कठोर सत्य है। केन्द्र देखने में छोटा पर भूमा भाव से युक्त है, क्योंकि इदमित्थं से परे की वस्तु है। परिधि देखने में विस्तृत, पर केन्द्र की अपेक्षा सदा अल्प है। परिधि के परिमाण और वर्णन की इयत्ता है, केन्द्र में अनिरुक्त भाव होने से शब्दों की गति नहीं। केन्द्र या स्व की ओर गति समाधि है। परिधि या संसार की और गति व्याधि है। ऊर्ध्व मूल और अधः शाखवाले अश्वत्थ में दोनों की सत्ता है। ज्ञानियों की दृष्टि इसके ऊर्ध्व या अमृत भाग का ग्रहण करती है। वे अश्वत्थ के अव्यय भाग पर विशेष ध्यान देते हैं। अश्वत्थ के दर्शन के कारण उनके जीवन में वृक्षों जैसा अयाचित व्रत और वृक्षों के सदृश ही पदार्थ उत्सर्ग का भाव पाया जाता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१८. काल

सृष्टि विषयक अनेक गूढ़ समस्याओं में काल की समस्या गूढ़ाति-गूढ़ है। काल के रहस्य के आगे, क्या दार्शनिक और क्या वैज्ञानिक, सभी को हार मानना पड़ी है। इस अद्भुत काल की शक्ति अनन्त है। काल की ही धुरी पर मानो यह जगत् अवलंबित है। छोटे-से-छोटे अणु-परिमाणु से लेकर विराट् ब्रह्माण्ड तक सभी कुछ काल पर आश्रित है। इस काल की हम किस भाँति कल्पना करें? अमूर्त होकर भी यह चराचर जगत् में व्याप्त है। हम पग-पग पर इस अदम्य शक्ति के अस्तित्व का अनुभव करते हैं—काल से परे हम किसी भी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर पाते। इसके रूप को पहचान पाने में हम असमर्थ हैं। हम सत्य की खोज में निकले हैं—एक अदम्य-जिज्ञासा इस विश्व-प्रपंच का रहस्य जान लेने के लिये हमें विकल कर रही है। पर ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, सत्य नये-नये भेष धारण कर हमारे सामने आता है। यही तथ्य काल के बारे में भी लागू है। यह अद्भुत, अज्ञेय, अनन्तशक्तिशाली वस्तु क्या है? दार्शनिक इसके सम्बन्ध में क्या कहते हैं और विज्ञान इसकी कहाँ तक थाह लगा पाया है? आइए, यहाँ इन्हीं प्रश्नों का उत्तर खोजें।

महाभारत (वनपर्व) में एक कथा है, जिसमें किसी यक्ष ने सरोवर में पानी के लिये गए हुए युधिष्ठिर से कुछ गूढ़ धर्म अध्यात्म के प्रश्न पूछे हैं। उनमें से एक प्रश्न यह है—

'हे युधिष्ठिर, बताओ, क्या समाचार है?'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हमारे चारों ओर सदा इसी प्रश्न का ताँता लगा रहता है। जिससे मिलिए, जितनी बार मिलिए, यही प्रश्न सामने आता है—कहिए, क्या समाचार है?

का वार्त्ता

यह प्रश्न बहुत से उत्तर पाकर भी कभी संतुष्ट नहीं होता। कहने को तो संसार के सभी प्रपंच इस प्रश्न के उत्तर हैं, परन्तु युधिष्ठिर ने विचार पूर्वक इसका जो उत्तर दिया वही एक सनातन उत्तर जान पड़ता है। युधिष्ठिर ने कहा—हे यक्ष, संसार-रूपी मोह का कड़ाह है, उसमें सब प्राणी पड़े हुए हैं। रात-दिन का ईंधन जला कर, नीचे सूर्य की आँच लगाकर, महीने और ऋतुओं की करछुल से घोटकर काल हर समय प्राणियों को पका रहा है, बस यही एक समाचार यहाँ है।*

जैसा अजर अमर प्रश्न है, वैसा ही उसका उत्तर है—

भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता।

काल क्या है?

सब प्राणियों को काल का अनुभव है। काल की सत्ता सब चराचर भूतों पर हावी है। कोई ऐसा नहीं जो काल के अधीन न हो। काल जीवन का कठोर सत्य है। काल की कृपा का नाम आयु है, काल का कोप मृत्यु है। संसार का आदि काल में है, संसार का अंत भी काल है। काल से आगे-पीछे और कुछ नहीं बचता। काल से सब भूतों की रचना है, काल ही

---

* अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन।
मासर्तु दर्वी परिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥

वनपर्व ३१३। ११८

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उन्हें मार देता है। सोचकर देखें तो सूर्य और चन्द्र, धरती और आकाश महासागर और महापर्वत, कौन-सी ऐसी वस्तु है जिस पर काल का अंकुश न हो ? अग्नि और वायु जैसे देव और प्रकृति की दूसरी सब विराट् शक्तियाँ, एक-एक करके सभी काल-चक्र के अधीन हैं। काल की इस महिमा को देखकर भृगु ऋषि ने पूर्व युग में काल परक एक गीत गाया—

काल अजर है। काल की शक्ति अनन्त है। काल सबको देखता है वह सहस्र आँखों वाला है। सभी काल के रथ पर बैठे हैं। ज्ञानी इस अश्व पर सवार रहते हैं। मूर्खों पर यह स्वयं सवार रहता है। सब लोक इस अद्‌भुत रथ के पहियों के साथ घूमते हैं। इसकी धुरी में अमृत है, तभी तो वह कभी रुकने या छीजने का नाम नहीं लेता। काल लोकरूपी पहियों को औंग कर आगे ढकेलता है। काल पहला देव है। काल के सिर पर एक पूर्णकुम्भ रक्खा है। यह घड़ा ज्योति से, आयु के जल से लबालब भरा हुआ है। यह घड़ा नाना रूप धरता है। इस सूर्य रूपी घट से ही चंचल बाल्यकाल, मनमोहन यौवन और शुष्क जरा के अनेक रूप देखने में आते हैं। वह काल सबसे ऊँचे लोक में है।

काल ने ही इन रीते भुवनों को जीवन से भर दिया है। काल ने ही रंग-बिरंगे जीवन को एक जगह इकट्ठा किया है। जो काल पिता-रूप में था, वही पुत्र-रूप में बन गया। काल से परे कुछ नहीं है। काल ने द्युलोक को बनाया, काल ने पृथिवी को उत्पन्न किया। भूत और भविष्य की हलचल काल के आश्रित है। सबका होना काल के अधीन है। सूर्य का तपना काल के आधार पर है। काल सूर्य को छोड़ दे, तो सूर्य भी जीवन की सुध भूल जाता है। सब पदार्थ काल के बल पर टिके हैं। आँख जो रात-दिन देखती है, वह काल का ही पसारा है। हमारा मन, प्राण और नाम सब काल के साथ टँका हुआ है। काल के बरदान को पास आया जान कर सब आनन्द से नाच उठते हैं। तप और ब्रह्म-शक्ति काल में है। प्रजापति औरों के पिता हैं, प्रजापति का पिता काल है। काल सब पर ईश्वर है। काल ने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ब्रह्मांड को प्रेरणा दी, काल से उसमें हलचल है और काल से ही उसे ठहराव मिलता है। काल ब्रह्म की शक्ति बनकर प्रजापति को सँभालता है। काल ने प्रजाओं को बनाया, और उनसे भी पहले प्रजापति को बनाया। स्वयम्भू कश्यप काल से बने और काल ने ही तप को पैदा किया।

जल, जो सबकी माता हैं, काल से उत्पन्न हुआ। काल से दिशाएँ निकलीं। काल पाकर सूर्य आकाश में ऊँचे उठते हैं और काल की गति से फिर नीचे डूब जाते हैं। काल पाकर ही बड़ी-बड़ी आँधियाँ उठती हुई वायु-प्रदेश की सफाई करती चली जाती हैं। काल के मंगल से पृथ्वी ओषधि वनस्पति की बढ़ती को पाती है। काल की कृपा से द्युलोक मेघों को गर्भ में भर महान् बनता है। विधाता के मंत्र ने काल में पहले भूत और भविष्य को रच कर देख लिया। ऋक्, यजु और साम का त्रिविध चक्र काल से फैला। काल ने यज्ञ के सनातन ताने-बाने को फैलाया, उसी से सृष्टि के देवों को अक्षय भाग पहुँचता है। काल ने गंधर्व और अप्सराओं के नाना भाँति के जोड़ों में (चन्द्र-नक्षत्र, मन-इन्द्रिय आदि) को बनाया। काल पर ही सब लोक प्रतिष्ठित हुए। अथर्वा और अंगिरा (प्राण और मन) काल पर रुके हुए हैं। यह लोक और परलोक, सब पवित्र विधान, व्रत और मर्यादाएँ काल की कीली पर टिकी हुई हैं। काल सबको बस में रखता हुआ ब्रह्म की शक्ति से घूमता है। काल परम देव है।*

इन मंत्रों में काल से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश पाया जाता है। काल की प्रकट और गुप्त अचिन्त्य महिमा को इतने ओजस्वी शब्दों में वर्णन करनेवाले ये शब्द विश्व के साहित्य में बे जोड़ हैं। यहाँ कहा है कि स्थिति और गति दोनों काल के आश्रित हैं। सब प्राणियों की रचना में काल ने प्रमुख भाग लिया है। देश के साथ जब तक काल न मिले तब तक सृष्टि का पूरा चौखटा नहीं बनता। सापेक्ष्यतावादी

---

* अथर्व वेद काण्ड १९। सूत्र ५३, ५४।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दार्शनिक देश-काल के सम्मिलन को बहुत सच्चे अर्थों में सृष्टि का कारण मानते हैं। देश स्थिति है, काल उसको धक्का या गति देता है। संसार शब्द का अर्थ ही है 'जो चले'। संसार का संसारपना काल के अधीन है। 'जगत्' का भी शब्दार्थ यही है। गच्छति इति जगत्, जो जाता है वह यह जगत् है। काल के बिना जाना हो नहीं सकता। एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर वस्तु का हट जाना, यह गमन क्रिया है। घड़ी की सूई एक अंक से हटकर दूसरे अंक पर चली जाती है। इसी का नाम काल है। सूई की प्रगति का कारण काल है। काल प्रगति का फल नहीं, उसका बीज कारण है। ऊपर से देखने से जान पड़ता है कि घड़ी की सूई एक जगह से दूसरी जगह हट गई, उसका फल क्षण, मुहूर्त्त और घंटे हैं। बात असल यह है कि जो काल है वही घड़ी की गति का बीज है। काल फल नहीं है, स्वयं बीज है, निर्माता है, पिता है। घड़ी तो मनुष्य की कल्पना का कल-पुर्जा है। उसे मनुष्य की चाभी चाहिए, तब सुइयों में प्रगति आती है। पर प्रकृति की घड़ी हमारे समाने है। उसकी चाभी में अमृत है। वहाँ न गति बाधा है, न रोक है। सूर्य, नक्षत्र और पृथ्वी, स्थिर कोई नहीं है। सब जगत् के अन्तर्गत हैं। सब में 'गम्लृ गतौ' धातु के रूप समाए हुए हैं। इनको धक्का देने वाली शक्ति कौन है? यह प्रेरक शक्ति काल है। काल पृथिवी को सूर्य के चारों ओर घुमाकर हमारे सामने रात-दिन, महीने, ऋतु और संवत्सर की कल्पना करता है। पृथ्वी का घूमना घड़ी की सुई की तरह स्थान बदलना है। इसके पीछे चाभी भरने वाली अमर शक्ति काल है। सारे ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं जो काल के सामने आकर पैर अड़ा सके। दूर-से-दूर तक के नक्षत्र और नीहारिकाएँ सभी काल की प्रेरणा से धीरे-धीरे अपनी कुंडली खोलते चले जा रहे हैं। छोटे-से-छोटे परमाणु भी प्रगति के शासन में हैं। अरबों बरस भले ही लगें, पर रेडियम के परमाणुओं का तेज छीन कर उन्हें सीसा बना देने की शक्ति कालने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अपने हाथ में रक्खी है। वैज्ञानिक बताते हैं कि दो अरब बरसों में हिरण्यमय पदार्थों के परमाणुओं का विशकलन होते-होते यह दशा हुई है। यह प्रक्रिया काल को नापने की एक प्राकृतिक घड़ी मात्र है। असल बात तो काल की अप्रतिहत शक्ति है। अणु और महत् दोनों में वह व्याप्त है।

मूर्त और अमूर्त काल

जो काल इतना बलवान् है, क्या वही सृष्टि का कारण नहीं है? इस प्रश्न पर भारतवर्ष ने अपनी निजी दृष्टि से विचार किया है। एक काल वह है जो लव-निमेष-युग के रूप में हमारे अनुभव में आता है। यह काल का मूर्त रूप है। घड़ी की सुई से बनने वाले मिनिट और घंटों की तरह मूर्तकाल प्रगति का फल है। इसके पीछे जो प्रेरक शक्ति है वह अमूर्त या अव्यक्त काल है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस बात की खोज करते हुए कि सृष्टि का कारण क्या है, काल को एक कारण कहा गया है। पर यह पूर्व पक्ष है। सृष्टि का असली कारण तो ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति है। काल का जो मूर्त या व्यक्त रूप है वह सृष्टि की प्रेरणा करता हुआ भी उसका आदि मूल कारण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः तो काल ब्रह्म शक्ति का ही दूसरा नाम है। जो सब देवों और सब भूतों से पीछे है, वही अव्यक्त अमूर्त शक्ति सृष्टि का बीज है। इसी काल को लक्ष्य करते हुए अथर्ववेद में काल को परम देव कहा गया है। भारतीय दार्शनिक परिभाषा में काल और ब्रह्म पर्याय-वाची हैं। हमारे 'सहस्र नाम' ग्रन्थों में सब देवों के निरपेक्ष स्वरूप का एक नाम काल भी पाया जाता है।

अमूर्त काल के व्यक्त अवयव सूर्य के द्वारा जाने जाते हैं। अतएव लव निमेश से युग पर्यन्त काल सूर्य से गृहीत है। यह काल का शुक्ल या प्रकट पक्ष है। काल का जो एकरस रूप है उसमें मास ऋतु और संवत्सर के विराम चिह्न कहीं देखने में नहीं आते। हमारी आँखों के सामने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

काल का जो प्रवाह है, उसमें कहीं पर कोई पक्का निशान पड़ा हुआ नहीं मालूम पड़ता। काल के हिसाब-किताब की कल्पना अमूर्त काल की दृष्टि से माया है। अव्यक्त काल को मूर्त काल की तुलना में कृष्ण कहा गया है। सूर्य का दूसरा नाम गरुत्मा सुपर्ण या गरुड़ है। सूर्य खगेन्द्र है। **खे आकाशे गच्छति इति खगः**, आकाश में जो विचरण करे वह खग है। नक्षत्र और ग्रह 'खग' हैं। इनमें सूर्य खगेन्द्र या पक्षिराट् है। सूर्य मूर्त काल का प्रतीक है। उसका उल्टा जो एकरस काल है वह कृष्ण रूप होने से कागभुशुण्डि है। गरुड़ कल्पान्त तक रहते हैं। जब तक विष्णु की सृष्टि है तभी तक गरुड़ है। कागभुशुण्डि अमर है, मृत्यु उसका स्पर्श नहीं करती।

अहोरात्र वाद

ऊपर कहे काल के दो स्वरूपों की दार्शनिक छान-बीन का प्राचीन नाम अहोरात्रवाद है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि से पहले की अप्रतर्क्य दशा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उस समय रात और दिन का बिलगाव नहीं था—

न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।

सृष्टि के होते ही प्रलय की कल्पना होती है। रात और दिन एक जोड़ा है। इसी के बहुत से नाम हैं। यह जगत् द्विधा बद्ध है। दिन सृष्टि है, रात प्रलय है। दिन प्रकाश या ज्योति, रात अन्धकार या तम है। दिन शुक्ल भाव है, रात कृष्ण भाव है। दिन स्थिति है, रात विघटन या चर भाव है। दिन का नाम सत्य और रात का नाम ऋत है। दिन द्युलोक है, दिन के साथ देवों का सम्बन्ध है। रात पृथ्वी है, उसके साथ आसुरी शक्ति का सम्बन्ध है। असुरों की सत्ता रात में बढ़ती है। दिन ज्ञान और रात अज्ञान है। ब्रह्माण्ड में जब तक सूर्य की तरह के संचित शक्ति-केन्द्र हैं, तब तक सृष्टि या काल है। जब शक्ति के अधः प्रवाह से संचित केन्द्र

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विलीन हो जाँयगे, अर्थात् शक्ति एकरस होकर सर्वत्र समान रूप से फैल जायगी, तभी सृष्टि का अन्त होगा, वही कृष्ण काल या प्रलय है। विज्ञान की परिभाषा में शक्ति के इस बराबर बह जाने को, ऊँचे केन्द्र से नीचे की ओर बँट जाने को, ताप प्रगति का दूसरा नियम कहा गया है।

कालं कालेन पीड़यन्

यहाँ एक दार्शनिक उलझन पैदा होती है। यदि शक्ति के ऊर्ध्व केन्द्र इसी तरह बिखरते रहेंगे तो प्रलय अवश्यम्भावी है। उस प्रलय के बाद फिर सृष्टि कैसे होगी? वैज्ञानिकों का कहना है कि अब तक का जो हमारा अनुभव है उससे यह तो मालूम होता है कि शक्ति बट रही है। पर कहीं भी उपरोक्त दूसरे नियम की उल्टी प्रक्रिया देखने में नहीं आती, अर्थात् ब्रह्मण्ड में बराबर फैली हुई शक्ति में नये संचित शक्ति केन्द्र पैदा होते नहीं देखे जाते। जो जल एक समान धरातल पर फैल गया है, उसे फिर ऊँचा उठाने के लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता होती है। कुछ दार्शनिक इस बाह्य कारण को ईश्वर के रूप में मान लेते हैं।

ऋषियों के अनुसार काल की प्रगति एक चक्र के समान है। मनु ने इसे यों कहा है कि काल ही काल पर दबाव डाल कर प्रलय के बाद सृष्टि करता है। घड़ी की जो चाभी खत्म हो गई है, उसके कूकने का प्रबन्ध भी साथ-ही-साथ है। इसी का उदाहरण सोना या पुनः जागना है। सोने के बाद जागना उसी प्रक्रिया का फल है। प्रलय में शक्ति का संचय यही तप है। किसी अचिंत्य शक्ति के तप में ही भारतीय ऋषि सृष्टि का विकास स्वीकार करते हैं।

लोमश

अर्वाचीन भूगर्भ शास्त्र और रेडियम के विज्ञान ने हमारी काल सम्बन्धी कल्पना को विस्तृत बना दिया है। वैज्ञानिकों की दृष्टि से पृथिवी की आयु लगभग दो अरब वर्ष है। आर्यों से संकल्प में दिया हुआ सृष्टि-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

संवत्सर भी करीब इतना ही है। हमारा संकल्प देश और काल का सूत्र रूप से परिचय देता है। मनुष्य देश और काल की सन्धि के किसी विन्दु पर खड़े होकर किसी कार्य को करने का संकल्प करता है। हमारे प्रचलित संकल्प मंत्र में ये पाँच विषय रहते हैं। किस देश में, किस काल में, कौन व्यक्ति, किस कार्य को, किस उद्देश्य से करना चाहता है? यही संकल्प का पाठ है। काल की गणना को आर्यों ने एक शास्त्र का रूप दे दिया था। मानुष, पित्र्य, दैव और ब्राह्म चार प्रकार के दिन-रात की कल्पना की गई है। महर्षि वार्कलि ने काल की माप का यह पहाड़ा स्थिर किया था—

१५ स्वेदायन = १ लोमगर्त्त
१५ लोमगर्त = १ निमेष
१५ निमेष = १ अन
१५ अन = १ प्राण
१५ प्राण = १ इदम्
१५ इदम् = १ एतर्हि
१५ एतर्हि = १ क्षिप्र
१५ क्षिप्र = १ मुहूर्त
३० मुहूर्त = १ अहोरात्र

इसके आगे पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, कल्प के परिमाण हैं। काल के इन तीनों भेदों का अनन्त काल के साथ जो संबन्ध है उसे पुराणकारों ने लोमश ऋषि की कल्पना से प्रकट किया है।

एक सृष्टि ब्रह्मा का दिन और एक प्रलय ब्रह्मा की रात है। ऐसे रात-दिनों को जोड़ कर जब सौ वर्ष पूरे होते हैं तब ब्रह्मा की आयु पूरी हो जाती है। लोमश ब्रह्मा के पुत्र हैं। ब्रह्मा की आयु लोमश की आयु का एक दिन समझा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोमश को प्रतिदिन

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अपने पिता का श्राद्ध करना पड़ता है। इसके लिये लोमश सारे सिर का क्षौर न कराकर अपना एक रोम उखाड़ कर फेंक देते हैं; अर्थात् लोमश के एक रोम में एक-एक ब्रह्मा की आयु के बराबर काल की सत्ता समाई हुई है। लोमश का नाम ही यह प्रकट करता है कि उनके रोम-रोम में काल का यह अनन्त परिमाण भरा हुआ है। लोमश की देह के रोएँ कौन गिन सकता है ?

लोमश की आयु में कितने सर्ग और प्रलय पार उतर जाते हैं ? इसकी कल्पना भी गणित के अंकों द्वारा हमारे मन को नहीं हो सकती। अनन्त काल की नाप करने में भी कौन समर्थ हो सका है ? दोनों की कल्पना से बुद्धि चकराने लगती है। मेटरलिंक के शब्दों में काल और देश, जीवन और चैतन्य, अनन्तता और नित्यता—ये अगम्य और अचिन्त्य रहस्य हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१६. देश

'मैं हूँ', यह प्रतीति मनुष्य मात्र के मन में होती है। पर 'मैं हूँ' इस अनुभव के साथ ही यह प्रश्न भी जुड़ा रहता है—'मैं कहाँ हूँ?' 'कहाँ' का उत्तर ही देश-संबन्धी ज्ञान है। देखने में यह प्रश्न साधारण-सा जान पड़ता है, पर विचारने पर ज्ञात होता है कि हमारे समस्त जीवन और ज्ञान की सत्ता इसी 'कहाँ' की कृपा पर निर्भर है। यदि 'कहाँ' न हो तो 'मैं हूँ' इस वाक्य का कुछ अर्थ ही न रहे। 'कहाँ' को साथ लेकर ही इस जगत् की स्थिति संभव है। 'कहाँ' का अर्थ 'देश' है। देश के बिना सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र, मनुष्य-पशु-पक्षी, मार्ग-भवन-उपकरण, अर्थात् व्यवहार में आने-वाले जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी स्थिति निराधार हो जाती है। जब देश ही नहीं, तो उसमें भरे हुए पदार्थों का अस्तित्व बुद्धि कैसे मान सकती है? हमें जो पदार्थों की प्रतीति होती है, उसमें हम उन्हें देश में किसी क्रम से सजे हुए रूप में विचारते हैं। इसका यह अर्थ होता है कि दो पदार्थ एक ही स्थान पर नहीं रह सकते। एक पदार्थ जिस स्थान को घेरे हुए है, दूसरा उसी को घेर कर नहीं टिक सकता। यह असम्भव है। इसीलिए साधारण मनुष्य की बुद्धि भी इस बात को बिना दलील के स्वयंसिद्ध सत्य की भाँति मान लेती है।

पर हमें अपने कथन में और सावधानी रखने की आवश्यकता है। जब हमयह कहते हैं कि दो पदार्थ एक स्थान को घेरकर नहीं टिक सकते, तो उस कथन में एक बात और छिपी रहती है। हमारा तात्पर्य यह होता है कि एक ही समय में एक स्थान पर दो चीजों का भौतिक अस्तित्व असम्भव है। भिन्न-भिन्न समय में तो एक स्थान पर हजार चीजें भी रह सकती हैं। अतएव दार्शनिक अर्थों में काल का देश के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। अथवा यों कहें कि देश का काल के साथ गहरा सम्बन्ध है। देश-काल एक अभिन्न चौखटा है। हमारे अनुभव का स्वयंसिद्धि वाक्य 'मैं हूँ' यदि कुछ बुद्धिगम्य अर्थ रखता है, तो उस अर्थ को हमें देश काल की रूपरेखा में रखकर ही समझना होगा। 'मैं हूँ' यह ज्ञान देश सापेक्ष्य है और काल-सापेक्ष्य भी है। दोनों का समान बल है। मुष्टिक और चाणूर के जैसा समान बल लेकर देश और काल रूपी दो पहलवान मानव के हर एक अनुभव से सदा टक्कर लेते रहते हैं। इनमें से एक का नाम 'कहाँ' और दूसरे का नाम है 'कब'? 'कहाँ' और 'कब' की मैत्री सृष्टि के आदि से है, इनका 'सातपदीन सख्य' प्रलय तक बना रहेगा। संभवतः प्रलय की कल्पना भी मानवी मस्तिष्क बिना 'कुत्र' और 'कदा' की छाया के नहीं कर सकता। यह शाश्वत द्वन्द्व है। एक ओर 'कदाकर्हि तदातर्हि' की धारा है; कुत्र-तत्र का समानान्तर प्रवाह है। दोनों में सनातन पार्थक्य है, कभी संकर नहीं होता, फिर भी सृष्टि-प्रक्रिया के लिये दोनों का अभिन्न संबन्ध हुए बिना काम भी नहीं चलता। कवि के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि 'कदा' पुरुष और 'कुत्र' स्त्री है। दोनों का विवाह सम्बन्ध रचाए बिना ब्रह्माजी सृष्टि नहीं कर सकते। पुरुष जब तक अकेला रहा, सृष्टि में उसका मन नहीं लगा। सृष्टि के लिये ललाम भाव चाहिए। ललाम भाव या विवाह की मूल स्त्री है। इसलिए बिना पुरुष-स्त्री के मिथुनी-भाव के प्रजापति का क्रम अग्रसर नहीं होता। काल पुरुष है, देश स्त्री है। काल की तरह संतत गतिशील तत्त्व में स्थिरता का सम्पर्क देश से ही होता है। स्त्री रूपी देश में जब मनुष्य प्रतिष्ठा पाता है तभी वह एक स्थान में जमकर रहता है। बिना स्त्री के मनुष्य फिरन्दर प्राणी बन जाता है। देश सम्बन्धी प्रतिष्ठा जिसमें नहीं रही उसकी संज्ञा परिव्राट् होती है। स्त्री केन्द्र है, गृहस्थ रूपी मण्डल का वह ध्रुव-बिन्दु है। केन्द्र या ध्रुव-बिन्दु ही देश का प्रतीक है। ध्रुव-बिन्दु जब चंचल हो जाता है तभी वस्तु का विनाश निकट आ जाता है। चंचला स्त्री समाज और कुल की प्रतिष्ठा और दृढ़ स्थिति

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

को अस्त व्यस्त कर डालती है। देश और काल ने बहुत ही गहरे और सच्चे अर्थों में मनुष्य जीवन को बनाने और बिगाड़ने में भाग लिया है। शतपथ ब्राह्मण में नामरूप के बारे में कहा है—

ते ह एते ब्रह्मणः महती अभ्वे, महती यक्षे।

अर्थात् नाम और रूप ब्रह्म के दो बड़े मायिक रूप हैं, दो बड़े यक्ष हैं। जो यजन या पूजन के योग्य हो उसे यक्ष कहते हैं। देश और काल से बढ़कर ब्रह्म का पूजनीय रूप और क्या हो सकता है? ये रूप इतने चमत्कारी हुए कि इनके द्वारा ही सृष्टि का अत्यन्त रहस्यमय और आश्चर्य से भरा हुआ ताना-बाना फैल गया। सृष्टि के विस्तृत पट से अधिक सुन्दर और रमणीय पट की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऋग्वेद में कहा है कि दो विरूप युवतियाँ इस तन्तु को रात-दिन बुनती रहती हैं। उन युवतियों का रूप विविध है, एक-दूसरे से भिन्न है। इसी कारण इस वस्त्र में आगे चलकर विलक्षण रमणीयता के दर्शन होते हैं। इन दो रूपों को ऋषियों ने 'अभ्व' भी कहा है। अभ्व की परिभाषा है—अभूत्वा भवतीति, जो न होकर भी होवे, वास्तविक सत्ता न होते हुए जो दिखाई पड़े। यही माया है। शतपथ ब्राह्मण में नाम और रूप को 'अभ्व' और 'यक्ष' कहा गया है। नाम-रूप ही देश-काल हैं। नाम काल है, रूप देश है। ये केवल परिभाषाएँ हैं। यों भी साधारणतः लोक में नाम काल पर विजयी होकर अमरपन चाहता है, और रूप देश में अपने विविध आकारों का प्रसार करता है। प्रश्न यह है कि क्या देश और काल मायिक हैं, क्या उनकी प्रतीति मात्र है, वास्तविक सत्ता नहीं? यह प्रश्न वेदान्त में बड़े महत्व का माना गया है। तत्त्व जिज्ञासा के मार्ग में यह बार बार सामने आता है। आज विज्ञान भी इस प्रश्न से लोहा ले रहा है। ज्ञानी लोग आन्तरिक अनुभव और साक्षात् दर्शन के आधार पर देश काल को माया कहते हैं। वेद में भी इनका नाम 'अभ्व' है। इनके विपरीत जो नित्य तत्त्व है वह

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ब्रह्म है, वही 'आभु' कहलाता है। 'आभु' का अर्थ है—**आसमन्तात् भवतीति,** जो सब ओर से भर रहा हो। ब्रह्म का और नाम-रूप या देश-काल का संबन्ध आभु और अभ्व का अथवा सत्य और माया का संबंध है।

अर्वाचीन विज्ञान ने भी अब देश-काल के वास्तविक स्वरूप की छान-बीन की ओर अपना पैर बढ़ाया है। प्राचीन रेखागणित के अनुसार देश ध्रुव या अचल प्रतीति का विषय था। देश का ज्ञान मनुष्य के मनमें स्वाभाविक संस्कारों के कारण स्वयंसिद्ध-सा बन गया था। पर देशसंबंधी ज्ञान का स्वरूप क्या है, इसकी विवेचना करते समय हमारा ध्यान देश में स्थित पदार्थों की पारस्परिक दूर अथवा निकटस्थ स्थिति की ओर जाता है। जब हम मान लेते हैं कि सूर्य एक स्थान पर है तब चन्द्रमा की स्थिति का अनुमान करने के लिये आधार प्राप्त होता है। सूर्य की तुलना में चन्द्रमा किधर और कहाँ है; इसकी प्रतीति देश की प्रतीति है। देश संबन्धी ज्ञान का सबसे अधिक आवश्यक अंग पदार्थों का क्रम है जिसके अनुसार हम उनका अनुभव प्राप्त करते हैं। हमारे सामने मेज पर रक्खी हुई चीजों में जो आगे-पीछे, दाहिने-बाएँ या ऊपर नीचे का क्रम है, उसीके कारण देश की कल्पना का खाका पूरा होता है। देश का साहचर्य दिशाओं के साथ हैं। प्राचीन कलाविदों की कल्पना के अनुसार छः दिक् कुमारिकाएँ मध्यवर्ती ब्रह्माण्ड चक्र को अपने कन्धों पर उठाये हुए दुर्धर्ष वेग से एक नियत अक्ष पर घूमती रहती हैं। दिशाओं के त्रिविक्रम से ही विराट् रूपधारी विष्णु देश में अपने तीन पैर उठाते हैं। प्राची-प्रतीची, दक्षिण-उदीची, ऊर्ध्व-अधः यही देश का सूत्रमय रूप है। परन्तु यह कल्पना केवल व्यवहार के लिये मान ली गई है। एकरस देश में कोई भी ऐसी रेखा या बिन्दु नहीं पाया जाता जिसे अटल मानकर देश का विस्तार नापने के लिये हम बाध्य हों। एकरस काल का भी यही स्वभाव है। उसके संततवाही प्रवाह में कोई भी ऐसा क्षण नहीं पकड़ा जा सकता जहाँ से शकारि विक्रम ने साका करके अपना

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

संवत् चला दिया हो। विक्रम से पहले जो काल बीत गया, उसकी क्या कल्पना हो सकती है? कहाँ से उसको नापना शुरू किया जाय? हम देख चुके हैं कि घड़ी की सूई के एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटकर चले जाने का परिणाम हमारा व्यावहारिक काल है। इस काल का हमको जिस विधि से ज्ञान होता है, उसके लिये देश में दो बिन्दुओं की कल्पना आवश्यक है, एक चल, दूसरा अचल, जहाँ से कि चल बिन्दु की नाप-जोख की जा सके। पर प्रकृति के विधान में इस प्रकार के ध्रुव-बिन्दु का नितान्त अभाव है। अतएव दार्शनिक ढंग से न देश की कल्पना बनती है और न काल की। हाँ, व्यावहारिक पक्ष में इन दोनों का स्वयं-सिद्ध अनुभव सब को हो ही रहा है। नित्य देश और सनातन काल का अनुभव हम सबकी पहुँच से बाहर है। वह मनुष्य के मस्तिष्क का विषय नहीं है। न हमारी इन्द्रियाँ ही उसके ज्ञान में सहायक हो सकती हैं।

जब से सापेक्षता वाद ने विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया है तब से देश और काल की कल्पना और भी विचित्र हो गई है। प्राचीन प्रमाणों से निश्चित अनुभव हमें प्राप्त होता था वह भी अब अपरिवर्तनशील नहीं समझा जाता। पूर्व गणित का मत था कि एक गज की लम्बाई चाहे जिस परिस्थिति में नापी जाय ३६ इञ्च ही रहेगी। अपने पास के देश से लेकर ब्रह्माण्ड के दूरातिदूर प्रदेश में भी इस नियम का अपवाद नहीं है। गति और स्थिति की हर एक दशा में देश और काल के परिमाण एक-से बने रहते हैं। अब यह समझा जाने लगा है कि देश का परिज्ञान हमारा एक प्रकार का अनुभव ही है, उसकी स्वतंत्र वास्तविक में सत्ता है या नहीं हम नहीं जानते। मनुष्य का अनुभव किन्हीं विशेष परिस्थितियों में होता है। मनुष्य की चक्षुरिन्द्रिय पदार्थ को देखती है, हम उसके आकार और परिमाण का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस अनुभव में हमारी इन्द्रियों के अतिरिक्त प्रकाश भी एक कारण है। हम जिस परिस्थिति में रह रहे हैं उसमें प्रकाश की किरणें प्रति सैकिंड १ लाख ८६ हज़ार मील की नियत गति से

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

चलती हैं। हम जिस क्षण वस्तु को देखते हैं उसी क्षण प्रकाश की किरणें हमारी ओर आने लगती हैं। इस दूरी को पार करने में उन्हें कुछ समय गणित की दृष्टि से लगना चाहिए। पर हमें यह अन्तर मालूम नहीं होता। कारण कि देश की जिस दूरी से प्रायः हमें काम पड़ता है उसको तय कर लेने में प्रकाश रश्मियों को जो समय लगता है वह नगण्य है। प्रकाश किरण की रफ्तार इतनी अधिक है कि वह १ सेकेण्ड में २५ हजार मील परिधि वाले इस पृथ्वी मण्डल के सात चक्कर काट सकती है। पर इस अनन्त ब्रह्माण्ड में कितने ही नक्षत्र इतनी दूर हैं जहाँ से प्रकाश-किरणों को भी आने में करोड़ों वर्ष लग जाते हैं। जब तक उस नक्षत्र की प्रकाश किरण हमारे पास न आ जाय तब तक देश-काल के चौखटे में उसका अस्तित्व हमारे लिये सिद्ध नहीं हो सकता। जिस समय देश का पृथक् अस्तित्व और काल की पृथक् सत्ता स्वयं सिद्ध मान ली जाती थी, उस समय की गणित बुद्धि को लेकर यह संतोष कर सकते थे कि काल की सहायता के बिना भी देश में वस्तु की स्थिति संभव है, परन्तु अब देश काल का जाल अखण्ड या संतत माना जाता है। इस अखण्ड स्थिति में आए हुए पदार्थ का ही ज्ञान हमें हो सकता है, अन्य का नहीं। न केवल देश में, और न केवल काल में हम किसी वस्तु को जान सकते हैं। देश काल की अखंड स्थापना के कारण भूत और भविष्य के विचारों में भी उथल-पुथल पैदा हुई है। मान लीजिए ब्रह्म-हृदय नक्षत्र से जो प्रकाश-किरण चली वह चौदह करोड़ वर्ष में हमारे पास आकर पहुँची। उस नक्षत्र की उन अतीत घटनाओं की हमारे ज्ञान में सम-सामयिक प्रतीति वस्तुतः प्रकृति की ओर से आज संभव हो सकी है। प्रकाश किरणों की गति के जो नियम हैं उनसे हमारा ज्ञान जिस प्रकार नियंत्रित हो रहा है, उसी को हम सत्य ज्ञान मानेंगे। काल विरहित देश में ब्रह्म-हृदय नक्षत्र की १४ करोड़ वर्ष पूर्व सत्ता, जिसे हम अब तक सत्य समझते थे, भले ही हो; पर कल्पना है, सत्य नहीं। प्रकृति जिस आयोजन से सत्यात्मक प्रतीति हमें कराती है हमें उसी को मान्य समझना होगा। अतएव हमारे देश काला-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

त्मक अनुभव में ब्रह्म-हृदय नक्षत्र का भूतकाल जब प्रविष्ट होता है हम तभी उसे सत्य मानने के लिये विवश हैं। ज्ञान के जो प्राकृतिक साधन हैं हम उन्हीं पर निर्भर हैं। उनके आगे या पीछे हट कर हम किसी घटना का कल्पनात्मक अनुभव नहीं कर सकते। यदि करें भी तो उस अनुभव की प्रणाली वैज्ञानिक नहीं कहीं जायगी।

अभी जो उदाहरण दिया गया है उसमें प्रकाश की नियत गति मान कर ही यह बताया गया है कि ब्रह्म-हृदय का भूतकाल कितना पिछड़ कर भी हमारे वर्त्तमान काल का समसामयिक हो जाता है। मान लीजिए कि गति इससे दुगुनी होती तब तो आधी ही देर में वह अनुभव हमारे पास तक आ जाता; अर्थात् हमारे अखंड देश-काल के साथ उस समाचार का संबन्ध किसी अन्य प्रकार से हुआ होता। और यदि ब्रह्म-हृदय नक्षत्र के प्रकाश की गति से हमारी अपनी गति दुगुनी हो जाती तो उस समाचार का कभी हमारे साथ संबन्ध होता ही नहीं; अर्थात् हमारे देश-काल के लिये उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार काल संबन्धी व्यावहारिक परिमाण सापेक्ष हैं। कवि ने कहा है कि कागभुशुण्डि जी ने राम के उदर में करोड़ों ब्रह्माण्ड निकायों का दर्शन किया और शत-कल्प तक घूमते फिरे, फिर भी—

उभय घरी महँ मैं सब देखा।
भयेउँ भ्रमित मन मोह बिसेखा॥

'दो घड़ी में ही मैंने सब देख लिया।' यहाँ कालकृत परिणाम भिन्न-भिन्न लोकों के हैं। मानवी धरातल पर जो काल का प्रवाह है यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र उसी का साम्राज्य हो।

देश की प्रतीति भी द्रष्टा या अनुभव-कर्त्ता की स्थिति से सापेक्ष्य है। मान लीजिए कि हम से एक मील की दूरी पर एक शेर लेटा हुआ है। इस स्थिति में जब कि द्रष्टा और दृश्य वस्तु नियत स्थान पर है, वस्तु की लम्बाई चाहे देखने वाले कितने ही हों सब को बराबर दिखाई देगी, क्योंकि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सबका देश काल का चौखटा एक-सा है। परन्तु यदि सिंह वेग से भागने लगे तो उसकी लम्बाई में हमारी अपेक्षा से कुछ अन्तर चाहे वह कितना ही कम क्यों न हो, पड़ जायगा। यदि वही सिंह एक लाख मील की तेजी से दौड़ने लगे तो उसकी लम्बाई में हम को वास्तविक फर्क दिखाई पड़ेगा, यह कथन युक्ति या बुद्धि से विपरीत जान पड़ता है। और यह सच है कि मानवी व्यवहार में इस तरह की विप्रपिपत्ति के अवसर नहीं आते। फिर भी वैज्ञानिक सापेक्ष्यतावाद को मान कर पुराने देश-काल संबन्धी विचारों में परिवर्तन करने पर विवश हुए हैं। ये कथन इतने सीधे नहीं है जितने जान पड़ते हैं। इनके व्याख्यान और सिद्धि के लिये अत्यन्त जटिल युक्ति और पेचीदा गणित-शैली का आश्रय लेना पड़ता है, जो व्यावहारिक या मौलिक क्षेत्र से परे की वस्तु है, दार्शनिक मतवाद के लिये उसका कुछ भी महत्त्व क्यों न हो।

भारतीय दर्शन में देश-काल की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता को बहुत पुराने समय से ही स्वीकार कर लिया गया था। लोक-दृष्टि से देश और काल दोनों का अनुभव हम रात और दिन करते रहते हैं। इन से ऊपर उठकर इनके सत्य स्वरूप की मीमांसा में देश और काल वैसे ही अचिन्त्य तत्त्व हैं जैसे आत्मा, चैतन्य, ब्रह्म आदि। विज्ञान के नये दृष्टि-कोण में महत्वपूर्ण अंश वह है जिसमें देश काल की सत्ता एक दूसरे से अखण्ड मानी गई है। भारतीय दर्शन भी इसी अखण्डता को स्वीकार करता है। देश काल दोनों एक दूसरे से अविनाभूत हैं। इन्हें द्वन्द्व कहा गया है। सृष्टि के लिये दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। काल गति है, देश स्थिति है। गति स्थिति के सम्मिलन का नाम ही जगत् है। बृंहणत्व या बढ़ना काल की शक्ति से होता है। पर देश न हो तो बृंहण की प्रक्रिया नहीं हो सकती। केन्द्र से परिधि की उत्पत्ति देश के अधीन है। अणु से विराट् होना देश की कृपा पर निर्भर है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२०. ऋत

मनुष्य के सामने सृष्टि का अनन्त विस्तार फैला हुआ है। वैज्ञानिक और पौराणिक दोनों ही अपनी-अपनी दृष्टि से सृष्टि की अनन्तता के विषय में एकमत हैं। विज्ञान के अनुसार यह ब्रह्माण्ड सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं के पारस्परिक संघटन और विघटन का परिणाम है। यज्ञ की परिभाषा में ये परिमाणु कुछ-कुछ वेदि चयन की इष्टकाओं की भाँति जान पड़ते हैं जिनको विधाता ने अत्यन्त स्थिर रीति से अपने स्थान में प्रतिष्ठित कर रक्खा है। काल के संततवाही प्रवाह में इनके ध्रुव विन्दु अविचाली रहकर सृष्टि की धुरी को पकड़े रहते हैं। परमाणु की आन्तरिक रचना अत्यन्त जटिल है। वस्तुतः उसके रहस्य के समक्ष विज्ञान के मनीषी उपासकों की प्रतिभा भी आज तक पूरी विजय नहीं पा सकी। परमाणु का केन्द्र क्या है, उसकी परिधि पर चकराते हुए विद्युत्कणों का यथार्थ स्वरूप क्या है, यह एक पहेली है। क्या इन कणों का अन्तिम रूप भौतिक है, अथवा क्या ये केवल विद्युत् की तरंगे हैं, जिनके आन्दोलन की प्रतीति मात्र हमारे यंत्रों द्वारा होती है, इन प्रश्नों का संतोषप्रद समाधान विज्ञान को प्राप्त करना शेष है। हो सकता है, यह रहस्य मानवी मस्तिष्क के लिये इसी प्रकार दुरूह बना रहे। अथवा यह भी संभव है कि कुछ क्षणों के लिए प्रकृति अपने रहस्यमय प्रांगण की एक झाँकी मनुष्य के लिये सुलभ कर दे। यह उसके स्वयंवर की इच्छा पर निर्भर है। जो अज्ञात और अपरिचित है, वही रहस्यमय है। जो रहस्य है वही आकर्षण से युक्त है। वैज्ञानिक तत्त्वों का अरोहणीयान् रूप एकान्तः आकर्षण और सौंदर्य भाव से संपन्न है।

विश्व का महत् रूप भी अत्यन्त विलक्षण है। कहाँ एक ओर हमारी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यह पृथिवी और कहाँ दूसरी ओर ऐसे-ऐसे दूरस्थ नक्षत्र और नीहरिकाएँ जिनके प्रकाश को हमारी पृथिवी तक पहुँचने में करोड़ों वर्ष तक लग जाते हैं। ब्रह्माण्ड की कुक्षि में हमारी पृथिवी जैसे अंगणित नक्षत्र जगत् भरे हुए हैं। उनकी संख्या निर्धारित करने में गणित के अंक हमारी सहायता करने में हिचकिचाते हैं। कैलाश को तोलने वाले दशग्रीव रावण के समान ये दशविध अंक भी अन्ततः रो देते हैं। किन्हीं वैज्ञानिकों का यह कहना है कि निखिल ब्रह्माण्ड की तुलना में एक नन्हा-सा सिकता-कण, किसकी सान्त्वना के लिये हो सकता है?

पुराणों की भाषा का प्रयोग करें तो अनन्त विश्व का यह रूप और भी काव्यमय प्रतीत होगा। विराट् विष्णु के एक-एक रोम में कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का समावेश कहा जाता है। परन्तु उन सब के पीछे जो महान् तत्त्व है उसके नियम से बहिर्गत कुछ नहीं है। संभवतः उस तत्त्व का एक रोआँ भी इस सृष्टि से पूरी तरह विपरिणाम या विकार को प्राप्त नहीं हो पाता। उसके एक अनिर्दिष्ट अंश में ही यह जगत् परिछिन्न है।

ऋत का तन्तु

सूक्ष्म और विराट् विश्व के अनन्त रूप को एक सूत्र में ग्रथित करने वाला रहस्य क्या है? चौदह कोटि प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित नक्षत्रों में परमाणु के विकास और विलय के जो नियम कार्य कर रहे हैं वे ही हमारे समीप में हैं। ध्रुव नक्षत्र या अगस्त्य नक्षत्र में जीवन और मृत्यु का जो अनुशासन है वही इस पृथिवी पर है। जो यहाँ है वही सर्वत्र है, जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है। यही सरलतम वैज्ञानिक नियम है। किसी देश-विशेष में ऐसी गुहा नहीं है जहाँ प्रकृत रहस्यों की कुन्जी छिपी हो। **'सर्वं सर्वत्र सर्वदा'** शाश्वत अनुभव है। भूत-भविष्य-वर्तमान में विश्व-प्रवाह की एक अखण्ड धारा बह रही है। पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊपर नीचे सब दिशाओं में एक नियम की अखण्ड स्थिति है। देश और काल

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के कोठे में ओर से छोर तक एक नियम व्याप्त है। यही ऋत का तन्तु है। यह धागा प्रत्येक परमाणु में पिरोया हुआ है। जड़-चेतन सब में ऋत का एक तन्तु ओत-प्रोत है। वैज्ञानिक का यही ध्रुव आधार है। एक परमाणु पर जिस प्रकार के प्रयोग का जो परिणाम एक शताब्दी पूर्व निकला था, वही आज अविकल रूप से किसी भी प्रयोग शाला में दोहराया जा सकता है। स्वर्ण के एक कण या विद्युत् की एक तरंग की जो भौतिक विशेषताएँ हमारे विज्ञान मन्दिर में उपलब्ध होती है, वे सब हू बहू वैसे ही सूर्य मण्डल में या उससे भी दूर पर स्थित नक्षत्र-जगत् में विद्यमान हैं। ऋत की अखंडता देश और काल से ऊपर की वस्तु है, दूरी और समय का कैसा भी व्यवधान ऋत के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकता। इसी आश्वासन से प्रेरित होकर वैज्ञानिक अहर्निश अपने प्रयोग और अन्वेषण में निरत रहते हैं। प्रकाश और ताप, विद्युत् और चुम्बक, सृष्टि के इन देवों की सर्वत्र एकरस गति पाई जाती है। सहस्रातिसहस्र परीक्षण करने पर भी इनके नर्तन की अस्खलित गति में किसी प्रकार का विपर्यय नहीं पाया गया। उषा हमारे आकाश में नित्य प्रति संचरण करने आती है। ऋषि ने उसे 'पुराणी युवति' कहा है। सृष्टि के पहले दिन से जब उसके रूप को देखकर सूर्य भगवान हँसे होंगे क्या आज तक उसके रमणीय ललाम भाव में किसी ने कुछ भी अंतर देखा है?

इसका कारण विश्व का अखंड नियम है जो सर्वत्र फैला हुआ है। वैज्ञानिक इसे सुप्रीम लॉ कहकर श्रद्धा से प्रणाम करते हैं। पूर्व ऋषियों ने इसे ऋत कहा है। पृथिवी जिस संचार पथ या क्रान्तिवृत्त पर घूमती है, वह पथ विश्व के ऋत ने उसके लिये स्थिर किया है। सौर मंडल में एवं सर्वत्र नक्षत्र समूह के आकर्षण-प्रत्याकर्षणों का जो अंतिम निर्णय हुआ उसीने पृथिवी के लिये ऋत मार्ग की व्यवस्था की। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह सभी ऋत पथ के अनुयायी हैं। वेदों में देवों को 'ऋतावृधः' अर्थात् ऋत से बढ़ने वाला कहा गया है। ऋत को जानना ही सच्ची प्रज्ञा है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऋतज्ञ और ऋतधी विशेषण ज्ञानी के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अग्नि ऋत से घिरा हुआ (ऋतप्रवीत) है। ज्ञानाग्नि और ऋत का शाश्वत मेल है। ज्ञान चक्षु जहाँ देखता है उसे विश्व-नियन्ता के ऋत का दर्शन होता है। ऋषि ने कहा है—

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वः
परि लोकान् परि दिशः परि स्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदभवत् तदपश्यत् तदासीत्॥

द्युलोक और पृथिवी, लोकान्तर और दिशाएँ सर्वत्र मैंने ऋत के तन्तु को फैला हुआ देखा। वह ऋत ही यह सब कुछ हुआ है। उस ऋत के सूत्र को देखने के लिए मैंने समस्त भुवनों की यात्रा की—

परि विश्वा भुवनान्यायम्
ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
(अथर्व)

अर्थात् मैं निखिल ब्रह्माण्ड के सब लोकों में ऋत के फैले हुए तन्तु को देखने के लिये घूम आया।

यही अनुभव कागभुशुण्डि ने अवध से ब्रह्मलोक तक और शिवलोक से इन्द्रलोक पर्यन्त घूम कर प्राप्त किया था। सर्वत्र एक ही वैष्णवी माया का दर्शन हुआ। वे जहाँ गए वहीं राम का हाथ उनके पीछे लगा रहा—

ब्रह्म लोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सन राम भुजहिं मोहिं तात॥
सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि व्याकुल भयउँ बहोरि॥

अर्थात् ब्रह्मलोक तक भागते हुए जब जब मैंने पीछे मुड़कर देखा, अपने से दो ही अंगुल की दूरी पर राम का हाथ मुझे दीख पड़ा। विश्व के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सात परदों को भेदकर जहाँ तक जा सका मैं गया, परन्तु राम की भुजा ने मेरा पीछा न छोड़ा। राम की भुजा राम के नियम की प्रतीकमात्र है। देश और काल के साथ अन्य सब कुछ परिवर्तन को प्राप्त हो जाता है। परन्तु 'प्रजापति का नियम' सदा सर्वत्र एक सा बना रहता है। राम का नियम स्वयं राम है। विधाता और उसका सृष्टि-नियम एक दूसरे से पृथक् नहीं किए जा सकते। कागभुशुण्डि ने सप्त आवरणों को पार करते हुए लोक-लोकान्तरों में और सब कुछ बदलते हुए देखा पर अकेले राम वैसे-के-वैसे बने रहे—

भिन्न-भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
(उत्तर कांड दो० ८१)

राम के उदर में जो ये अनन्त ब्रह्माण्ड निकाय हैं उनमें सृष्टि की विचित्रता वर्णन से परे हैं। लोक लोकान्तरों में पृथिवी, नदी, समुद्र, पर्वत, वनस्पति, पशु और प्राणियों के प्रपंच को देखकर मानवी बुद्धि चकराने लगती है। वैज्ञानिक लोग सूम के धन की तरह एक-एक कौड़ी जोड़ते हुए इस विचित्र विश्व के विविध ज्ञान का संग्रह करते हैं। प्रशान्त महासागर की तलहटी में पड़े हुए घोंघों की पाचन-प्रणाली और स्वाँस नली की टटोल करते हुए उनके युग बीत जाते हैं। परन्तु इस बहुधा विस्तार का कहीं अन्त नहीं मिलता। इन सबके भीतर जो अन्तर्यामी सूत्रात्मा है वही इस प्रपंच के उन्मत्त विस्तार को अर्थवान् बनाता है। उस अन्तर्यामी सूत्र का वाचक ऋत है। सीता के चरणों में चोंच मारकर भागे हुए जयन्त की कथा का रहस्य भी यही है। ऋतावरी देवी के चरणों का जो अपराधी है उसे ब्रह्माण्ड में कहीं भी शरण नहीं मिल सकती।

ऋत और वरुण

ऋत का अधिष्ठाता वरुण है। ऋत के विपरीत जो आचरण करता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है उसे वरुण के पाश बाँध लेते हैं। ऋत का उल्टा अनृत है। अनृत ही पाप है। ऋत का मार्ग ऋजु मार्ग है, कुटिल या टेढ़ा (अनृत) मार्ग मृत्यु का पद है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।

मनुष्य ज्यों-ज्यों ऋत मार्ग की अवहेलना करता है और पाप में फँसता जाता है वरुण के पाश उसके चारों ओर घेरा डालने लगते हैं। बन्धन में वरुण भाव है। मोक्ष वरुण-पाशों से छूटने का नाम है। वरुण का प्रतिस्पर्धी मित्र है। मित्र और वरुण ही दिव्य और आसुर भाव हैं। बहता हुआ पानी मित्र का भाग है। ठहरा हुआ जल वारुण हो जाता है। ठहरने अर्थात् परिमित हो जाने से ही जलों में दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। यही स्वभाव मन का है। ऋतगामी मन दिव्य होता है। अनृत से सनकर वही क्षुद्र हो जाता है। जीवन का सर्वोत्तम व्रत यही है कि हम अनागस या पापों से मुक्त रहें—

हे वरुण हमारे उत्तम, मध्यम और अधम पाशों को दूर करो। हे आदित्य, हम निष्पाप रहकर तुम्हारे व्रत में दीक्षित होकर अमृत गति को प्राप्त करें।

(अथर्व ७।८३।३)

संसार में कई तरह के बन्धन हैं। कुछ रेशमी डोरे हैं, कुछ लोहे की शृङ्खलाएँ हैं। हैं दोनों पाश। दोनों से ही बचना आवश्यक है। जितने सूक्ष्म बन्धन हैं उनसे मुक्ति भी उतनी ही कठिन है। मनुष्य की सफलता इसी में है कि वह शान्ति के साथ यह अनुभव कर सके कि हम इस लोक के और परलोक के जो ऋण हैं, उन सबसे उऋण होकर अपना जीवन बिता सकें—

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्
तृतीये लोके अनृणाः स्याम।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः
सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ॥
(अथर्व ६-११७।३)

जो देवों के और पितरों के मार्ग हैं, उस सब मार्गों में हम ऋण रहित होकर विचरें। प्रकृति की शक्तियाँ कभी ऋत का उल्लंघन नहीं करतीं। सूर्य, चन्द्र, रात और दिन, ऋतु और संवत्सर अपने दैवी मार्ग पर अमृत भाव से संचरण करते हैं। मनुष्य ही उस मार्ग से द्रोह करता है। ऋत मार्ग का विरोध यदि मानव के स्वभाव से दूर हो जाय तो मनुष्य भी देव बन सकता है। यद्यपि ऋत अर्थात् विश्व के दुर्धष नियम का संबन्ध चेतन और अचेतन सब से है, तथापि मनुष्य-जीवन के लिये ही ऋत के साथ विद्रोह करने के करण पाप की समस्या उत्पन्न होती है। यहीं विज्ञान और दर्शन के दृष्टि पथों में अंतर प्रारंभ होता है। जीवन को ऋतात्मक बनाने का प्रयत्न ही ऋत का दार्शनिक अनुभव है।

वैदिक तत्त्वज्ञान की यह बड़ी विजय है कि उसके प्रज्ञावान् मनीषियों ने ऋत या विश्वव्यापी अखंड नियम की दुर्धर्ष सत्ता का मानवी ज्ञान के उषः काल में ही साक्षात् अनुभव प्राप्त कर लिया था। विश्व के वन्दनीय नियमों के लिये न कोई शत्रु है न कोई मित्र। यहाँ किसी प्रकार का निजी प्रातिस्विक संबन्ध नहीं है। इस उदार राज्य में मानव का प्रतिकूल और अनुकूल आचार ही उसे ऋत पथ का विद्वेष्टा या अनुगामी बनाता है। चित्त की संकुचित वृत्तियों और क्षुद्रभावनाओं के लिये ऋत के जगत में स्थान कहाँ है? ऋत का संसार वरुण के घेरों से स्वतंत्र है। उसमें सर्वत्र विराट् की प्रेरणा रहती है। मनुष्य जब तक ऋत के तन्तु या महान् सूत्र से दूर रह कर उसकी प्रेरणा से वंचित है, तब तक भय और मृत्यु उस पर आक्रमण करके उसे क्षुद्र बनाए रहते हैं। जिस समय वह अपने ही केन्द्र को पहचान कर विराट् बनता है, उसकी सीमाएँ या बन्धन स्वयं शिथिल होकर छूट पड़ते हैं। प्राचीन भारत की शुनःशेपकथा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मनुष्य और ऋत के संबन्ध को व्यक्त करती है। प्रत्येक मनुष्य देश और काल के सम्मिलन-बिन्दु पर जीवन के मेरुदण्ड में जकड़ा हुआ है। उसकी वर्तमान स्थिति समस्त पूर्व जन्मों के अर्जित संस्कारों का फल है। उन संस्कारों ने हमको जिस परिस्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है उसी वातावरण में हम अपने को पाते हैं। यह जीवन का मेरुदण्ड ही यज्ञ का यूप स्तम्भ है। इस यूप में सब प्राणी आबद्ध हैं। शरीर रचना में भी सर्व प्रथम इसी यूप या मेरुदण्ड को आधार बनाकर हमारे भौतिक परमाणुओं का संगठन प्रारम्भ होता है। बिना यूप के सृष्टि असंभव है। इस जीवन यूप में आबद्ध प्राण को अवश्य ही एक दिन मृत्यु के मुख में जाना है। समय रहते हुए जो इस मृत्यु-बन्धन से छूटने का उपाय करता है वही मुक्त है। मृत्यु और जीवन की समस्या को स्वयं हर एक को अपने लिये हल करना आवश्यक है। अन्य किसी प्रतिनिधि के द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता। ऋत के अधिष्ठाता वरुण का तकाजा हर एक प्राणी पर है। वह हर एक के द्वार पर आकर उसे सचेत करता है कि उच्च जीवन का जो आवश्यक कर्त्तव्य है उसे पूर्ण करो। मनुष्य बार बार इस चेतावनी को सुनता हुआ अनसुनी कर देता है और ऋत के उत्तरदायित्व से बचकर भागने का प्रयत्न करता है।

हरिश्चन्द्र के पुत्र नहीं हुआ। क्यों? उसके कर्मों के कारण अथवा यों कहें कि ऋताधिपति वरुण के कारण। वह वरुण के पास गया। मुझे जो पुत्र होगा उससे तुम्हारा यजन करूँगा। वरुण ने कहा—तथास्तु। पुत्र हुआ। वरुण ने कहा—लाओ। हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी दस दिन का नहीं हुआ, नाम भी नहीं पड़ा। दस दिन का हो ले तब यज्ञ के योग्य होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। पुत्र दस दिन का हो गया। वरुण ने कहा—अब यजन करो। हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी दाँत भी नहीं निकले। दाँत निकल आने दो तब यजन करूँगा। वरुण ने कहा—अच्छा। उसके दाँत निकल आए तब वरुण फिर पहुँचा कि अब लाओ। हरिश्चन्द्र ने कहा—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अभी निरा पशु है। जब दूध के दाँत गिर जाएंगे तब यज्ञीय होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। उसके दूध के दाँत भी गिर गए। वरुण ने कहा—अब लाओ ? हरिश्चन्द्र ने कहा—जब नये दाँत जम आएंगे तब मेध्य होगा। वरुण ने कहा—अच्छा। उसके नये दाँत भी जम आए। वरुण ने फिर टोका—नये दाँत निकल आए, अब लाओ। हरिश्चन्द्र ने कहा—यह क्षत्रिय बालक है। क्षत्रिय पुरुष जब कवच पहनता है तब काम में आने योग्य होता है। कवच पहनने दो तब यजन करूँ। वरुण ने कहा, अच्छा। वह कवचहर हो गया। वरुण ने हरिश्चन्द्र को छेका—कवचहर हो गया, अब यजन करो। हरिश्चन्द्र ने कहा—अच्छा कल आना। इस प्रकार कल-कल करते हुए हरिश्चन्द्र ने नियति से बचने के लिये उस पुत्र को जंगल में भगा दिया। अब वरुण के उग्र नियमों ने हरिश्चन्द्र को पकड़ा। उसे जलंधर हो गया। उसने अपने कष्ट से बचने के लिए अजीगंत के पुत्र शुनःशेप को खरीदकर वरुण की भेंट करना चाहा। शुनः शेप यज्ञ स्तम्भ में बाँध दिया गया। अपने परित्राण का कोई उपाय न देखकर और मृत्यु को सामने निश्चित आई हुई जानकर वह वरुण की शरण में जाता है—हे वरुण, हम मनुष्य हैं, इसी से यह संभव है कि हमसे तुम्हारे व्रतों का प्रतिदिन उल्लंघन हो रहा है। हे देव, अनजान में जो हमने ऋत के पालन में त्रुटि की हो उसके कारण हमें वधिक मृत्यु की यंत्रणा न सहनी पड़े। हे सम्राट्! तुम ही हमारे इन त्रिविध पाशों को दूर कर सकते हो। तुमने ही सूर्य के विचरने के लिये विपुल मार्ग कल्पित किया है। तुम ही मानव के लिये ऋजु मार्ग का प्रदर्शन करते हो। साधु-भाव के द्वारा मैं ऋत के पंथ का अनुसरण करता हूँ। जो दुष्कर्मों में लीन हैं ऋत के मार्ग के उस पार कभी नहीं पहुँच पाते—

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।

शुनःशेप प्राण का प्रतिनिधि है। प्रत्येक प्राणी प्राण का प्रकट चिन्ह

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। स्वा प्राण को कहते हैं। उसका जो शेप या चिन्ह है वही शुनःशेप है। यों तो विराट प्राण सर्वत्र व्यापक है, पर वही चींटी से लेकर मनुष्य पर्यन्त शरीरों में स्फुट या प्रकट हो रहा। मनुष्य जीवन के लिये ऋत के ज्ञान का नैतिक फल क्या है, यही बताना शुनःशेप उपाख्यान का प्रयोजन है। दार्शनिक ज्ञान वही सच्चा है जिससे मनुष्य के नैतिक जीवन का, उसके सुकर्म और दुष्कर्मों का, नियंत्रण हो सके। भारतीय दार्शनिकों ने इसी दृष्टि को प्रधान रक्खा है।

बुद्ध भगवान् ने अपनी अखंड समाधि में प्रज्ञा के नेत्रों से जिस विश्वव्यापी महान् 'धम्म' का साक्षात्कार किया वह भी सृष्टि का उपरोक्त नियम है। प्राचीन ऋत का ही नामान्तर 'धर्म' है। धम्म या धर्म का मनुष्य के नैतिक जीवन के साथ सम्बन्ध ही कम्म या कर्म है। धर्म और कर्म इन्हीं दो पहियों से मानव जीवन का रथ गतिशील रहता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२१. सत्य

मनुष्य के चारों ओर सत्य की धारा वेग से बह रही है। एक छोटे अंकुर में वृद्धि और विकास के जो नियम है, वे सत्य के साक्षात् प्रतीक है। परन्तु वस्तुतः सत्य का अन्तिम स्रोत क्या है, इस प्रश्न की मीमांसा जितनी आवश्यक है उतनी जटिल भी है।

सत्य और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। एक प्रकार से सत्य ही जीवन है। जो जीवन सत्यमय नहीं वह निस्तेज मालूम होता है। सत्य एक ज्योति या प्रकाश है। सत्य के बिना जीवन ऐसे ही सूना है जैसे बिना दीपक के आवास। सत्य को उत्पन्न करने के लिये ईश्वर ने भी तप किया, इस कल्पना में अनुभव की सचाई छिपी हुई है। जिन लोगों ने सत्य को जीवन में साक्षात् प्राप्त करने के लिये अपनी हड्डियों को गलाया, उनका यह अनुभव है कि सत्य के लिये मनुष्य को स्वयं सती होना पड़ता है। सत्य कहने-सुनने की बात नहीं है। यह ठीक है कि पूर्वकाल में सत्य का अनुभव कितने ही मनुष्यों ने किया है और यह भी अवश्य है कि इस समय भी अनेक मनुष्यों के जीवन में सत्य का दर्शन है, परन्तु इससे हमको क्या लाभ? दूसरों के तापने से हमारे शीत का निराकरण नहीं हो सकता। हमको जब तक स्वयं अग्नि के ताप की प्राप्ति न हो तब तक हम अपने शीत-क्लेश को नहीं खो सकते। यह एक अटल नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के द्वारा जाने और अनुभव में लाए हुए जीवन-सत्य से लाभ उठाने के लिये स्वयं उसका साक्षात्कार करना चाहिए। सत्य को जीवन में अपनाने का जो आनन्द है वह तो स्वयं प्राप्त करने की वस्तु है। एक व्यक्ति सत्य जैसी अमूल्य निधि की प्राप्ति के लिये जो तप या साधन करता है उससे समस्त मानव जाति या समाज को बल मिलता है। ब्रह्मचर्य या पवित्रता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जीवन की एक सचाई है। जो व्यक्ति इस प्रयोग को जीवन में सफल कर दिखाता है वह असंख्य प्राणियों के मन में उस सत्य के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करता है। एक के अनुभूत सत्य से अनेक लोग लाभान्वित हो सकते हैं, पर उसके सच्चे आनन्द तक पहुँचने के लिये हमको स्वयं उतना मार्ग चलना पड़ेगा।

सत्य के विषय में कहा जाता है कि वह त्रिकाल से अबाधित है। यह बात यद्यपि ठीक है, फिर भी हर युग में मनुष्य समाज सत्य के साथ एक नया संबंध स्थापित करता है। प्रत्येक युग अपने लिये अपनी रीति से ही सत्य को खोजने का प्रयत्न करता आया है। हमारे पूर्वजों ने जीवन और समाज के विषय में जिस प्रकार सत्य का आश्रय लिया था, हमारा दृष्टिकोण उससे परिवर्तित हो गया है। जिस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी में पूर्वजों के ही रक्त की धारा प्रवाहित होती है, परन्तु फिर भी उस पीढ़ी के जीवन का समस्त ओज उसके अपने रक्त के वीर्य पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार जीवन के सत्य की कथा है। ज्ञान की साधना में तत्पर प्रत्येक जाति अपने सहस्रों हाथों को फैलाकर सत्यरूपी पर्वत को उठाने का प्रयत्न करती हुई देखी जाती है। इस प्रयत्न की रूप-रेखा और प्रेरक शक्ति के विविध प्रकार हो सकते है। बाल्मीकि को जिस प्रेरणा से सत्य की प्रतीति हुई यह आवश्यक नहीं कि उसी का पारायण हमारे जीवन में भी हो। परन्तु वाल्मीकि की सत्यात्मक अनुभव की जो रमणीयता है उसमें सभी सहृदयों को मुग्ध करने की क्षमता है।

सत्य की धारा

मनुष्य के चारों ओर सत्य की धारा वेग से बह रही है। एक छोटे अंकुर में वृद्धि और विकास के जो नियम हैं वे सत्य के साक्षात् प्रतीक हैं। सूर्य की अनन्त रश्मियाँ, स्वच्छन्द बहती वायु, चन्द्र का मनोहर प्रकाश और मेघ की वारिधाराएँ, ये सब सत्य का अमृत संदेश हमारे पास लाती

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हैं। इन्हें देखकर हमें विश्वास होता है कि विधाता ने जिस नियम की आधार शिला पर इस विराट् सृष्टि का ढाँचा खड़ा किया है उसकी छाया सदा हमारे पास है। प्रकृति की इन शक्तियों में अन्तर्यामी सूत्र पिरोया हुआ है, वह सृष्टि का सत्य है। इनके कार्य संचालन के जो नियम हैं सत्य उनसे भिन्न कुछ नहीं है। हम कह सकते हैं कि सर्वत्र द्युलोक में और अन्तरिक्ष मण्डल में जो कुछ कार्य हो रहा है उसमें जगन्नियन्ता के सत्य संकल्प का स्पष्ट प्रभाव है। इन प्राकृतिक विधानों में हस्तक्षेप करने की शक्ति अनृतधर्मा मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। जहाँ मनुष्य की गति नहीं वहाँ ईश्वर का हाथ ही है। पृथिवी पर होनेवाले परिमित कार्यों में ही मनुष्य का हस्तक्षेप संभव है। उन्हीं में हमें अनृत के दर्शन होते हैं, अन्यत्र सब जगह देवराज या सत्य का साम्राज्य अप्रतिहत बना हुआ है।

वैदिक परिभाषा के अनुसार देव सत्य से और मनुष्य अनृत भाव से युक्त होते हैं—

सत्यमेव देवाः। अनृतं मनुष्याः। (श० १।१।१४)

समस्त कर्मकांड के आरम्भ में ही वैदिक ऋषियों ने इस नियम की घोषणा कर दी थी। देव सत्य हैं, मनुष्य अनृत हैं। जीवन के यज्ञ में हम अनृत से सत्य की ओर बढ़ते हैं—

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

इस व्रत के द्वारा मैं झूठ को छोड़कर सच को अपनाता हूँ। सत्य भाव की प्राप्ति ही समस्त यज्ञों का फल है।

सत्य का व्रत

सत्य भाव में आरूढ़ होने के लिये व्रत आवश्यक है। देव सदा सत्यमय बने रहते हैं, क्योंकि उनके व्रत नित्य हैं। सूर्य के व्रत में क्या कभी किसी प्रकार का स्खलन देखा या सुना गया है? दिन और रात के चक्र

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

में सृष्टि के आरम्भ से आज तक तिलभर भी अन्तर नहीं पड़ा। जल के प्रवाह और मेघों के आकाश में सम्प्लवन के नियम भी अपनी अपनी धुरी को पकड़े हुए हैं। ऋतुओं के चक्र की गति में भी अटल व्रत का अस्तित्व है। यह सब और इन्हीं के सदृश सैकड़ों सहस्रों ध्रुव विधान हमारे सामने नित्य घटित होते रहते हैं। इनके मूल में ओत-प्रोत एकरसता को वैदिक ऋषियों ने दैवी व्रत कहा है। भौतिक जगत् में वरुण के इन दिव्य व्रतों का उल्लङ्घन करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है। वैज्ञानिकों की प्रयोगशालाएँ दैवी व्रतों की अपरिवर्तनशील नित्यता को आधार मानकर ही जीवित हैं। इसी बात में मनुष्य का देवों से अन्तर है। दैवी विधान पर्वतों की तरह टिकाऊ और मानवीय विधान बुद्बुदों की तरह अस्थिर देखे जाते हैं। यही मनुष्यों में प्रविष्ट अनृत भाव है। जो मनुष्य जितना ही अधिक दैवी व्रत की दृढ़ता अपना लेता है वह उतना ही अधिक देवत्व के समीप पहुँचता जाता है। जो जीवन में सत्य के व्रत को अपनाता है उसी का जीवन दीक्षित है। दीक्षा से सत्य उत्पन्न होता है और सत्य में दीक्षा छिपी रहती है—

यः सत्यं वदति स दीक्षितः।

कौ० ७।३

सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठिता भवति।

श० १४।६।६।२४

व्रत से रहित जीवन उस जहाज की तरह है जिसके नाविक ने अपने गंतव्य स्थान का निश्चय न किया हो। व्रत पर आरूढ़ होने से जीवन में बल प्राप्त होता है। व्रतहीन जीवन को निरुद्दिष्ट दौड़ ही कहना चाहिए। जिसके संकल्पों में मेरुदंड का अभाव है वह उत्तम से उत्तम सुविधा और सामग्री प्राप्त करके भी जीवन में किसी प्रकार का निर्माण नहीं कर सकता। अथर्व वेद में कहा है कि जो सत्यवादी है उसी का प्राण अर्थात् जीवन ऊँचा उठता है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आदधत् ।

शतपथ ब्राह्मण में सत्य की उपमा अग्नि से दी है। जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में घृत की आहुति डालने से अग्नि अधिक प्रदीप्त होती है उसी प्रकार जो उत्तरोत्तर सत्य का पालन करता जाता है वह अधिकाधिक तेज का संचय करता हुआ नित्य प्रति कल्याण की ओर बढ़ता है। इसी प्रकार अनृत की उपमा उस अग्नि से दी गई है जिसके ऊपर जल का सिंचन किया जाय। अनृत से भरे हुए जीवन का तेज नित्य घटने लगता है और मनुष्य प्रतिदिन अधिकाधिक पाप में सनता जाता है। स यः सत्यं वदति यथाग्निं समिद्धन्तं घृतेनाभिषिञ्चेदेवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति श्वः श्वः श्रेयान् भवत्यथ योऽनृतं वदति यथाग्निं समिद्धन्तमुदकेनाभिषिञ्चेदेवं हैनं स जासयति तस्य कनीयः एव तेजो भवति श्वः श्वः पापीयान् भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत् ।

(शत० २।२।२।१९।)

जिस प्रकार सत्य का उचित सेवन मनुष्य के जीवन को तारता है उसी प्रकार सत्य के साथ खिलवाड़ उसको नष्ट भ्रष्ट भी कर सकता है। जो सत्य की शक्ति को पाकर उसके साथ हल्का व्यवहार करता है उसके लिये फिर जीवन में थाह पाना कठिन हो जाता है। सत्य से पैरों के नीचे की पृथ्वी के समान जीवन में जो आधार मिलता है वह यदि हमारे हाथ से निकल जाय, तो फिर कहीं ठिकाना नहीं रहता। अनृत में लिप्त मनुष्य के लिये आशा है कि सत्य के द्वारा उसके जीवन का उद्धार कभी हो जाय, परन्तु सत्य के साथ मोल-भाव करनेवाले के लिये कोई आशा नहीं।

ऋषि ने ठीक ही कहा है कि जो अविद्या में फँसा है वह तो अँधेरे में है, पर जिसने विद्या के साथ अपना व्यवहार कुटिल बना लिया है उसका बन्धन बहुत ही कठोर है। जो अन्धकार में है उसे प्रकाश प्राप्त हो सकता है, पर जिसने प्रकाश रहते हुए आँखें मूँद ली हों उसे कभी नहीं सूझ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सकता। एक व्यक्ति जो अंतरंग और बहिरंग में एकसा है, वह चाहे नास्तिक भी हो तो भी श्रेष्ठ है, परन्तु जिसके भीतरी और बाहरी जीवन में मेल नहीं है, यदि बाहर से ईश्वर में विश्वास भी प्रकट करे तो भी उसके भीतर उस विश्वास की लौ कभी प्रकट न होगी।

लघु उपाय

सत्य का व्रत जटिल मानवीय जीवन की सब समस्याओं को सुलझाने के लिये एक सीधा रास्ता है। भारत में सत्य को नारायण का रूप कहा गया है। सत्य के रूप में ईश्वर के दर्शन की कल्पना कितनी हृदयग्राही है? जो सत्य है वही नारायण है। सत्य रूपी नारायण का व्रत ही जीवन का सच्चा व्रत है। कथा है कि एक बार मर्त्यलोक का भ्रमण करते हुये नारद ने सब प्राणियों को नाना प्रकार के क्लेशों से युक्त और नाना प्रकार के पाप कर्मों से दुःख पाते हुए देखा—

मर्त्यलोके जनाः सर्वे नानाक्लेशसमन्विताः।
नानायोनिसमुत्पन्नाः पच्यन्ते पापकर्मभिः॥

यह सत्य है कि यहाँ सब मनुष्य किसी न किसी दुःख से दुःखी हैं। संसार में दुःख है इसका अनुभव करके बुद्ध का चित्त भी द्रवीभूत हो गया था। करुणा से आर्द्रचित्त होकर नारद ने विष्णु से पूछा कि मनुष्यों के इस दुःख के शमन का कोई लघु उपाय या सीधा मार्ग बताइए। यदि यह कहा जाय कि योग की साधना से अथवा ध्यान और समाधि से अथवा बड़े बड़े यज्ञों से मनुष्य दुःखों से छूट सकता है तो संभव है यह बात सच भी हो, परन्तु इस उपाय से कितने कम मनुष्यों को लाभ हो सकता है? इसलिए नारद का प्रश्न एकदम उसी सीधे उपाय को जानने के लिये है जिसके द्वारा दुःख शोक का शमन होकर मनुष्य सुखी बन सके। विष्णु ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया, उससे स्पष्ट है कि सत्य का व्रत ही वह व्रत है, जो स्वर्ग लोक में और मर्त्य लोक में सर्वत्र फल देने वाला है और जिसके

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पालन से मनुष्य इस लोक में सुख भोग कर परलोक में मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है—

सत्यनारायणस्यैवं व्रतं सम्यग्विधानतः।
कृत्वा सद्यः सुखं भुक्त्वा परत्र मोक्षमाप्नुयात्।

सत्य के व्रत का ठीक विधान सर्वत्र विजयप्रद कहा गया है। सत्य के आश्रय से दरिद्र धन प्राप्त कर सकता है। परतन्त्रता में बँधा हुआ मनुष्य बन्धन से छूट सकता है और भय से ग्रसित मनुष्य अभय प्राप्त कर सकता है। सत्य की आधार शिला इतनी दृढ़ है। चातुर्वर्ण्यात्मक समाज के जीवन में सत्य के पालन और प्रयोग की अनेक कथाएँ और इतिहास पहले बन चुके हैं और आगे भी बनते रहेंगे। परन्तु इन नाना रूपों के पीछे सत्य का सनातन भाव सदा एक सा बना रहता है। मानवी जीवन में जब कभी दुःख या रोग का आक्रमण होता है तभी जानना चाहिए कि हमसे जान में अथवा अनजाने किसी न किसी प्रकार सत्य का अतिक्रमण हुआ है। उस असत्य को पहचान कर पुनः सत्य का आश्रयण ही जीवन में कल्याण के लिये आवश्यक है।

सत्य का स्रोत

दैवी जीवन सत्य के व्रत के साथ बँधा रहता है। मनुष्य के अन्तःकरण में स्थित दैवी मन उसको इस सत्य व्रत के साथ संयुक्त रखने की निरन्तर प्रेरणा करता रहता है। जितना अधिक हम इस अन्तःमन के आदेशों का पालन करते हैं उसी मात्रा में हम सत्य के समीप या उससे संयुक्त रहते हैं। सत्य और असत्य के विवेक के लिये अन्तःमन या अन्तःकरण की यह सनातनी प्रेरणा दार्शनिक मत से मनुष्य के लिये एक अमूल्य शक्ति है। वस्तुतः सत्य का अन्तिम स्रोत क्या है, यह प्रश्न बड़ामहत्वपूर्ण है। हमको सत्य का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है, अथवा किस प्रकार प्राप्त हुए ज्ञान को हम सत्य समझें, इस प्रश्न की यथार्थ मीमांसा जितनी आवश्यक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है उतनी ही जटिल है। तर्क के धनी नैयायिकों ने सत्य के निर्णय के लिये अनेक प्रमाणों का ढाँचा खड़ा किया है। कितने ही हेत्वाभास और निग्रह स्थानों के जगड्वाल से यह तर्क प्रणाली अत्यन्त दुरूह बन गई है। भारतीय नव्य न्याय में किसी वस्तु के शुद्ध लक्षण की परिभाषा स्थिर करने के लिये अवच्छेदक और अवच्छिन्न की एक विचित्र परिपाटी का आविष्कार हुआ। प्रारम्भ में यद्यपि निर्दोष सत्य की प्राप्ति के लिये यह प्रयत्न रहा होगा, पर आगे चलकर इसने स्वतन्त्र प्रतिभा का कचूमड़ निकाल दिया। ज्ञान प्राप्ति के साधनों की निर्मल और शान्तिदायिनी धारा तार्किक पचड़ों के रेगिस्तान में बिल्कुल सूख गई। संस्कृत साहित्य के पिछले तीन सौ वर्षों का इतिहास इसका साक्षी है। प्रज्ञा के द्वारा सत्य की खोज करने का उदाहरण इस काल के साहित्य में नहीं मिलता। भगवान् शंकराचार्य ने, जिनके समान प्रतिभाशाली सत्य के समीक्षक बहुत कम हुए हैं, सत्य तक पहुँचने के लिये प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों की इस असमर्थता को बहुत अच्छी तरह पहचान लिया था। यह बात कुछ विचित्र सी है कि जिस दर्शनशास्त्र में एकान्त सत्य की प्राप्ति के लिये सब कुछ आयोजन हो, वहीं उन प्रमाणों का अनादर किया जाय जिनको मानवी बुद्धि ने बहुत छान-बीन के बाद सत्य की पहचान के लिये स्थिर किया है? वस्तुतः ज्ञेय वस्तु के स्वरूप भेद से प्रमाणों में भी आस्था अनास्था हो जाती है। लौकिक व्यवहारों में लौकिक प्रमाणों का ऊँचा स्थान शंकर को भी मान्य था। न्यायालय में जिस सत्य का निर्णय होता है उसके लिये तर्क और प्रमाण अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं। परन्तु लौकिक व्यवहारों का क्षेत्र परिमित है। जीवन के सत्य की जिज्ञासा जहाँ आरम्भ होती है वहाँ सांसारिक पदार्थों का व्यवहार पीछे छूट जाता है।

सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मता—
विज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः। (शंकर ब्रह्मसूत्र २।१।१४।)

अर्थात् समस्त लौकिक व्यवहार तभी तक सच्चे हैं जब ब्रह्म और

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आत्मा की एकता का विज्ञान नहीं होता। यहाँ स्पष्ट ही ज्ञेय सत्य दो धरा-तलों से देखा जाता है—लौकिक और पारमार्थिक। इन्हीं को जड़ जगत् और चेतन आत्मा का पृथक् क्षेत्र कहेंगे। दोनों का विस्तार हमारे सामने है। कोई भी इनकी चुनौती से सदा के लिये नहीं भाग सकता। दोनों क्षेत्रों का सत्य अलग अलग है। व्यवहार का सत्य परमार्थ में सत्य नहीं। क्या हम नहीं देखते कि जब तक हम साधारण व्यवहारों में संलग्न हैं हमारा दृष्टिकोण दूसरी तरह का होता है। स्त्री-पुत्र-पौत्र, परिवार, धन, मान, यश आदि को हम कितना टिकाऊ समझते हैं, और सदा अपने जीवन के मूल्य को उन बट्टों से आँकते रहते हैं? इस क्षेत्र में दौड़ धूप करने वाले व्यक्ति को इसी में रस आता है। जीवन के सत्य का यह एक पक्ष है और इसे अनृत या माया कहकर हम इससे छुटकारा नहीं पा सकते। इस पक्ष का यथार्थ निराकरण तो तभी होता है जब हमारे जीवन में ज्ञान-जीता-जागता सत्य बन जाता है। जिस प्रकार साधारण आदमी के लिये संसार रसमय है, उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक ज्ञानी के लिये आत्मतत्त्व रसप्रद होता है। व्यवहार का रस परमार्थ में नीरस हो जाता है। परमार्थ में जीवन के मूल्य को आँकने के माप दण्ड बदल जाते हैं। वहाँ जो मन और कर्म का सत्य है, वह इस जीवन के सत्य से भिन्न है। उस सत्य का निर्णय मनुष्य की प्रज्ञा से होता है। प्रज्ञा बुद्धि से भी उत्कृष्ट है। बुद्धि तर्क और प्रमाण के द्वारा सत्य का निर्णय करती है। प्रज्ञा सत्य का मानसिक साक्षात्कार करती है। बुद्धि का साम्राज्य पृथ्वी पर है। प्रज्ञा पंख लगाकर आकाश में विहार करती है। मानवी जगत् में आज तक जो कुछ भी विशिष्ट मूल्य का विचार कोप संगृहीत हुआ है, सब प्रज्ञा की देन है। सत्य के लिये प्रज्ञा कामधेनु है। मन, वचन और कर्म का जितना घनिष्ट समीकरण प्रज्ञा से होता है, केवल बुद्धि के तर्क-वितर्क से नहीं। मानव-जगत् की सबसे बड़ी समस्या प्रज्ञावान् मनुष्यों की प्राप्ति है। उनका सत्य संसार को कल्याणप्रद नीतिमत्ता की ओर ले जा सकता है। इस समय प्राकृतिक नियमों के सत्य को पहचानने में वैज्ञा-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

निक मस्तिष्क को जो सफलता मिली है वह अभूतपूर्व है, उससे मानव जाति को बल मिल गया है। परन्तु जब तक मनुष्य को प्रज्ञा की प्राप्ति न होगी तब तक बल पर शासन करनेवाले उच्च मानव वंश का विकास न हो सकेगा। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू विचार और कर्म की एकता को सत्य का सर्वोत्तम स्वरूप मानता था। यही प्रज्ञात्मक सत्य का लक्षण है। इस युग में मनुष्य विचार तो करता है, परन्तु तदनुसार कर्म करने का उत्तरदायित्व नहीं अनुभव करता। इसी से विचार और कर्म के बीच में चौड़ा पाट बन गया है। जीवन की नदी विचार और कर्म के दो किनारों के बीच में बही है। दोनों का सुन्दर समन्वय ही जीवन का सर्वोत्तम सत्य है। विश्व की रचना में इस समन्वय का सबसे उत्तम उदाहरण देखने में आता है। इसी लिए ऋषि ने कहा है—

एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्।

(छान्दोग्य ८।१।५)

अर्थात् 'यह ब्रह्म की पुरी सत्य है।'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२२. ज्योति

प्रसिद्ध है कि जिस समय जर्मन देश का महा प्रज्ञावान् दार्शनिक गेटे इस लोक से अमृत-जगत् की यात्रा करने के लिये तैयार था उसका अन्तिम उद्गार यह था—'Light, more light' अर्थात् ज्योति, भूयसी ज्योति। गेटे ने जन्म पर्यन्त ज्ञान की आराधना की। उसने जीते जी अद्भुत चक्षुष्मत्ता प्राप्त कर ली थी। मनुष्य जीवन के उच्चतम ध्येय की अनुभूति के लिये, जिस प्रकार मानवी शक्तियों के विकसित करने की आवश्यकता है उसके लिये गेटे ने संतत प्रयत्न किया। उस समस्त अनुभव का निचोड़ वह महापुरुष इसी एक शब्द में हमारे लिये छोड़ गया है—ज्योति। मनुष्य ज्योति का पुत्र है। वह इस बात का इच्छुक रहता है कि उसको ऐसी आँख प्राप्त हो जिसकी दर्शन शक्ति अप्रतिहत कही जा सके। यही सत्य का चक्षु है। चर्म-चक्षु तो अक्षिगोलक मात्र है। ज्ञान का नेत्र ही सच्चा चक्षु है। इस चक्षु की शक्ति कहाँ तक बढ़ाई जा सकती है, इसकी कोई इयत्ता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के समक्ष यह एक क्रियात्मक प्रश्न है कि वह अपनी चक्षुष्मत्ता को कितन वीर्यवती बना सकता है। दर्शन के जगत् में सफलता की यही परख है। धन, यश, वैभव सबकी नाप परिमित है। मनुष्य की आँख में जितनी शक्ति होती है वही उसके बड़प्पन की सच्ची नाप है। लौकिक वैभव से सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु कुण्ठित हो सकती है, परन्तु ज्ञान का चक्षु कहीं कुण्ठित नहीं होता। यही अकुंठित दर्शन हम सबको ईप्सित है। हममें से प्रत्येक के भीतर ज्ञान की आँख किसी-न-किसी मात्रा में विद्यमान है। परन्तु उस ज्योति पर निरन्तर तम का आक्रमण होता रहता है। आसुरी तमोभाव जान में और अनजान में हमारे ज्ञान के शुभ्र पट पर अपनी छाया डालता रहता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यही वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वर्भानु राहु का सूर्य पर आक्रमण है। इसी की छाया के कारण किसी देव युग में 'सूर्य' पर कल्मष का प्रभाव देवों को असह्य प्रतीत हुआ था। इस वैदिक उपाख्यान में वैकुण्ठाधिपति (कुंठन रहित) जो इन्द्र है उसको ही अकुंठित नेत्र प्राप्त हुआ था। इसीलिए इन्द्र ने कहा है कि चाहे जिस वस्तु की ओर मैं आँख उठाकर देखूँ, चाहे जिससे मैं आँख मिलाऊँ, मेरे नेत्रों में तिलभर भी विकार उत्पन्न नहीं होता। मैं जगत् के समस्त पदार्थों की ओर अप्रतिहत नेत्र से देख सकता हूँ। यह तो एक कथा है। पर यहाँ ऐसे व्यक्ति कितने हैं जिनके विषय में यह यथार्थ रूप से कहा जा सके कि इनका नेत्र किसी भी विषय में अवरुद्ध नहीं होता ? सब अवस्थाओं में जिनको प्रकाश की उपलब्धि हो सकती है उनका ही दर्शन वस्तुतः अकुंठित है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से जो अन्तर है वह भी यही है। आर्यावर्त के इतिहास में कितने वसिष्ठों के लिए कवि यह कह सकता है—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥
रघु० ८।७८।

अर्थात् पुराण-पुरुष का जो भूत, भविष्य, वर्तमान में यह अनन्त पट विस्तार फैला हुआ है, इस प्रत्येक रहस्य को देखने के लिये किसके पास अप्रतिहत ज्ञान नेत्र का साधन है ? इस चक्षु की प्राप्ति ही दर्शन की साधना है। जिसके पास चक्षु नहीं, वही अंधा है। वस्तुतः देखा जाय तो इस संसार में तीन तरह के मनुष्य मिलते हैं :—

दिवान्धाः प्राणिनः केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे।
केचिद्दिवा तथा रात्रौ प्राणिनस्तुल्यदृष्टयः॥

कोई दिन में अन्धे हैं, और कोई रात में अन्धे हैं, और किन्हीं को दिन-रात में एक सा दिखाई पड़ता है।' दिन क्या है, और रात क्या है ?

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जीवन में ज्योति का मार्ग दिन है और तम का मार्ग रात्रि है। आत्म तत्व के विषय में जिनको दिखाई नहीं पड़ता वे दिन में अन्धे हैं। सांसारिक जीवन के विषय में जो उदासीन हैं वे रात में अन्धे हैं। सच्चे मनुष्य वे हैं जिनको रात और दिन में, लोक और परलोक के सम्बन्ध में, विद्या और अविद्या के क्षेत्रों में एक सा दिखाई पड़ता है। वे तुल्यदृष्टि पुरुष ही धन्य हैं। उनके जीवन में ही सच्चा समन्वय पाया जाता है। चौथे प्रकार के ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्हें हम मूर्छित कह सकते हैं, जिन्होंने मस्तिष्क से काम लेने की कला का अभ्यास ही नहीं दिया। वे न इस लोक के साधन में निपुण हैं, न परलोक के साधन में संलग्न हैं। ऐसे दिन रात में कभी भी न देख सकनेवाले व्यक्तियों का जीवन की हाट में कुछ मूल्य नहीं है।

देव युग के आरम्भ में जिस दिन आकाश में पहली बार उषा का प्रकाश छिटका था (व्यौच्छत्), उस दिन देवों ने सर्वप्रथम जिस आश्चर्य के दर्शन किए वह यही चक्षु था—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।

देवों के सामने यह तेजस्वी ज्ञान नेत्र प्रकट हुआ। जिन्होंने इसको पहचान लिया वे ही देव हुए, जो इससे विमुख रहे वे ही तमसाभिभूत रह गए। क्या आज भी प्रतिदिन हमारे आकाश में ज्योति का यह चक्षु प्रकट होकर उस दिव्य कथा का पारायण नहीं करता? पर कब हमारे भीतर इसकी प्रकाश किरणें दूर तक प्रविष्ट हो पाती हैं? हमारे जीवन क्रम में अहोरात्र के चक्र-परिवर्तन के साथ जीवन के आपेक्षिक मूल्य समझने और उन पर आचरण करने में तनिक भी परिवर्तन नहीं देखा जाता। ऋषियों ने कहा है कि जब हम ज्योति के साथ मिलते हैं, तभी हम देवों की पंक्ति में बैठ जाते हैं—

सं ज्योतिषा अभूमेति सं देवैरभूमेत्येवैतदाह।
(श० १।६।३।१४)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जान पड़ता है कि इस युग में मनुष्य को अपने देवत्व से ही विराग हो गया है। आध्यात्मिक जीवन छोड़कर मनुष्य अन्य सब कार्यों के बोझ को अपने कंधों पर टिका हुआ समझता है। एक दार्शनिक ने कहा था कि यदि मैं अपने घर का छप्पर उठाने के लिये मनुष्यों को बुलाऊँ तो वे तुरन्त आ जाते हैं, पर यदि मैं उन्हें उच्च काव्यमय जीवन व्यतीत करने के लिये आमंत्रित करूँ तो इसके लिये कोई उद्यत नहीं होता। वस्तुतः मनुष्य ने विश्व के धंधे को जितनी कुशलता से सँभालने का अभ्यास कर लिया है, अपने विषय में वह उतना ही असावधान बन गया है। यह स्थिति क्यों है ? प्रत्येक सार-हीन वस्तु की उन्नति के लिये भी जो मनुष्य इतना व्याकुल है, अपनी प्रज्ञा के सम्बन्ध में वह इतना उपेक्षा भाव क्यों रखने लगा है ? प्रशान्त महासागर की तलहटी में पड़े हुए घोंघों का भी जो कुशल संवाद पूछता है, वही मानव-मस्तिष्क क्या अपने विषय में भी उतना ही सचेत कहा जा सकता है ? मनुष्य को देव बनने का जो अधिकार था, हमने स्वयं ही उसे पैरों तले रौंद डाला। हमने मनुष्य की महिमा को नापने के लिये, उसकी गुरुता को तोलने के लिये जो बाट कल्पित किए हैं, उनमें प्रज्ञा या ज्ञान-चक्षु को छोड़कर अन्य सब चीजों का महत्त्व हम मानते हैं। इस विश्वव्यापी संकर ने हम सब के विचारों को किसी न किसी अंग में अ-पवित्र कर दिया है।

हम चारों ओर प्राकृतिक जगत् में ज्योति और तम का द्वन्द्व देखते हैं। रात और दिन में, कृष्ण और शुक्ल पक्ष में, दक्षिणायन और उत्तरायण में, तम और ज्योति का बटवारा हमारे सामने है। यही क्रम अधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् में व्याप्त है। देव और असुरों के युद्ध की जो कथाएँ हैं, उनका सत्य जीवन का नित्य सत्य है। हे इन्द्र, न तुमने कभी युद्ध किया, न आज तुम्हारा कोई वैरी है। वृत्र आदि असुरों के साथ तुम्हारे युद्ध की जो कथाएँ हैं, वे सब माया हैं। इतिहास में कभी दैवासुर नहीं हुआ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रजापति ने जिनको पाप से बींध दिया वे ही असुर थे।'

(शतपथ ११।१।६।१०)

पाप और तम ही असुरों का रूप है। सत्य की अनुभूति से पहले का व्यक्ति तम का पुञ्ज है। मनुष्य के भीतर जो ज्ञान है, वही तो प्रकाश का रूप है। मनुष्य से मनुष्य का जो भेद है, वह ज्ञानकृत ही है। हमारे शरीरों की रचना एक सी ही है। यह हमारा मर्त्य या मानुषी भाग है। मन हमारा उच्च या अमृत भाग है। मन को दैवी ज्योति कहा जाता है। मन के द्वारा ही मनुष्य अपने आपको उच्च-से-उच्च देवासन पर प्रतिष्ठित कर सकता है। मन की साधना ज्ञान की साधना है। शरीर के क्षेत्र में हम देश-काल से बँधे हैं, एक दूसरे से पृथक् हैं। मन के क्षेत्र में हम अपने आपको पूर्वजों के भी पूर्व ऋषियों के गोत्र में सम्मिलित कर सकते हैं। यह ज्ञान का कुटुम्ब सब देश और सब कालों में प्राप्त हो सकता है।

कारलाइल ने ज्ञान के प्रांगण में प्रवेश पाने के इच्छुक मनुष्य के लिये कहा है कि उसे रहस्यमय अग्नि से अपनी आत्मा का प्रोक्षण करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार अग्निदग्ध नहीं हुआ वह राख का ढेर है, उसमें जीवन की लौ का अभाव है। नचिकेता की कथा का भाव भी यही है। किसी एक क्षण में उसके मन में श्रद्धा ने प्रवेश किया (**तस्मिन् श्रद्धा आविवेश**)। जीवन के रहस्य को समझ लेने की जो अटूट अभिलाषा है, वही यह सात्विकी श्रद्धा है। इस श्रद्धा की एक चिनगारी को पाकर हमारा सारा मनश्चक्र प्रतप्त हो उठता है। कब किस प्रकार इस ज्योति का सम्बन्ध मनुष्य को प्राप्त हो सकता है, यह कहना कठिन है। सत्य, तप, ब्रह्मचर्य आदि साधन इसी की प्राप्ति के लिये हैं। उपनिषदों ने कहा है कि ज्ञान की प्राप्ति कुछ स्वयंवर के ढंग से होती है। आत्मा जिसका वरण करती है, उसीके सामने अपना कृत्स्न रूप प्रकट कर देती है। कवि की प्रतिभा भी स्वयं ही उसको चुनती है। यही नियम ज्ञानी के लिए भी सत्य है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२३. पूर्ण कुम्भ

पुरुष सृष्टि की सबसे चमत्कारपूर्ण रचना है। सृष्टि का रहस्य एक ओर और मनुष्य-शरीर का रहस्य दूसरी ओर ये दोनों एक समान अज्ञात और दुस्तर हैं। विश्व और शरीर इन दो किनारों के बीच में मानवी ज्ञान-सरिता का प्रवाह बहता आया है। ये दोनों एक दूसरे से अत्यन्त दूर और साथ ही अत्यन्त संनिकट भी हैं। जिस प्रकार बीच में बहनेवाले जल के द्वारा नदी के दोनों तीर परस्पर अहर्निश चंचल विद्युत् धारा से मिले रहते हैं उसी प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड को नित्य जागरणशील प्राणाधारा परस्पर संयुक्त रखती है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का यह सम्बन्ध केवल देशकृत एक-सूत्रता में नहीं हैं, वरन् पिण्ड रूपी मनुष्य शरीर एक बहुत सच्चे अर्थों में विश्व का प्रतिबिम्ब भी है। धर्म ग्रन्थों के अनुसार मनुष्य को ईश्वर ने अपनी प्रतिमा के रूप में रचा है। यज्ञीय परिभाषा में पुरुष यज्ञ की प्रतिमा है। ब्रह्माण्ड व्यापी सृष्टि-प्रक्रिया को यदि यज्ञ कहा जाय तो मनुष्य शरीर उस महान् यज्ञ को समझने के लिये एक सूक्ष्म मान-चित्र के समान है। दूर अथवा निकट विश्व में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के पारस्परिक मिश्रण और विश्लेषण से घटित होनेवाले जिन कार्यों के साथ हमारा परिचय है, उन सब का साक्षात् अस्तित्व मनुष्य के शरीर में विद्यमान रहता है आर्य दर्शन का यह सिद्धान्त कि जिन पंच महाभूतों से सृष्टि की रचना हुई है उनके ही उपादान से विधाता ने मनुष्य शरीर के संभार को प्रस्तुत किया है अक्षरशः सत्य है और एक सार्वभौम तत्त्व को ग्रहण करने का सरल उपक्रम है।

विश्व के सम्बन्ध से मनुष्य की महिमा को इस प्रकार जानने का फल भारतीय दर्शन में अत्युत्तम हुआ है। अनन्त ब्रह्माण्ड की तुलना में एक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मनुष्य कितना स्वल्प है ? परन्तु इस स्वल्पता अथवा क्षुद्रता का अनुभव मनुष्य के मन को कातर नहीं बना सका, अर्थात् मानव ने विश्व की दुर्धर्ष महत्ता के समक्ष अपने को रखकर भी दीनता को अङ्गीकार नहीं किया। सच पूछिए तो विश्व की तुलना में एक मनुष्य का अस्तित्व ही क्या, जहाँ कोटानुकोटि मनुष्यों के जीवन-मरण का चक्र अनन्त काल की दृष्टि से कीट-पतंगों के जीवन के समान अस्थिर है, जहाँ देश और काल के अनन्त प्राङ्गण में एक मानव रजकण के समान भी दृष्टिगोचर नहीं होता, वहाँ यदि मनुष्य की जीवनगाथा एक क्षुद्र और हेय कहानी के रूप में प्रकट होकर रह जाती तो कुछ आश्चर्य न था। परन्तु यहीं पर भारतीय दर्शन की विजय है। ज्ञान रूपी तुला के जिस एक पलड़े में यहाँ मनुष्यों ने महान् विश्व को तोलने का उपक्रम किया था उसी के दूसरे पलड़े में उन्हीं बट्टों के समकक्ष उन्होंने मनुष्य को ला बिठाया। उन्होंने अपने ज्ञानचक्षु से मनुष्य में विराट् देवत्व के दर्शन किए। उनकी दृष्टि में ब्रह्माण्ड के समस्त देव इस मनुष्य शरीर में उसी प्रकार निवास करते हैं जिस प्रकार गौएँ गोष्ठ में वास करती हैं। इसलिए जो ज्ञानी है उसकी दृष्टि में यह पुरुष ब्रह्म का रूप है—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
(अथर्व० ११।८।३२)

कवि के शब्दों में—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुस के घट माहीं॥

यह मनुष्य-शरीर चौदहों लोकों का प्रतिबिम्ब है। अथवा जिसको कवियों ने साढ़े तीन हाथ का सरोवर (अहुठ हाथ तन सरवर) कहा है उसमें मानो समस्त ब्रह्माण्ड को तृप्त करनेवाला अमृत-जल भरा हुआ है। मनुष्य की महिमा को व्यक्त करने वाली यह वीर्यवती वाक् भारतीय दर्शन में बारम्बार सुनाई पड़ती है। भगवान् वेद-व्यास ने कहा है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्॥
[शान्ति पर्व १८०। १२]

अर्थात् यह रहस्य ज्ञान तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। इस दृष्टि को लेकर हम मनुष्य को प्रत्येक संस्थान के मध्यवर्ती बिन्दु के रूप में देखने लग जाते हैं। समाज और राष्ट्र के क्षेत्र में होने वाले जो अनेकविध आयोजन हैं, जिन कार्यों का सूत्रपात कल्याणमयी अभिलाषाओं के साथ हमारे चारों ओर होता रहता है, उन सबकी कसौटी मनुष्य है। जब कभी मनुष्य अपने इस गौरवपूर्ण आसन से पदच्युत कर दिया जाता है तभी वह मानवी उद्यमों का अधिपति न रहकर उनका दास बन जाता है। सच तो यह है कि जिस प्रश्न के उत्तर का नाता मनुष्य से टूट जाता है वही प्रश्न मनुष्य को अत्यन्त क्षुद्र बन्दी के रूप में हमारे सामने ला खड़ा करता है। दुर्भाग्य से मानो इस समय मनुष्य को स्वयं अपने देवत्व से वैर हो गया है। विश्व की पूर्णता और चमत्कारों की खोज निकालने की जैसी उत्कट अभिलाषा इस समय प्रकट की जा रही है उसका एक अंश भी यदि मनुष्य की अतुल दैवी शक्तियों को प्रकट करने में व्यय किया जाता तो हमारे मानसिक जगत् में इस प्रकार की दरिद्रता देखने में न आती। इस युग की जो मनुष्य सम्बन्धी परिभाषा है वह उस वैदिक कल्पना के सामने कितनी हीन है जिसमें पुरुष को अमृत आनन्द से परिपूर्ण, रस से परितृप्त और समस्त न्यूनताओं से रहित कहा गया है।

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः
रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः [अथर्व १०।८।४४]

आत्मा की इस प्रकार की पूर्ण कल्पना के प्रति आस्था प्रकट करते हुए वर्तमान युग के द्विपाद प्राणी को तो संकोच प्रतीत होता है।

भारतीय विचारकों ने मनुष्य-शरीर की विचित्रता को प्रकट करने के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लिये कई प्रकार की संज्ञाओं का प्रयोग किया है। 'हे अर्जुन यह शरीर एक क्षेत्र है। इस क्षेत्र के व्यवहार को जो भलीभाँति समझता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।' बुद्ध ने कहा—हे भारद्वाज! यह जो आत्मा की खेती है इसका बीज श्रद्धा है, वृष्टि तप है और फल प्रज्ञा है। शरीर का संयम, वाणी का संयम और आहार का संयम ये इस क्षेत्र की मर्यादाएँ हैं। मनुष्य का पुरुषार्थ बैल है और उसका मन जोत है। जो इस प्रकार की खेती करता है वह अमृत की फसल उत्पन्न करता है और दुःखों से छूट जाता है—

एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला।
एतं कसी कसित्वान सब्ब दुःखा पमुच्चति॥

अथवा, यह शरीर एक देव रथ है जिसमें इन्द्रियरूपी घोड़ों को मन की रास से बुद्धिरूपी सारथी नियन्त्रित करता रहता है। यह रथ उस रथी की महिमा को प्रकट करता है जो इसका अधिष्ठाता है। जिन घोड़ों की बागडोरों को दृढ़ संकल्पवान् मन प्रेरित करता है, उस रथ की अद्भुत महिमा को लोक में कौन नहीं जानता? एक सफल रथी समस्त मानव जाति का पथ-प्रदर्शन करता है। हर एक मनुष्य समुदाय यह अभिलाषा करता है कि हमारे मध्य में इस प्रकार के अध्यात्म रथ पर बैठनेवाले महारथी विजयशील हों। अथवा, यह शरीर एक दैवी नाव है जिसमें उत्तम इन्द्रिय रूपी पतवार लगे हुए हैं, जिस पर आरूढ़ होकर हम भव सागर के पार स्वस्तिप्रद लोक को प्राप्त कर सकते हैं—

दैवीं नावं स्वरित्रा-
मस्रवन्तीमारुहेम स्वस्तये॥

घट

इसी प्रकार की एक मधुर कल्पना यह है कि यह शरीर पूर्ण घट के समान है जिसमें आयु रूपी जल अपने उन रहस्यपूर्ण चमत्कारों के साथ भरा हुआ है जिनके द्वारा सृष्टि और प्रजनन के कार्य प्रवृत्त हो रहे हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अपनी भाषा में जब हम भगवान् को घट-घट व्यापी कहते हैं, तब अनजान में ही एक बड़े दार्शनिक तत्त्व को स्वीकार कर लेते हैं। यह शरीर घट है या मिट्टी का बना एक भाँडा है, परन्तु चैतन्य के अधिष्ठान से यह पूर्णातिपूर्ण सुवर्ण कलश से भी अधिक मूल्यवान और महिमाशाली है। जायसी ने कहा है—

माटी कर तन भाँड़ा, माटी मँह नव खंड।
जे केहु खेलै माटि कहँ, माटी प्रेम प्रचंड॥

अर्थात् शरीर रूपी बर्तन मिट्टी का बना हुआ है। इस मिट्टी की रचना में अपूर्व कारीगरी है, जिसमें पृथ्वी के नौओं द्वीपों का चमत्कार भरा हुआ है। जो इस मिट्टी के शरीर को लेकर इसके साथ ठीक खेल खेलता है, उसकी मिट्टी में से प्रचंड प्रेम की आग प्रकट हो जाती है। कवि की दृष्टि में प्रेम ही मानवी चेतना का सर्वोत्तम प्रतीक है। प्रेम अपने उदात्त अर्थों में आत्मा की अमर विभूति है, जो एक शरीर में प्रकट होकर विश्व को अपने उदार अंक में भर लेना चाहती है। सीमित घट को असीम विभूति का दान प्रेम के संकल्प से ही प्रवृत्त होता है। इस उच्च भूमिका में आत्म दर्शन से जनित मानसिक स्थिति को प्रेम की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार की दिव्य भावना का अधिष्ठान यह शरीर है। यही पूर्ण मानव की पूर्णता के आविर्भाव का रंग-मंच है। महाकवि उमर खैय्याम ने मानव देह को एक मिट्टी का कूजा मानकर अपने कूजेनामा में इसकी अमरता का वर्णन किया है—यह भाँडा क्या है और इसको गढ़ने वाला कुम्हार कौन है? क्या यह कभी संभव है कि जिसने इस कूजे को इतने मनोयोग से रचा है, वही इसे नाशवान् कल्पित करेगा?

भारतीय कलाकारों ने पूर्ण कुम्भ या पूर्ण कलश के रूप में मनुष्य विषयक इस मधुर कल्पना को चित्रित किया है। पूर्ण कुंभ के उद्ग्रीव मुख पर प्रकट होनेवाले पुष्प और पल्लव जीवन-समृद्धि के द्योतक हैं। इस कलश की पूर्णता ध्यान देने योग्य है। स्वर्ग और पृथिवी के बीच में ऐसा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कुछ भी नहीं है जो इसमें न हो। पाप और पुण्य, गुण और दोष एक साथ यहाँ रहते हैं। कहा जाता है कि एक ही समुद्र के मन्थन से विष और अमृत का जन्म साथ-साथ हुआ था। दैवी संकल्पों से युक्त मन का निवास इसी शरीर में है। साथ ही दैवी सृष्टि को क्षणभर में छिन्न-भिन्न कर देनेवाले आसुरी भावों की अभिव्यक्ति भी इसी पूर्ण घट से होती है। कौमार काल का मनोहर सौंदर्य इसी पूर्ण घट के जल में प्रकट होता है। इसी में यौवन को लुप्त करने वाली जरा का बीज भी विद्यमान है, जिसके कारण यह शरीर समस्त अवयवों के साथ पके फल की भाँति जीर्ण हो जाता है। अथर्व वेद के ऋषि की दृष्टि में स्वप्न और तन्द्रा ने, पाप और निर्ऋति ने इस मर्त्य शरीर में उसी प्रकार अपना निवास कल्पित किया है जिस प्रकार पुण्यात्मा देवों ने। स्तेय और दुष्कृत यहाँ उसी प्रकार अपना अधिकार जमा बैठे हैं जिस प्रकार सत्य और यश। विद्या और अविद्या, निद्रा और अनिद्रा, श्रद्धा और अश्रद्धा, सब ने शरीर में प्रवेश किया है। आनन्द और प्रमोद, हँसी और खुशी, नृत्य और गीत सभी शरीर में विद्यमान हैं। अनेक प्रकार के मधुर आलाप और विषय प्रलाप इस शरीर में प्रविष्ठ हुए हैं। प्राण और अपान, व्यान और उदान, चक्षु और श्रोत्र, वाक् और मन, सबका समवाय शरीर में है। अनेक प्रकार के आशीर्वाद और विविध अभिलाषाएँ, विविध प्रकार के चित्तज संकल्प इस शरीर के आश्रम में ठहरे हैं—

चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन्।
क्षुधश्च सर्वाः तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन्॥

(अथर्व ११। ८)

इस प्रकार समस्त सृष्टिमूलक प्रवृत्तियों का एकत्र समवाय इस पुरुष में है। क्षुधा और तृष्णा सब भूतों में एक समान है। दुर्गा सतशती के मनीषी लेखक ने मनुष्य मात्र की इस मौलिक एकता को भली प्रकार समझ लिया था। यदि सृष्टि की मूलधारा को, जिसके वशवर्ती हम सब हैं, एक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

देवी कहा जाय तो मनुष्य का विश्लेषण करते हुए हम उससे विविध रूपों का सर्वत्र दर्शन कर सकते हैं—

या देवी सर्व भूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥
या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥
या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तयै नमस्तस्यै नमोनमः॥

इस प्रकार के वर्णन का क्रम दूर तक चला गया है। इनमें से प्रत्येक श्लोक एक एक चल-चित्र के समान मानव की मूलभूत विशेषताओं को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। जो देवी सब भूतों में बुद्धि, स्मृति, दया, तुष्टि, शक्ति, भ्रान्ति, क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, चेतना आदि अनेक रूपों में स्थित है वही इस सृष्टि की प्रेरक शाकरी माया शक्ति है। वह प्रत्येक चेतन प्राणी में अपने विविध रूपों से प्रकट हो रही है।

मनुष्य की समस्त शक्तियाँ देवी के स्वरूप की तरह अनन्त हैं। इस पूर्ण घट के कृत्स्नमाहात्म्य को किसी पुस्तक के आवरण पृष्ठों में सीमित नहीं किया जा सकता। इसलिए समस्त ज्ञान विज्ञान पर अधिकार प्रात कर लेने पर भी मनुष्य ही मनुष्य के लिये सबसे बड़ी पहेली बना हुआ है। मनुष्य के प्रकट और अन्तर्हित मन की शक्तियों की, उसकी प्रज्ञा और कल्पना की कोई इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती। मनुष्य के लिये यथार्थतः कहा जा सकता है कि उसका स्वरूप पूर्ण है, जिसका प्रादुर्भाव भी पूर्ण तत्त्व से हुआ है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्वाचीन विज्ञान की उपासना में हम मनुष्य की इस पूर्णता और श्रेष्ठता को भौतिक जगत् की श्रेष्ठता की कल्पना करते हुए प्रायः भूल गए हैं। मनुष्य का अनुसंधान हमें अन्तर्मुखी बनने की ओर प्रेरित करता है। जड़ जगत् का अनुसंधान करते हुए हम बाह्य प्रकृति में भ्रान्त होते रहते हैं। आजसमस्त मानव-जाति को ही इस विषय में अपना दृष्टिकोण परिष्कृत करने की आवश्यकता पड़ गई है। मानवी श्रेष्ठता और पूर्णता की उपासना किए बिना अन्य किसी प्रकार के विधानों से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। मनुष्य क्या है ? यह प्रश्न प्रत्येक युग हमारे द्वार पर टकराता है। इसके समीचीन समाधान पर ही सभ्यता के विकास का स्वरूप निर्भर रहता है। जिस रूप में इस प्रश्न का उत्तर किसी जाति ने समझा, उसका समस्त इतिहास उसी रंग में रँग गया। यह प्रश्न मौलिक है, अन्य सब विषय गौण हो जाते हैं। सभ्यता के उषःकाल में वैदिक ऋषियों ने 'मनुष्य क्या है' इस पहेली पर विचार करते हुए मनुष्य में अन्तर्निहित चेतन अंश पर ध्यान दिया। उसको मूल्यवान् मानकर उसी की प्राप्ति के लिये उन्होंने प्रयत्न किया। उस सभ्यता का उच्चतम ध्येय यही रहा कि मनुष्य के दैवी स्वरूप का साक्षात्कार किया जाय। उस साहित्य में सैकड़ों प्रकार से यही तत्व प्रकट किया गया है। **'आत्मानमुपास्व'**, आत्मा की उपासना करो; **'आत्मानं विद्धि'**, आत्मा को जानो, इसी मूल मंत्र की प्रेरणा से वैदिक दर्शन ओत-प्रोत है। आत्मा को जानना ही सबसे बड़ा लाभ है; आत्मा को बिना जाने इस लोक से जाना विनाश है। आत्मा के लिये यह लोक प्रिय होता है। आत्मा के लिये ही परलोक भी प्रिय लगता है। आत्मा के लिये ही स्त्री, पुत्र, धन, प्रजा, राज्य सब प्रिय लगते हैं। आत्मा यदि केन्द्र में नहीं है तो सब शून्य है। आत्मा प्रत्येक शरीर में अमृत का केतु या झंडा है। उस अमृत की उपासना सर्वोपरि धर्म है। आत्मा ही समस्त आनन्द का स्रोत है। आत्मनिरत रहने में जो सुख है वह राज्य, परिवार अथवा अन्य किसी भी लौकिक पदार्थ में नहीं है। आत्मा ही सबसे पूर्व में था।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वही विविध रूपों में प्रकट है। वही आत्मा मैं हूँ—'सोऽहमास्मि'। यह मन्त्र मनुष्य के स्वरूप को कितने निश्चित और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर रहा है। 'हे श्वेतकेतु, तुम वही हो—तत्त्वमसि, श्वेतकेतो'। इस घोषणा में कितना विश्वास है? पुरुष का स्वरूप निर्धारित करने में यहाँ तनिक भी सन्देह या संशय जान ही नहीं पड़ता और न किसी प्रकार बुद्धि का आयास ही प्रकट होता है। मानों यह महनीय अनुभव स्वर्गीय ज्योति के समान लोकान्तर से आकार तत्कालीन मानवों के हृदय में प्रविष्ट हो गया था। इतना आत्म-विश्वास, ऐसी आस्था, इतनी प्रबल श्रद्धा जैसी उपनिषदों में है, क्या संसार के अन्य किस साहित्य में मिल सकती है? कौन इस प्रकार पत्थर पर लकीर खींचकर कह सका है—जब मनुष्य आकाश को चमड़े की तरह लपेटकर उसका तकिया बनाने में सफल होंगे, तभी यह सम्भव होगा कि देव को जाने बिना भी दुःख का अन्त हो जाय—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

आज तक आकाश का वेष्टन और दुःख का अन्त दोनों अप्राप्त आदर्श बने हुए हैं। ब्रह्मवादी लोग कहते हैं—ज्योति को ढकनेवाला जो आवरण है, उसको दूर करो। हम इस स्वराज्य के लिये देव को देखना चाहते हैं। देव ही ब्रह्म है जिसके ज्ञान से श्वेताश्वतर अमर हो गया था। नचिकेता ने अपने तपःपूत मन से मनुष्य रूपी पहेली को सुलझाने का जो अद्भुत प्रयत्न किया था वह आज भी हम सब के लिये प्रकाश का मार्ग बना रहा है। उसको जानकर हमारे मन में अपने चैतन्य स्वरूप के विषय में श्रद्धा जाग उठती है। इस शरीर में ही ब्रह्म का अधिवास है। शरीर के अभ्यन्तर से उसको ऐसे प्राप्त करना चाहिए जैसे मूँज में से सींक को निकालते हैं। इसके लिए धैर्य से प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य ने अपने ब्रह्म पद के जानने का जो प्रयत्न

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

किया, उससे वह ब्रह्मप्राप्त, विरज और अमर बन गया। यह कल्पना कि अन्न और जल से ही मनुष्य जीवित रहता है सत्य हो तो भी कितनी क्षुद्र है। एक पाव सत्तू के आश्रित मनुष्य का जीवन है, यह पुरुष की परिभाषा कुछ विचारकों ने प्रस्तुत की है, परन्तु इसका आदर्श जो मानव है उसका मूल्य भी इतना ही संकुचित रह जाता है। इस दृष्टि में मानव एक यंत्र मात्र रह जाता है। यंत्र शक्ति के नियमों से संचालित मनुष्य कितना सीमित और हेय है !

आज हम क्षुधा-पिपासा रूपी देवी की आराधना को ही युगधर्म मानने लगे हैं। हमारी शिक्षा और दीक्षा के आदर्शों को इस दृष्टिकोण ने बहुत दूर तक प्रभावित कर दिया है। बुद्धि और मन का कार्य करने वाले मनुष्यों की तोल भी उदर का पोषण करनेवाले बट्टों से की जाती है; अथवा स्वयं मनुष्य ने ही अपने दैवी अंश को कुछ चाँदी के टुकड़ों के बदले में बेच डाला है। एक फ्रेंच विचारक ने इस स्थिति को युग का सबसे दारुण विश्वासघात (The Great Betrayal) कहा है। हमारी वेधशालाओं ने दूरातिदूर नक्षत्रों को पहचानने का तो प्रयत्न किया, परन्तु समीपवर्ती मनुष्य को देखने का उचित प्रयत्न नहीं किया। यदि विश्व का नियंत्रण किसी प्रज्ञावान् व्यक्ति के हाथों में सौंप दिया जाय तो उसका सर्वप्रथम कर्तव्य यही होगा कि समस्त विज्ञानमंदिरों को इस बात के लिये विवश करे कि वे मनुष्य की महिमा का आविष्कार और अनुभव करें जिसके द्वारा कुंठित मानव स्वक्षेत्र में अपना उचित आसन फिर ग्रहण कर सके।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२४. वैदिक परिभाषाएँ

पश्चिमी विद्वानों ने पिछले सौ वर्षों में जो वेद की व्याख्याएँ की हैं उनसे और जो चाहे हुआ हो वैदिक सृष्टिविद्या की दृष्टि से वे निष्फल ही रही हैं। बार-बार उन विद्वानों को यह लिखना पड़ता है कि ये मंत्र या प्रतीक अस्पष्ट हैं। जैसा श्री ई० जे० टामस ने लिखा है—'हमारी व्याख्याओं का मार्ग अवरुद्ध है और कोई भी दृष्टिकोण सर्वसम्मत नहीं हो पा रहा है। लुडविग, केगी, पिशल, गेल्डनर, ओल्डेनबर्ग आदि जर्मन विद्वानों अथवा बेरगेञ, रेग्नो, हेनरी आदि फ्रेंच विद्वानों के कार्य को देख कर यही कहना पड़ता है कि वैदिक अध्ययन की दशा स्वस्थ नहीं है। हमें पश्चिम में इसका भान हो रहा है कि यह महती समस्या सुलझी नहीं है। भाषा-शास्त्र अथवा देवताओं के प्राकृतिक रूप को मानकर जो व्याख्याएँ की गईं वे मृग-मरीचिका सिद्ध हुई हैं, यद्यपि कुछ अंग्रेजीभाषी लोग अभी उनके पीछे दौड़ रहे हैं।'

अंग्रेजी पद्धति से वेदों तक पहुँचने वाले भारतीय विद्वानों की भी यही कठिनाई है और यह कहा जा सकता है कि अपने विश्वविद्यालयों में जिस आधार पर हम वैदिक मंत्रों को समझने का प्रयत्न करते हैं वह मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ने के समान ही है। इन्द्र को मेघ मानकर उसके स्वरूप की व्याख्या या भौतिक अग्नि के रूप में अग्नितत्त्व की व्याख्या इसी प्रकार के अधूरे प्रयत्न हैं। इधर श्री डॉ० आनन्दकुमार स्वामी ने स्वतंत्र रूप से वैदिक प्रतीकों की व्याख्या की, जिससे यह सूचित हुआ कि वैदिक तत्त्व विद्या अन्य देशों की तत्त्वविद्याओं की कुंजी है। इसे वे सनातन तत्त्व-ज्ञान या 'फिलसोफिया पेरिनिस' (Philosophia perennis) कहते थे। इस समय भारतीय अध्ययन की दशा यह है कि यहाँ के दार्शनिक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विद्वान् उपनिषदों पर तो ध्यान देते हैं किन्तु वैदिक संहिताओं की ओर से उदासीन हैं। इस सम्बन्ध में श्री कुमारस्वामी का कथन ध्यान देने योग्य है—

"मैं नहीं मानता कि उपनिषदों में किसी ऐसे तत्त्व का उपदेश है जिसका परिज्ञान वैदिक ऋषियों को नहीं था। यह भी नहीं माना जा सकता है कि वैदिक मंत्रों के कर्त्ताओं ने ऐसे-वैसे ही कुछ कह डाला हो, जिसका अर्थ उन्होंने ठीक न समझा हो। मंत्रों की अध्यात्म-विज्ञान-परक अविचल संगति सिद्ध करती है कि उनके रचयिता ऋषियों के मन में उनके अर्थों की कल्पना स्पष्ट थी। मेरे विचार में भारतीय विद्वानों को उचित है कि वे विश्वव्यापी सृष्टि विज्ञान का, जो जगत् के साहित्य में विद्यमान है, उपयोग करके वैदिक विज्ञान की व्याख्या और समर्थन करें। वेदों का अर्थ केवल भारतीय अध्यात्म-विद्या की व्याख्या न होकर विश्वव्यापी अध्यात्म-विद्या की व्याख्या है। भारतीय आत्मविद्या की सहायता से पश्चिमी धर्म ग्रंथों के भी अनेक अभिप्रायों पर यथार्थ नया प्रकाश डाला जा सकता है। तत्त्वों में मेरी रुचि उनके सत्य होने के कारण है, न कि उनके केवल भारतीय होने से। 'सनातन धर्म' या सनातनी आत्मविद्या किसी एक काल, देश या जन विशेष की सम्पत्ति नहीं है, वह तो मानव जाति की जन्म सिद्ध सम्पत्ति है।" क्या उपनिषद, क्या वेद और क्या ब्राह्मण, सभी को हम इसी दृष्टि से समझने की प्रतीक्षा कर रहे हैं जिससे सनातनी सृष्टिविद्या और आत्मविद्या के प्रतीकों के रूप में हम उनका सच्चा परिचय प्राप्त कर सकें।

अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है। आधुनिक वैज्ञानिक विश्व-रहस्य की मीमांसा करने में सचाई से लगे हुए हैं। सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है? क्यों इसकी प्रवृत्ति होती है? इसके मूल में कौन-सी शक्ति है? उसका स्पन्दन किस कारण से हुआ और किन नियमों से वह आज प्रवृत्त है? शक्ति की प्राणन क्रिया और स्थूल भौतिक पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध क्या है? गति और स्थिति संज्ञक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

द्विविरुद्ध भावों का जन्म क्यों होता है ? उनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने आ खड़े होते हैं। इनके समाधान का सच्चा प्रयत्न भारतीय ऋषि-प्रज्ञा ने किया था। उसी तत्त्व-दर्शन की संज्ञा वेद है। विश्व की मूलभूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य के विषय में वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओं ने इतना अब निश्चयपूर्वक जान पाया है कि स्थूल भौतिक सृष्टि जिसे हम भूतमात्रा, अर्थमात्रा या वैदिक परिभाषा में वाक् कहते हैं, अन्ततोगत्वा शक्ति स्पन्दन का ही परिणाम है। विश्व के सब पदार्थ मूलभूत शक्ति की रश्मियों के स्पन्दन से घनीभूत या व्यक्त हुए हैं। यह शक्ति ही विश्व की प्राणन क्रिया है। भारतीय ऋषि-प्रज्ञा के अनुसार यही प्राण विद्या है। किन्तु उनकी दृष्टि में प्राणन क्रिया का मूलस्रोत या आविर्भाव ब्रह्म तत्त्व से होता है, जो स्वयं अविकृत रहता हुआ भी अपनी शक्ति से इस विश्व का निर्माण और संचालन करता है। मूलभौतिक पदार्थ और उसके मूल की प्राण शक्ति को ही वैदिक परिभाषा में क्रमशः क्षर और अक्षर कहा जाता है। इन दोनों का मूल हेतु कोई अव्यय पुरुष है, यही वैदिक दृष्टिकोण की विशेषता है। हमें उचित है कि शान्त मन और जिज्ञासा के भाव से भारतीय दृष्टि और पाश्चात्य दृष्टि की तुलना करके सृष्टि विद्या के सम्बन्ध में उनके भेद और साम्य को समझने का प्रयत्न करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पहली आवश्यकता वैदिक परिभाषाओं की बुद्धिपरक व्याख्या है, जिसके द्वारा अर्वाचीन मस्तिष्क उन सूत्रों को अपने ज्ञान के साथ जोड़ सकें।

उदाहरण के लिए कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—अमृत मृत्यु, प्रजापति, चन्द्र सोम मयी श्रद्धा, अन्न-प्राण-मन का सम्बन्धं, स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी नामक पंच क्षर, अनेकविध आत्मा, सप्त ऋषि, तेतीस देवता, मन-प्राण-वाक्-चक्षु-श्रोत्र पंच वैदिक विज्ञाननिरूपित इन्द्रियाँ, विज्ञानात्मा (बुद्धि), प्रज्ञानात्मा (मन), स्थिति-गति द्वारा ब्रह्मा-विष्णु-अग्नि-सोम-इन्द्र इन पाँच अक्षरों का निरूपण, विष्णु-इन्द्र की स्पर्धा, हृदय-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विद्या या केन्द्र विद्या, षोडशी पुरुष, व्याहृति रहस्य, वषट्कार, भृगु-अंगिरा-अत्रि का निरूपण, पंचाग्नि विद्या, कश्यप स्वरूप, सविता-सावित्री-गायत्री और योषा-वृषा-प्राण, हिरण्यगर्भ प्रजापति, अग्नि-सोम, दशाक्षर विराट्, सप्ताश्व सूर्य, छन्दः स्वरूप, वाक्तत्त्व, सत्या-आम्भृणी-सरस्वती-बृहती-अनुष्टुप् भेद वाली वाक्, लोक, गायत्री, ब्रह्म और सुब्रह्म, त्रयी वेद और अथर्ववेद का रहस्य, देवयान पितृयान, सैषा त्रयी विद्या तपति का रहस्य, एक सहस्र गौ विवेचन, पुरोडाश विज्ञान, प्राणलक्षण अध्यात्म यज्ञ, वैश्वानर, वामन, ध्रौव्य-सौम्य-ऐन्द्रविद्युत्, अत्ता-आद्य, कुमेरु-सुमेरु, वेद सूत्र नियति, इडा उर्क् भोग, ज्योति-गौ-आयु, रेतः-श्रद्धा-यश, वाक्-गौ-द्यौ, सोलह बल कोश, माया बल, आभू, अभ्व, पृष्ठ विद्या, स्वाहा विद्या, खं ब्रह्म, कं ब्रह्म, रं ब्रह्म, पंच ज्योतिः, पुष्करपर्ण, सरस्वान्, सरस्वती, मन-प्राण, अथर्वाङ्गिरा, समुद्र, व्योम, शिव वायु, यम वायु, मातरिश्वा, अश्वत्थ, शिपिविष्ट प्रजापति, काम कर्म शुक्र, महा सुपर्ण, हिरण्य अण्ड, स्वर्ग धरुण, मित्र वरुण, इन्द्रिय मन, श्वोवसीयस्मन, वृषाकपि, वैवस्वतमनु, ऋत-सत्य, ऋषि प्राण, बालखिल्य आदि।

संवत्सर महाकाल का एक सापेक्ष रूप है। जितने समय में पृथिवी अपने क्रान्तिवृत्त पर एक बिन्दु से चलकर पुनः उसी बिन्दु पर लौट आती है उसी अवधि की संज्ञा संवत्सर है। सृष्टि की आयु और मानव की आयु संवत्सरात्मक गति पर ही निर्भर है। अग्नि ही सृष्टि का मूलभूत गतितत्त्व है। गत्यात्मक अग्नि का ही पूरक भाग आगत्यात्मक सोम है। गति-आगति, अग्नि-सोम, प्राणरयि, ये सब समानार्थक द्वन्द्व हैं। प्राणाग्नि को पिण्डरूप में परिणत कर देने वाला सोम तत्त्व ही रयि है। अग्नि-सोमात्मक संवत्सर की समस्त प्रक्रियाएँ तद्वत् मानव जीवन में अभिव्यक्त हो रही हैं। समस्त भूत जगत् को इसीलिए अग्नि-सोमात्मक कहा जाता है। वैदिक तत्त्वज्ञान में संवत्सर विद्या का अतिशय महत्त्व है। स्वयं प्रजापति विश्व निर्माण के लिये संवत्सर का रूप धारण करते हैं। तात्पर्य यह है कि प्रजापति की जो

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अनिरुक्त स्वयम्भू शक्ति है वही निरुक्त व्यक्त गत्यात्मक काल के रूप में विश्व रचना के हेतु संवत्सर बनती है। प्रजापति का जो केन्द्रस्थ अव्यय भाव है जिससे वह स्वस्वरूप में अविकृत भाव से प्रतिष्ठित रहते हैं वही ब्रह्मौदन कहलाता है। ब्रह्मौदन से कोई सृष्टि नहीं होती, वह तो जिसका अंश है उसी के स्वरूप की रक्षा करता है। ब्रह्मौदन का जो भाग उससे पृथक् हो जाता है उसे वैदिक भाषा में उच्छिष्ट या प्रवर्ग्य कहते हैं, उसी से सब पिण्डों का निर्माण होता है। उदाहरण के लिये सूर्य का ब्रह्मौदन भाग स्वयं सूर्य के स्वरूप की रक्षा कर रहा है किन्तु रश्मियों द्वारा उसका जो घर्मांश चारों ओर फैलता है वही उसका उच्छिष्ट या प्रवर्ग्य है जिससे भूतों का निर्माण होता है। इसे ही अथर्ववेद में **'उच्छिष्टात् जज्ञिरे सर्वम्'** कहा गया है। ब्रह्मौदन को सत्य और प्रवर्ग्य को ऋत कहा जाता है एवं इन्हीं के नामान्तर अग्नि और सोम हैं। सोम या शीत तत्त्व के धरातल पर अग्नि के कण वसन्त आदि षट्ऋतुओं में क्रमशः बसते या प्रतिष्ठित होते हैं, अथवा बढ़ते और घटते हैं। इसी से षट्ऋतुओं का चक्र या संवत्सर का स्वरूप बनता है एवं यही संवत्सर की गत्यात्मक शक्ति का हेतु है जिससे मेघ, वृष्टि, वायु, आँधी, शीत, उष्ण आदि वेगवती धाराएँ तरंगित होती हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा तीन ऋतुओं में अग्नि का विकास और शरद्, हेमन्त, शिशिर इन तीनों में अग्नि का ह्रास प्रत्यक्ष देखा जाता है। अग्नि का ही प्रतिपक्षी रूप सोम बन जाता है। प्रत्येक शरीर में अग्नि और सोम दोनों भाग अविनाभूत रहते हैं। अग्नि पुरुष और सोम स्त्री है। **'अग्नीषोमात्मकं जगत्'** यह सूत्र ही वैदिक संवत्सर विद्या का मूल है।

वैदिक परिभाषा में हृदय, उक्थ, गर्भ, नाभि, अक्षर—ये सब केन्द्र की संज्ञाएँ हैं। केन्द्र में जो स्थिति या प्रतिष्ठा तत्त्व है, उसके धरातल पर गति तत्त्व का जन्म होता है। वह गति जब केन्द्र से परिधि को जाती है तो उसका रूप शुद्ध गति है। वही जब परिधि से केन्द्र की ओर लौटती है तब

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वही आगति कहलाती है। वैदिक परिभाषा में स्थिति ब्रह्म, गति इन्द्र या रुद्र और आगति विष्णु कहलाती है। इन तीनों की समष्टि का नाम हृदय है। हृ-द-यम् ये तीन अक्षर गतिविद्या के संकेत हैं। 'हृ' अर्थात् आहरण आगति या विष्णु, 'द' अवखण्डन या इन्द्र और 'यम्' नियमन या ब्रह्मा का उपलक्षण है। इस प्रकार के संकेतों में परिभाषाओं को ढालने की युक्ति वैदिक शास्त्र में विशेषतः ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुधा पाई जाती है। ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु इन्हीं तीनों को अक्षर भी कहा जाता है। प्राण या गति या तैजस तत्त्व का नाम ही अक्षर है। हृदय या केन्द्र के विकास पर ही वृत्त का स्वरूप निर्भर करता है। वृत्त या मण्डल को ही भूत पिण्ड कहते हैं। प्राण या देवता की शक्ति से भूत पिण्ड का निर्माण होता है। केन्द्र, व्यास और परिधि की ही संज्ञाएँ क्रमशः यजु, ऋक् और साम हैं। यही ऋक्-यजु-साम मौलिक वेद तत्त्व हैं जिससे सृष्टि का निर्माण होता है। उस तात्त्विक वेद को ही अपौरुषेय कहा जाता है। अक्षर विद्या या हृदय विद्या वेद की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कल्पना है। प्रत्येक भूतपिण्ड की मूर्ति का निर्माण व्यास या विष्कम्भ या ऋक् से होता है। व्यास की सीमा उसकी परिधि है जिसे परिणाह, साम या मण्डल कहा जाता है। परिधि व्यास की तिगुनी होती है, जैसे तीन ऋचाओं के विस्तार से एक साम बनता है (तृचं साम, ऋचि अध्यूढं साम गीयते), अर्थात् एक ऋचा के पाठ में जो समय आवश्यक है उसे तिगुना करने से गान बन जाता है। इस प्रकार ऋक् और साम अर्थात् व्यास और परिधि मिलकर आयतन या छन्द बनाते हैं जिसकी सीमा में प्राण या गतितत्त्व केन्द्र से परिधि और परिधि से केन्द्र तक निरन्तर गति-आगति करता रहता है। इसी प्राणत्-अपानत् क्रिया को 'एति च प्रेति च' भी कहते हैं। यही गायत्री-सावित्री का द्वन्द्व है। इस आयतन में प्राण या देवता की शक्ति से जो केन्द्र भाग पकड़ में आता है वही उस पिण्ड का रस तत्त्व है और उसे यजु कहा जाता है। यजु स्वयं गति और स्थिति की समष्टि का प्रतीक है। इसमें 'य' गति का और 'जु'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्थिति का संकेत माना गया है। किसी भी अमूर्त वस्तु को मूर्त रूप देने के लिये हृदय या अक्षर या ऋक्-यजु-साम इस त्रयी का संस्थान आवश्यक है। इसके स्पन्दन या प्राणन से ही सूर्य से लेकर तृण पर्यन्त विश्व में जितने पिण्ड हैं उनका निर्माण हुआ है और हो रहा है। क्या मानव, क्या वनस्पति, दोनों में यह स्पन्दन क्रिया विकास का मूल है और इसी की संज्ञा अक्षर या त्रयी विद्या है। सृष्टि से पहले शक्ति का जो महान् समीकरणात्मक विस्तार या साम्यावस्था थी उसके किसी केन्द्र में जब कभी सृष्टि की कल्पना हुई तो इसी प्रकार के गति-आगति स्वरूप स्पन्दन ने जन्म लिया। वैदिक परिभाषा में मूल शक्ति के समान वितरण को 'आपः' (यदाप्नोत् तस्मादापः) या भृग्वंगिरा, और स्पन्दनात्मक त्रिक को ऋक्-यजु-साम या त्रयी विद्या कहा जाता है—

आपो भृग्वनङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरेते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः॥
(गोपथ पूर्व २।३९)

वेद में परिभाषाओं की ही मुख्य जटिलता है। पदे-पदे उनके स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है। 'आपः' संज्ञक व्यापक शक्तितत्त्व को ही समुद्र भी कहा जाता है। किन्तु इनमें से कहीं भी भौतिक जल का अर्थ अर्थ अभिप्रेत नहीं है। विश्व का मूलभूत कारण अग्नि या गतितत्त्व है। वही नाना रूपों में अभिव्यक्त होता है (एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः)। उस अग्नि को ही रुद्र भी कहा जाता है। जिसमें अशनाया या बुभुक्षा धर्म जन्म ले लेता है अग्नि के उस रूप को ही रुद्र कहते हैं। अशनाया का अर्थ है बाहर से केन्द्र में कुछ लाने की कामना। उसे लाने के लिये केन्द्रस्थ प्राणाग्नि धू-धू करके मानों रुदन करती है, यही रुद्र का रुद्रपना है (यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः)। जहाँ भी प्राणाग्नि का व्यापार जारी है वहीं रुद्र के इस रूप को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। एक-एक बीजांकुर में यह

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

केन्द्रस्थ प्राणाग्नि अशनाया द्वारा बाहर से अपने लिये अन्न लाती है। अन्न ही सोम है। अन्न मिलने से वह रुद्राग्नि शान्त हो जाती है। फिर कुछ समय बाद, जो समय अपने छन्द से नियमित है, वह रुद्राग्नि कुमार शिशु की भाँति पुनः बुभुक्षित हो जाती है। अग्नि-सोम की प्रतीक्षण होने वाली इस प्रक्रिया से सब प्राणात्मक पिण्ड वृद्धि प्राप्त करते हैं। इसी की संज्ञा अग्नि चयन है। अग्नि का अग्नि के ऊपर ढेर यही चित्या कहलाती है। अग्नि में सोम की आहुति जिसे खाकर अग्नि स्व-स्वरूप में सुरक्षित रहता है सुत्या है। सुत्या और चित्या दोनों प्रक्रियाएँ सृष्टि के लिये अनिवार्यतः आवश्यक हैं और प्रत्येक मानव देह में इन्हें हम देख सकते हैं। इन्हीं के क्रियाकलाप को अभिव्यक्त करने के लिये अनेक प्रकार की इष्टियों और चयन यज्ञों का वैध कर्मकाण्ड विकसित हुआ था।

मानव शरीर में जो प्राणाग्नि है उसी की संज्ञा वैश्वानर है। प्राणियों की शरीर संस्था में तापधर्मा वैश्वानर अग्नि ही जीवन है। वैश्वानर शब्द का संकेत है कि भूर्भुवः स्वः या अग्नि, वायु, आदित्य इन तीनों के समन्वय से जो प्राण शक्ति स्पन्दित होती है वही वैश्वानर है। इस स्पन्दन या संघर्ष को ही यजन कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण में वैश्वानर की व्याख्या अत्यन्त स्पष्ट है—**अयमग्निर्वैश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषे, येनेदमन्नं पच्यते (शतपथ १४।८।१०।१)**। मानव शरीर ब्रह्माण्ड का ही एक पर्व है। जो छन्द अखिल ब्रह्माण्ड में है वही प्रत्येक पर्व में है। तीन अग्नियां, तीन लोक, तीन देव इत्यादि त्रिविध भाव जैसे विराट् विश्व में हैं वैसे ही पिण्ड या शरीर पर्व में भी हैं। समस्त विश्व त्रिक का ही विकास है। इस त्रिक को ही अर्थ-ज्ञान और क्रिया कहते हैं। इनमें अर्थ अग्नि, क्रिया वायु और ज्ञान इन्द्र का प्रतीक है। इन तीनों से कहीं अधिक महिमाशाली वह ब्रह्म तत्त्व है, जिससे विश्व का उद्‌भव हुआ है। भगवती उमा नाम की चिद्‌ग्राहिणी शक्ति से उस ब्रह्म का आभास प्राप्त होता है। केन उपनिषद् में इस सुप्रसिद्ध आख्यान का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वैश्वानर विद्या वैदिक विज्ञान की अत्यन्त गूढ़ विद्या है। शरीर में जो एक विलक्षण तापधर्मा अग्नि स्पन्दन करने लगा है, यही वैश्वानर है, यही प्राण है। यही जीवनी शक्ति अर्वाचीन विज्ञान की दृष्टि से भी सबसे अधिक रहस्यमयी शक्ति है। यह तापमयी शक्ति ही ऊष्मा है जो किसी महान् ऊष्मा से जन्म लेकर व्यक्त रूप में आती है। प्रत्येक प्राणी या भूत में यही अग्नि दिखाई पड़ रही है। जैसा महाभारत ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्॥
(आरण्यक पर्व २११।४)

उस अग्नि को मनु भी कहा जाता है। वही सृष्टि का मूलभूत ऋषि प्राण है। सरल भाषा में गतितत्त्व ही अग्नि या प्राण या ऋषि है। **'प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्'** (शतपथ, ८।१०।१।४)। यही प्राण या गति या शक्ति की प्रामाणिक वैज्ञानिक परिभाषा है। फैलना या सिमिटना यही फड़कन सृष्टि का मौलिक प्राजापत्य रूप है। इसी की व्याख्या वैदिक प्राण विद्या में अनेक प्रकार से की जाती है। शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि प्राण और अपान का एक संयुक्त स्पन्दन ही है। वैश्वानर के स्पन्दन के लिये पृथ्वीलोक और द्युलोक का द्वन्द्व अनिवार्यतः आवश्यक है। यही अनाद्यन्त माता-पिता का युग्म है। इनकी जो सन्धि है वही अन्तरिक्ष है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ ये तीन विश्व प्रत्येक भौतिक पिण्ड में अवश्य रहते हैं। इन तीनों की अधिष्ठात्री शक्तियाँ इनकी देवता हैं। उन्हें अग्नि, वायु और आदित्य कहा जाता है। वस्तुतः अग्नि ही एक देवता है जो तीन रूपों में कार्यवश प्रकट होता है। एक ही गतितत्त्व के गति, आगति और स्थिति ये तीन भेद देखे जाते हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में इन्हें वैश्वानर तैजस प्राज्ञ कहा गया है और ये तीनों इसी शरीर के चिदंश की संज्ञाएँ हैं।

इसी प्रसंग में संवत्सर का विवेचन भी जानने योग्य है। यह संवत्सर

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दो प्रकार का होता है, एक चक्रात्मक और दूसरा यज्ञात्मक। पृथिवी अपने क्रान्ति वृत्त पर घूमती हुई एक बिन्दु से चलकर जब पुनः उसी बिन्दु पर लौट आती है तो उसे हम चक्रात्मक या कालात्मक संवत्सर कहते हैं, जो कि पृथिवी के चंक्रमण या परिक्रमा से बनता है। काल की यह अवधि एक आयतन या पात्र है। उस अवधि के भीतर सूर्य की जो शक्ति रश्मियों द्वारा उस आयतन या पात्र में भर जाती है और उससे सौरमण्डल के समस्त वस्तुओं के जो स्वरूप निर्मित होते हैं वह यज्ञात्मक संवत्सर है। पहला कालात्मक संवत्सर तो एक प्रतीति मात्र है। इसीलिए उसे भाति सिद्ध कहते हैं। दूसरा वास्तविक सत्ता सिद्ध है जिसका रूप दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः अग्नि ही पृथिवी की परिक्रमा का कारण है। गर्मी-सर्दी का मिथुन भाव ही ऋतु है। ऋतुओं की समष्टि ही संवत्सर है। अतएव अग्नि और सोम का मिथुन ही संवत्सर है, जो समस्त भूतों को उत्पन्न करता हुआ उनका नियन्ता भी है। अग्नि में सोम के यजन से जो भूतों का स्वरूप सम्पन्न करता है वह संवत्सर ही सच्चा यज्ञात्मक संवत्सर या प्रजापति संवत्सर है। संवत्सर से उत्पन्न पुरुष साक्षात् संवत्सर की प्रतिमा है। जो उसमें है वही पुरुष में है। अग्नि, वायु, आदित्य इन तीनों अग्नियों के परस्पर मिलन से पुरुष स्थित वैश्वानर का जन्म होता है। यज्ञात्मक प्रजापति संवत्सर भी वैश्वानर का ही रूप है। वैदिक परिभाषाएँ द्युलोक की उन पुत्रियों के समान है जिन्हें अनग्ना, अवसना कहा गया है, अर्थात् जो न नितान्त प्रकट और न नितान्त गुप्त हैं। सृष्टि विद्या की इन मूल्यवान् परिभाषाओं के ठीक उद्घाटन की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है।

इस प्रसंग में एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, वह ऋक्, यजु, साम का स्वरूप है। इन शब्दों से प्रायः ग्रन्थात्मक या शब्दराशियुक्त वेद का ही ग्रहण होता है। मौलिक वेदतत्त्व केवल ज्ञान प्रधान कल्पना है। वह सृष्टि का मूलभूत स्वयम्भू तत्त्व है जिसकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। उसे अपनी सत्ता के लिये और किसी की अपेक्षा नहीं। मनोमय ज्ञानात्मक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

या शुद्ध प्राणरूप होने के कारण ही उसे ब्रह्मनिःश्वसित वेद या ब्रह्म का निःश्वास कहा जाता है। वेद का दूसरा स्वरूप गायत्रीमात्रिक वेद है जो प्राणात्मक है, जिसका सूर्य से सम्बन्ध है और जिसमें गति, आगति और स्थिति की क्रिया वर्तमान रहती है। इसी के आधार पर तीसरा यज्ञमात्रिक वेद प्रतिष्ठित होता है जिसे पार्थिव वेद कहा जा सकता है। पदार्थों का भौतिक रूप इसी से सम्पन्न होता है। शब्दात्मक वेद इन तीनों की वागात्मिका मूर्त चौथी अभिव्यक्ति है। ये तीनों वेद मन, प्राण, वाक् रूप से प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्निहित रहते हैं। प्रत्येक संस्था के संस्थान का निर्माण वेदत्रयी से ही होता है। इन तीनों में भी ऋक्, साम केवल छन्द या आयतन मात्र हैं। उनमें जो वस्तु का स्वरूप या रस परिच्छिन्न होता है वही यजु है। वस्तुतः गति का नाम ही यजु है (**सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्। तैत्तिरीय ब्राह्मण**)। किसी घन पदार्थ का द्रवित होना या द्रुतिभाव में आना ही गति है। द्रुति या गति की ही संज्ञा रस है। शुद्ध स्थिति रसातीत अवस्था की संज्ञा है।

पंचपुण्डीरा विश्वविद्या का विषय अत्यन्त रोचक और रहस्यपूर्ण है। मनुष्य शरीर विश्व निर्माता प्रजापति के विश्व रूपी वृक्ष की एक शाखा या टहनी है। शाखा ही वैदिक भाषा में वल्शा कही जाती है। प्रत्येक प्राणी और पुरुष एक प्राजापत्य वल्शा है। यजुर्वेद के पहले मन्त्र में इषे त्वा, ऊर्जे त्वा (इषके लिए तुझे, ऊर्ज के लिए तुझे) कहकर जिस शाखा की ओर संकेत किया जाता है वह टहनी यह शरीर ही है। इसी शाखा पर जीवरूपी भोक्ता सुपर्ण बैठा है और उसी के साथ ईश्वररूपी साक्षी सुपर्ण भी है। वह देव सत्य इस भूत सत्य को कभी अकेला नहीं छोड़ता। दोनों सदा एक साथ रहने वाले सयुज सखा हैं। इस शाखा के जीवन के लिये हम इष् या अन्न लेते हैं। उस अन्न से वैश्वानर अग्नि ऊर्ज् या प्राण उत्पन्न करता है। यही शरीर रूपी शाखा के संवर्धन या जीवन का क्रम है।

इस शाखा के दो रूप हैं, एक पिण्डगत दूसरा ब्रह्माण्डगत। दोनों में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पाँच पर्व या पोरियाँ हैं। पोरी को वैदिक भाषा में पुण्डीर कहते हैं। वृक्ष के तने से जो गुद्दा फूटकर बढ़ता है, उसमें पाँच पर्व या जोड़ों की कल्पना की जाय तो वैसी एक-एक शाखा प्रत्येक प्राणी का शरीर या विश्व है। शरीर में ये पाँच पोरियाँ कौन-सी हैं ? इसका उत्तर यह है कि शरीर या इन्द्रियों वाला स्थूल संस्थान सबसे इधर की पोरी है। यही केवल दृश्य है। इसके भीतर मन, मन के भीतर बुद्धि, बुद्धि से आगे महान् और उससे भी आगे की पहली पोरी अव्यक्त है। अव्यक्त आत्मा, महान् आत्मा, विज्ञान आत्मा, प्रज्ञान आत्मा और भूत आत्मा यही पाँच पोरियों वाली शाखा प्रत्येक प्राणी को मिली हुई है। इसका सबसे पहला सिरा अव्यक्त प्रजापति के साथ जुड़ा है। इसलिए उसे भी अव्यक्त कहते हैं।

जब हम शाखा की कल्पना करते हैं तो वृक्ष की कल्पना उसके साथ जुड़ी है। वृक्ष के साथ वन की कल्पना है जिसमें अनेक वृक्षों की समष्टि रहती है। वैदिक सृष्टि विद्या में वन, वृक्ष और शाखा इनकी कल्पना प्रायः मिलती है। जैसे पुरुष रूपी शाखा के पाँच पोर हैं वैसे ही एक-एक विश्व महान् अव्यय वृक्ष की एक-एक शाखा है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी ये उसके पाँच पर्व हैं। स्वयम्भू अव्यक्त आत्मा, परमेष्ठी महान् आत्मा, सूर्य विज्ञान आत्मा, चन्द्रमा प्रज्ञान आत्मा और पृथिवी भूत आत्मा का रूप है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी इन स्थूल पिण्डों की संज्ञाएँ नहीं बल्कि पिण्ड सृष्टि के विकास की पाँच अवस्था विशेष हैं जो क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल भाव में आविर्भूत होती हैं। इस प्रकार अनेक रूपों में पञ्चपर्वा विश्व विद्या या अश्वत्थ विद्या की व्याख्या पाई जाती है। यह विश्व एक वृक्ष या अव्यय अश्वत्थ है, जिसका मूल ऊर्ध्व और शाखाएँ नीचे की ओर फैली हैं। ऊर्ध्व-अधः का तात्पर्य ऊपर-नीचे नहीं किन्तु केन्द्र या परिधि है। जो हिरण्यगर्भ अव्यक्त प्रजापति है वही ऊर्ध्व है। उसका जो व्यक्त रूप है वही अधः है।

पञ्चपर्वा शाखा के प्रसंग में मनोता विद्या का भी उल्लेख किया जा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सकता है। यह वेद की अतिगूढ़ रहस्यमयी विद्या है। ऊपर जो पाँच पर्व कहे हैं उनमें से प्रत्येक पर्व के तीन-तीन भेद होते हैं। सृष्टिमूलक अव्यय पुरुष मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय है। अतएव उससे विकसित होने वाला प्रत्येक पर्व भी मन, प्राण, वाक् के रूप में तीन-तीन फुटाव लेता है। मनःप्रधान होने के कारण इन्हें मनोता कहते हैं। मनोता न हों तो सृष्टि पर्वों का वितान नहीं हो सकता।

पुरुष संवत्सर रूप प्रजापति की प्रतिमा है। प्रजापति का जैसा स्वरूप है वैसा ही पुरुष का है। अतएव वैदिक साहित्य में पुरुष को प्रजापति के निकटतम या नेदिष्ट कहा गया है। पुरुष के स्वरूप की यह कल्पना वैदिक साहित्य का अति विशिष्ट और उदात्त अंग है। शरीर, मन, बुद्धिरूपी, आत्मा से विशिष्ट प्राणी पुरुष है। वह श्रद्धा और मेधा, ऋत और सत्य, सूत्रात्मा और अन्तर्यामी, इन्द्र और इन्द्रपत्नी, मनुतत्त्व और श्रद्धा, अमृत और मर्त्य, अनिरुक्त और निरुक्त भावों की समष्टि और समन्वय की विलक्षण अभिव्यक्ति है। जहाँ एक ओर अधिदैवत और अधिभूत सृष्टि है वहीं दूसरी ओर उतनी ही महत्त्वपूर्ण पुरुष रूपी अध्यात्म सृष्टि है। अधिदैवत की शक्ति से, अधिभूत के उपादान से, अध्यात्म यज्ञ की सिद्धि ही सच्चा वैदिक दृष्टिकोण है। अतएव इस योजना में पुरुष सृष्टि का केन्द्र या नभ्य बिन्दु है। पुरुष ही सब यज्ञों की महावेदी है। अव्यय-अक्षर-क्षर, ज्ञान-क्रिया-अर्थ, मन-प्राण-वाक् इनकी समष्टि पुरुष है।

अश्वत्थ विद्या विश्व विद्या ही है। निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर इन पाँच पर्वों द्वारा विश्व का विकास हो रहा है। इनमें अव्यय पर, अक्षर परावर और क्षर अवर कहा जाता है। इन तीनों की समष्टि ही विश्व है। इनसे अतीत ब्रह्मतत्त्व परात्पर कहलाता है। परात्पर से भी अतीत निर्विशेष है, जिसके विषय में कुछ भी कहना कठिन है। यह पंच पर्वा पुरुष ही विश्वातीत और विश्व है। परात्पर 'तद्वन' भी कहा जाता है। उसका

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्वरूप रसमय है। उसी में महामाया के सीमा बल से अव्यय रूपी अश्वत्थ वृक्ष या विश्व का जन्म होता है। ऐसे अनेक विश्व हैं।

अश्वत्थ पूरा प्रजापति का रूप है। **अश्ववत् तिष्ठति इति अश्वत्थः;** अर्थात् जो तीन पैरों पर खड़ा रहता है, जिसके तीन पैर अविचाली और एक पैर विचाली है ऐसा वह प्रजापति है (**त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादो अस्येहाभवत्पुनः**)। उसका विश्वरूप पैर प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। विश्व अश्व है—**न श्वः इति अश्वः,** विश्व जो आज है वह कल नहीं है। इसके विरुद्ध आत्मा जो आज है वही कल है। **अश्व इव तिष्ठति** —'कल नहीं' की तरह जो है, वही अश्वत्थ है। विश्व एक अलातचक्र है। वह सदा घूम रहा है, ठहर नहीं सकता। इसका जो बिन्दु सामने है वह प्रतिक्षण हट रहा है, दूसरा सामने आ रहा है, बिन्दु-बिन्दु बदल रहा है। जो नहीं बदलता वह आभु है, जो बदल रहा है वह नाम रूपात्मक अभ्व है। उसे ही यक्ष कहते हैं क्योंकि वह केवल एक प्रतीति है।

अश्वत्थ विद्या का मूल रस-बल का तारतम्य है। रस से बल की ओर विकास सिसृक्षा है, बल से रस की ओर बढ़ना मुमुक्षा कहलाता है। रस शान्त स्थिर धरातल है। बल क्षुब्ध विचाली या गत्यात्मक धरातल की संज्ञा है। बल सोलह प्रकार के हैं जिनमें सबसे पहला बल मायाबल कहलाता है। रूपों का निर्माण मायाबल के सीमाभाव से ही सम्भव होता है। इसी प्रसंग में ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु इन तीन अक्षर देवताओं का भी विवेचन ज्ञातव्य है। ये ही तीन अन्तर्यामी कहे जाते हैं। अग्नि-सोम का नाम सूत्रात्मा है। ये पाँच अक्षर की कलाएँ हैं। अव्यय की अभिव्यक्ति भी पाँच कलाओं के रूप में होती हैं और क्षर की भी पाँच ही कलाएँ हैं। इस प्रकार अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीन पुरुषों की पन्द्रह कलाएँ और सोलहवाँ परात्पर—ये मिलकर षोडशी पुरुष का स्वरूप बनाते हैं। प्रत्येक पिण्ड में षोडशी आत्मा का निवास और मूर्ति है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२५. प्रजापति-विद्या

१. एक और वहुधा

एको वेदो वहुशाखो ह्यनन्तस्त्वामेवैकं बोधयत्येकरूपम् ।

एक वेदतत्त्व है। वही बीज अव्यक्तभाव से व्यक्तसृष्टि के रूप में आता है। एक तत्त्व मूल है। बहुधा या अनेक तूल है। उसी एक का विस्तार विश्व है। एक 'तत्' है। बहुधा 'इदं सर्वम्' है। एक अव्यक्त भाव है। उस अदृश्य के लिये वेदों में 'तत्' संकेत है। बहुधा को व्यक्त, स्थूल या दृश्य कहते हैं, जो 'एतत्' या विश्व या भूत है—

एतद् वै तत्,

२. एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति

यही सृष्टि का एक सूत्र है जिसमें सारे भूत और प्रजाएँ ओत-प्रोत हैं। विश्व का मूल एक शक्ति तत्त्व है जो अनेक भूत और प्रजाओं के रूप में दृश्य बन रहा है। भूत और प्रजाएँ एक शक्ति के अनेक या बहुधा रूप हैं। उस एक महासत्तावन् शक्ति की संज्ञा ब्रह्म है। एक और अनेक दोनों ब्रह्म के रूप हैं। जो स्वयं अविकारी रहता हुआ इस विकारवान् भूतमय जगत् की सृष्टि करता है वह तत्त्व ब्रह्म है। वह अपने एक अंश से स्वयं ही इस विश्व के रूप में अभिव्यक्त होता है—

एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ।

यही उस ब्रह्म तत्त्व की प्रातिस्विक या निजी शक्ति है। वह एक होते हुए भी बहुधा रूप में प्रकट होता है—

एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति

एक रूप में वह अस्ति या सत्ता है। जैसे ही वह 'भवति' या होता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है वह 'बहु' बन जाता है। बहुभाव को ही परोक्षभाषा में भूमाभाव या ब्रह्म कहते हैं।

३. जीवन की आधार शिला

जो एक है वह गणित की भाषा में 'एकमेवाद्वितीयम्' है—ऐसा एक जिसमें दो-तीन-चार-पाँच आदि खंड या संख्या का स्पर्श नहीं है। एक और एक दो होते हैं। इसी प्रकार सारी संख्याएँ एक का ही बहुधाभाव हैं। किंतु जिस स्थिति में एक केवल एक है वही अद्वितीय सत्ताभाव निर्गुण या गुणों से अतीत ब्रह्म का रूप है। जिस एक में बलग्रन्थियों के जुड़ने से दो, तीन आदि की कल्पना है वह ब्रह्म का त्रिगुणमय रूप है। संख्यातीत एक अव्यक्त है, संख्यायुक्त एक जो दो-तीन-चार आदि का जनक है व्यक्तरूप है। गणित के उदाहरण से यह तथ्य स्पष्टतः समझा जा सकता। केन्द्ररूपी एक बिन्दु अव्यक्त है। उसकी सत्ता ध्रुव है, वह स्थितिवान् है, किन्तु वह अव्यक्त है। आकार-विकार-परिमाण की कोई कल्पना उसका स्पर्श नहीं करती। किन्तु उसी एक बिन्दु की देश और काल में बहुधा अभिव्यक्ति कई बिन्दुओं से बनने वाली रेखा को जन्म देती है। एक और अनेक का यही पारस्परिक विरोध और सामंजस्य भी है। अव्यक्त और व्यक्त की यह द्वि-विरुद्ध मीमांसा का रहस्य है। वेदों में और कालान्तर के भारतीय दर्शन में इस मूलभूत तथ्य की उन्मुक्त स्वीकृति और अनुभूति पाई जाती है। 'एक' और 'बहुधा' का अनादि अनन्त संघर्ष और प्रभाव दर्शन और जीवन की आधार शिला है। 'एक' अव्यक्त महाकाल है। 'बहुधा' उसी का व्यक्त कालात्मकरूप है।

४. अनिरुक्त प्रजापति

एक और अनेक दोनों प्रजापति के रूप हैं। जो एक और अव्यक्त है अनिरुक्त प्रजापति कहा जाता है, एवं जो अनेक और अव्यक्त है वह निरुक्त प्रजापति का रूप है। वैदिक परिभाषाओं में अनिरुक्त प्रजापति की कितनी ही संज्ञाएँ हैं। वही गर्भ प्रजापति है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
—यजुः ३१।१६।

ब्रह्म के बृंहण से विश्व में जो उसका अनुप्रविष्ट रूप है जिसे विश्वचर-रूप कहेंगे वही प्रजापति है। जब तक वह गूढ़ या गर्भित दशा में है वह अजायमान है। बीज वृक्ष का अजायमान रूप है। बीज ही वृक्षरूप में बहुधा जन्म लेता है। यही प्रजापति का रूप है, जिसकी सृष्टि ही सब यज्ञ है। यज्ञ से पूर्व प्रजापति का अव्यक्त-रूप 'तूष्णीम्' या अनिरुक्त होता है। वही सृष्टि या यज्ञ में निरुक्त या दृश्य-श्रव्य बनता है—

प्रजापतिर्वा एष यज्ञो भवति। उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्त-श्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमिश्च। तद् यद् यजुषा करोति यद् एवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं तद् अस्य तेन संस्करोति। अथ यत् तूष्णीं यद् एवास्यानिरुक्तम् अपरिमितं रूपं तद् अस्य तेन संस्करोति स ह वा एतं सर्वं कृत्स्नं प्रजापतिः।

—शतपथ १४।१।२।१८।

गणित, विज्ञान, दर्शन, अध्यात्म, सृष्टिविद्या सब क्षेत्रों में ये परिभाषाएँ सरल और स्पष्ट हैं। शक्ति का जो महासमुद्र है वह अपरिमित है। उसका जो अंश भूतरूप में परिणत हो गया, या भूतों से परिगृहीत और परिच्छिन्न हो गया, वह परिमित है। शक्ति अपने निजी रूप में अनिरुक्त है। यही भूतरूप में निरुक्त है। समुद्र अखण्ड है। किन्तु उससे ही जो जलपूर्ण अनेक पात्र या कमण्डलु हैं वे परिमित और स्थूल या दृश्य होते हैं। यही प्राण और भूत-सृष्टि का हेतु है।

अनिरुक्त या गर्भ प्रजापति को ही गुहा कहा जाता है। जो पुराण पुरुष है वह गुहानिहित है, उसे ही 'गह्वरेष्ठ' कहा जाता है। अग्नि को सर्वत्र 'गुहाहित' कहा गया है। विश्व का प्रत्यक्षभूत शक्ति तत्त्व सृष्टि से पूर्व गुहा में विद्यमान रहता है। उसी गर्भ में वह बहुधा जन्म लेता है

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जो 'गुहा' था वही 'आविः' या प्रकट रूप में आता है (तदाविर्गुहा सत्)। महाकाल अव्यक्त गुहातत्त्व है। व्यक्तकाल 'आविः' रूप है।

५. ऊर्ध्व और अधः

अव्यक्त, अनिरुद्ध, गर्भ, गुहा ये सार्थक संकेत हैं। इन्हें ही ऊर्ध्व और परोक्ष भी कहा जाता है। इस महान् संसार को अश्वत्थवृक्ष कहा गया है जिसका मूलभाग किसी ऊर्ध्व स्रोत से जुड़ा है, और शाखाएँ अधः या नीचे की ओर प्रवृत्त हैं—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

ऊर्ध्व और अधः सापेक्ष शब्द हैं। अव्यक्त महाकाल ऊर्ध्व है। व्यक्त काल-प्रवाह अधः है। केन्द्र की संज्ञा ऊर्ध्व है, परिधि की अधः। अन्तर ऊर्ध्व है, बाह्यरूप अधः है। प्रजापति की अजायमान अवस्था 'ऊर्ध्व' है, बहुधाविजायमान' 'अधः' है। यहाँ सृष्टिक्रम का पौर्वापर्य है, देश पर निर्भर ऊपर-नीचे की कल्पना नहीं है।

अनिरुक्त आदि प्रजापति के सब वैदिक संकेत एक ही मूल तथ्य की ओर ध्यान दिलाते हैं—वह है उसका अव्यक्त गुणतातीतरूप। उसे श्रुतियों में 'कः' कहा गया है। बीजगणित के अप्रज्ञात संकेत की भाँति 'क' गुहा-निहित अनिरुक्त, अमूर्त, अव्यक्त, नभ्य, परोक्ष प्रजापति का संकेत है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम।

'क' प्रजापति के लिये जो आहुति दी जाती है उसे तूष्णीम् या मौन-भाव से उद्दिष्ट करके ही समर्पित करते हैं।

६. गतितत्त्व

विश्व का अव्यक्त मूल स्थिति तत्त्व है। उसे ही रस कहा जाता है। रस के धरातल पर बलों का आविर्भाव ही सृष्टि का क्षोभ है। बलों की नाना ग्रन्थियाँ ही बहुभाव या सृष्टि है। बलतत्त्व ही गति है। गति स्पन्दन

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। गति-आगति रूप द्वन्द्व का नाम ही प्राण है। प्राण शक्ति का स्पन्दन है। शतपथ के अनुसार प्राण की वैज्ञानिक परिभाषा यह है—

प्राणो वै समंचनप्रसारणम्

शत० ८।१।४।१०

फैलना और सिकुड़ना, गति और आगति यही प्रजापति का निरुक्त व्यक्त मूर्त्त प्रत्यक्ष प्रकटरूप है। इसी स्पन्दन को प्रजापति का तैजसरूप भी कहा जाता है। गति का उत्थान केन्द्र से परिधि की ओर होता है। परिधि तक पहुँच कर वही गति पुनः केन्द्र की ओर लौटती है। तब उसे आगति करते हैं। केन्द्र से परिधि तक प्रसारण और परिधि से केन्द्र तक समंचन— यही गति-आगति का स्वरूप है। इनमें गति या प्रसारण को इन्द्र और आगति या समंचन को विष्णु कहते हैं। इन्द्र और विष्णु की संतत स्पर्धा का भाव ही सृष्टि है—

उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥

ऋग्वेद ६।६६।८।

प्रत्येक अभिव्यक्त केन्द्र में इन्द्र और विष्णु का यह गति-आगतिरूप या प्रसारण-समंचन रूपी द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। यही प्राणन-अपानन क्रिया-शक्ति का जागरण या द्विविरुद्धभाव है। विष्णु को इन्द्र का सहयुक्त सखा कहा गया है—इन्द्रस्य युज्यः सखा। पौराणिक भाषा में इन्द्र का छोटा भाई विष्णु उपेन्द्र है। इन्द्र और विष्णु का यह संघर्ष अर्थात् गति-आगति का स्पन्दन बिना किसी शान्त धरातल के सम्भव नहीं। उसे ही स्थिति तत्त्व या ब्रह्म कहा जाता है—

ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा।

७. हृदय विद्या

प्रतिष्ठा तत्त्व की संज्ञा ब्रह्म है। स्थितिभाव से ही गति का जन्म होता

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। स्थिति मानों जल की घनीभूत निश्चेष्ट अवस्था है। उसी का द्रुतिभाव गति है। स्थिति निद्रा है, गति जागरण है। गति-आगति का प्रादुर्भाव केन्द्र में प्रसुप्त शक्ति का जागरण है ? ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु के इस समन्वित भाव की संज्ञा हृदय है। स्थिति-गति-आगति की व्याख्या वेद की हृदयविद्या है। अनिरुक्त अमृत अमूर्त्त नभ्य प्रजापति रूप को ही हृदय कहा जाता है। केन्द्र की संज्ञा हृदय है। यही हृद्देश है। अभिव्यक्त पदार्थ का अव्यक्त केन्द्र उसका हृदय है। वहीं से देवतत्त्व या शक्ति का विकास होता है।

ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायः प्रश्न किया जाता है कि हृदय तत्त्व क्या है ? उत्तर में प्रतीक शैली से व्याख्या की जाती है कि हृदय में तीन अक्षर हैं हृ-द-य। तीन अक्षर तो प्रकट ही हैं, वस्तुतः ऋषि की दृष्टि स्थिति-गति-आगति रूप प्राणन या स्पन्दन की ओर है। उसे ही अक्षर तत्त्व कहते हैं। प्राण ही अक्षर शक्ति है। इन तीन अक्षर देवों में हृ आहरण या आगति का, द विकिरण प्रसारण या गति का, और य गति-आगति के नियमन या स्थिति का प्रतीक है। 'हृ' विष्णु, 'द' इन्द्र, 'य' ब्रह्मा या प्रतिष्ठा तत्त्व का संकेत है। ये ही तीन अक्षर देवता हैं। इन्हीं तीन अक्षर देवों की हलचल या प्राणात्मक स्पन्दन से प्रत्येक प्राणी का जन्म-वृद्धि-विकास और ह्रास संभव होता है। प्रत्येक बीज या अंकुर में प्रसुप्त प्राणशक्ति जब जागरण भाव में आती है तभी वह बाहर से भूतों को खींचकर अपने केन्द्र में लाती है और स्वस्वरूप में परिणत कर लेती है। यही प्रक्रिया प्राण, गति, तैजस, अग्नि आदि कितने ही संकेतों या नामों से प्रकट की जाती है।

स्थिति-गति-आगति के त्रिक का वैदिक नाम हृदयविद्या है। हृदय का सामान्य लौकिक अर्थ वह अवयव है जो रुधिर का अभिसरण करते हुए नित्य स्पन्दित रहता है और जब तक उसका स्पन्दन है तभी तक आयुष्य है। स्पन्दन ही आयुष्य है अथवा आयुर्बल ही स्पन्दन है। दोनों एक ही तथ्य है। आयुष्य ही अमृत है। अतएव शक्ति का स्पन्दन ही अमृत तत्त्व है। अमृत का ही दूसरा नाम अक्षर तत्त्व या प्राणतत्त्व है। स्थिति-गति-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आगति के प्रतीक तीन प्राणदेवता क्रमशः ब्रह्मा-इन्द्र-विष्णु वैदिक परिभाषा में अक्षर देवता कहलाते हैं। अक्षर अविनाशी प्राणतत्त्व है। विनाशी भूततत्त्व को क्षर कहा जाता है, जैसा गीता में स्पष्ट कहा है—

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटोस्थोऽक्षर उच्यते।

कूट का अर्थ ढेर है। ढेर, राशि, कूट स्तोम एक ही अर्थ के वाचक हैं। एक की बहुभाव में अभिव्यक्ति कूट या स्तोम के नियम के अनुसार होती है। नाना कलाओं या संख्याओं की समष्टि से कूट बनता है। प्रत्येक भूत कूट है अर्थात् शक्ति की अनेक कलाओं के राशिभूत होने से बनता है। जो शक्ति अभिव्यक्त नहीं हुई वह अखण्ड या निष्कल होती है। उसकी अभिव्यक्ति की एक-एक इकाई जब कूट या समूह बनती है उसे ही भूत या क्षर कहा जाता है। शक्ति अक्षर अखण्ड अविनाशी प्राणतत्त्व है। वही भूत या कूट की विधृति है; अतएव अक्षर को गीताकार ने कूटस्थ कहा है। अस्यवामीय सुक्त के अनुसार—

ततः क्षरत्यक्षरं ततो विश्वमुपजीवति
१। १६४। ४२

८. इन्द्र के दो अश्व

प्राणात्मिका शक्ति का जो महासमुद्र है वही अक्षर तत्त्व है। उसी के क्षरण या निर्झर से क्षर अर्थात् भूतों का जन्म होता है। अक्षर तत्त्व स्पन्दन या गति तत्त्व ही है। गति-आगतिरूप स्पन्दन ही विश्व का उपजीवन है। प्राणिमात्र का जीवन गति-आगति या प्राणापान के स्पन्दन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसे ही पूर्व में इन्द्र और विष्णु की नित्य विद्यमान स्पर्धा कहा गया है। जीवन के क्षण से मृत्यु पर्य्यन्त यह स्पर्धा होती रहती है। इसी स्पर्धा का फल हृदय की गति है जिसकी शक्ति पाकर रुधिर रूपी भौतिक प्राण-बल समस्त शरीर में निरन्तर व्याप्त रहता है। एक शब्द में शरीर के भौतिक संस्थान की समस्त प्रक्रिया गति तत्व पर ही निर्भर है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इसी गति तत्त्व को और समझने का प्रयत्न करें। इसका स्रोत कहाँ है? गति का स्रोत स्थिति भाव में है। स्थिति से ही गति का जन्म होता है। केन्द्र-गुहा-गर्भ-हृदय आदि जो नभ्य प्रजापति के पर्याय पहले कहे गए हैं वे स्थिति के प्रतीक हैं। वे शान्ति या स्थिति के रूप हैं। उनकी उस अक्षोभ्य अवस्था को ही रसावस्था कहते हैं। वैज्ञानिक भाषा में रस स्थिति भाव है। गति या क्षोभ बलभाव है। स्थिति अव्यक्त केन्द्र है। गति अभिव्यक्त विष्कम्भ और परिधि है। केन्द्र-विष्कम्भ-परिधि की समष्टि से एक-एक संस्थान बनता है। इसी संस्थान की पूरी छाप हृदय (हृ-द-य) इन तीन अक्षरों के संकेत द्वारा बताई गई है। इसमें 'य' का अर्थ है यमयति अर्थात् नियमन करने वाला प्रतिष्ठातत्व या ब्रह्मा। ब्रह्मा यज्ञ में स्वयं कोई कर्म्म न करते हुए सबका प्रेक्षण या नियमन करता है। 'द' का संकेत दो अवखण्डने धातु है। अवखण्डन अर्थात् शक्ति का क्षरण, या केन्द्र से बाहर की ओर प्रवाह। इसे ही इन्द्र देवता का कार्य कहा जाता है। इन्द्र अपने दो अश्वों के वाहन पर विचरता है—

योजा न्विन्द्रस्य ते हरी।

ऋग्वेद में इन्द्र के रथ के दो अश्वों का अनेक बार उल्लेख आया है। ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी, अर्थात् ऋक् तत्त्व और सामतत्त्व की संज्ञा इन्द्र के दो अश्व हैं। वृत्त का विष्कम्भ या व्यास ऋक् है जिससे मूर्ति का आकार-परिणाम नियन्त्रित होता है। वृत्त की परिधि उसका मण्डल, घेरा या साम है। ये ही इन्द्र के वाहन हैं। मध्यप्राण की संज्ञा इन्द्र है—

९. इन्ध और इन्द्र

यन्मध्यत ऐन्ध तस्माद् इन्धः तम् इन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया वै देवा प्रत्यक्ष-द्विषः।

(श० ६।१।१।२)

जो प्राणतत्त्व केन्द्र या वृत्त के मध्य बिन्दु में अव्यक्त अवस्था से

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

व्यक्त भाव में आने के लिये दहकता है वही इन्ध कहलाता है। उस इन्धनधर्म्मा प्राणतत्त्व को परोक्ष या प्रतीक भाषा में इन्द्र कहते हैं। केन्द्र में प्रसुप्त गतितत्त्व प्राण या शक्ति का गतिशील होना ही उसका इन्धन, स्पन्दन, चरण, द्रवण आदि अनेक शब्दों से कहा जाता है। मूलभाव वही है। गति के साथ आगति का संतत सम्बन्ध है। गति-आगति द्विविरुद्ध-भाव हैं। यही इन्द्र-विष्णु की स्पर्धा है। इन्द्र का सम्बन्ध अश्व से और विष्णु का गौ से है। गति तत्त्व का प्रतीक अश्व और आगति का गौ है। अश्व और गौ दोनों ही गति के रूप हैं। आगति गर्भित गति अश्व है। गति गर्भित आगति गौ है। केन्द्र की शक्ति का बाहर की ओर विक्षेप इन्द्र का धर्म्म है। बाहर की शक्ति का केन्द्र में चरण विष्णु का धर्म्म है। इन्द्र की ही संज्ञा रुद्र है क्योंकि केन्द्रीय शक्ति का विक्षेप या विकिरण ही ध्वंस है। यदि ध्वंस ही होता रहे तो केन्द्रस्थ प्रजापति रिक्त हो जायगा और वस्तु के स्वरूप का लोप हो जायगा। अतएव इन्द्र के कार्य का पूरक उसका अवरज या उपेन्द्र विष्णु है जो परिधि से प्राणतत्त्व को पुनः केन्द्र में आहुत करता है। विष्णु यज्ञ का स्वरूपरक्षक है। विष्णु यज्ञमय है। विष्णु की गौएँ दिन भर विचरण करके तृणादि भक्षण करती हुई दुग्ध से भर कर अपने स्थान को लौटती हैं। सृष्टि में कोई भी अन्य प्राणी इस प्रकार दुग्ध से सम्पन्न नहीं है जिस प्रकार गौ। गौ साक्षात् वैष्णव पशु है। वह सर्वथा यज्ञिय या यज्ञ का आधार है। गौ विष्णु की शक्ति का लोक में साक्षात् निदर्शन है। सूर्य भी विष्णु है। उसकी गतिशील रश्मियाँ ही सहस्र गौएँ हैं जो त्रिभुवन में विचरण करके सर्वत्र रसाहार लेती हुई सायंकाल के समय पुनः अपने स्रोत में लीन हो जाती हैं।

१०. गति और बल

मूलकेन्द्रस्थ प्राण की जब कभी अभिव्यक्ति होगी उसे ऋक्-साम का माध्यम अवश्य चाहिए। गणित की भाषा में केन्द्र, विष्कम्भ और परिधि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ये तीन तत्त्व ही वृत्त का स्वरूप है। केन्द्र बिन्दु में केवल सत्ता है। वह जब तक देश-काल से संस्पृष्ट नहीं होता तब तक अव्यक्त या अमृत या अनिरुक्त ही बना रहता है। इसे ही गणित की भाषा में कहा जाता है कि केन्द्र में न लम्बाई है, न चौड़ाई है, न मोटाई। केन्द्र बिन्दु सत्तावान् है, केवल इतना ही कहा जा सकता है।

वह परोक्ष है। उसे प्रत्यक्ष भाव में आने के लिये देश-काल की सापेक्षता चाहिए। मध्य इन्द्रप्राण की गति रूप में अभिव्यक्ति को ही उसका बल कहा जाता है। बल तत्त्व ही इन्द्र का वास्तविक रूप है। माया, जाया, धारा, आपः आदि सोलह बल है। गति ही सब बलों की समष्टि है।

११. वेद और अग्नि सोम

वैदिक परिभाषाओं में त्रयीविद्या का स्वरूप महत्त्वपूर्ण है। वेद तत्त्व क्या है? ऋक्-यजु-साम का क्या स्वरूप है? त्रयीविद्या और चौथे अथर्ववेद का क्या सम्बन्ध है? इन प्रश्नों को जितना ही स्पष्टता से परिज्ञात किया जायगा, वेदार्थ के परिचय में उतनी ही सुविधा होगी। अग्नि, और सोम के सम्मिलन का नाम सृष्टि है। अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है। समस्त विश्व अग्नीषोमात्मक यज्ञ का परिणाम है। अग्नि अन्नाद है। सोम उसका अन्न है। अग्नि मूल तत्त्व है। सोम उसी का सहकारी है। शीत और उष्ण धाराओं की समष्टि ही विश्व है। ये ही शक्ति के ऋण और धन, अथवा एक ही मौलिक प्राण के प्राण और अपान नामक दो भेद हैं। हमारे सौर ब्रह्माण्ड में सूर्य और चन्द्र इन्हीं दो धाराओं के प्रतीक हैं। इस ब्रह्माण्ड में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो शीत और उष्ण के इस नियम से बाहर हो। प्राण के स्पन्दन का हेतु शीत और उष्ण का परस्पर में टकराने वाला क्रम ही है।

१२. असत् प्राणतत्व

ब्राह्मणग्रन्थों में कहा गया है कि सृष्टि के मूल में असत् तत्त्व था। प्रश्न है वह असत् क्या था?

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उत्तर—ऋषि तत्त्व को ही असत् कहते हैं।

प्रश्न—वे ऋषि कौन थे ?

उत्तर—प्राणों की संज्ञा ऋषि थी।

प्रश्न—प्राणों को ऋषि क्यों कहा गया ?

उत्तर—क्योंकि उन्होंने गति की, अतएव 'रिष् गतौ' धातु के अनुसार प्राणों को ही ऋषि कहा गया।

वस्तुतः बात यह है कि सृष्टि के पीछे शक्ति का एक अखण्ड महासमुद्र था। यह स्वयम्भू तत्त्व था। उसका हेतु और कुछ नहीं कल्पित किया जा सकता, अन्यथा तर्क की अप्रतिष्ठा हो जाती है। उस महासमुद्र के रूप में शक्ति सर्वत्र समभाव से वितरित थी। उसमें सिसृक्षा या सृष्टि की कामना हुई। उससे प्राणिशक्ति में कम्पन हुआ। उसे ही गति कहा गया। मौलिक अविभक्त शक्ति तत्त्व को 'ऋषि' प्राण संज्ञा दी गई।

१३. मौलिक ऋषिप्राण और त्रयोविद्या

मौलिक ऋषि तत्त्व ही मौलिक वेद तत्त्व है। उसे ही ब्रह्म निःश्वसित वेद कहा जाता है। एक मूलभूत ऋषि प्राण को सिसृक्षा या सृष्टि कामना के वशीभूत होकर पितृतत्त्व में विपरिणमित हो जाना पड़ता है। पितृ तत्त्व द्विधा विभक्त प्राण है, अर्थात् पितृतत्त्व-मातृतत्त्व को 'पितरौ' (**माता च पिता च पितरौ**) कहा जाता है। हमारे इस सौर मण्डल या रोदसी ब्रह्माण्ड में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जिसके जन्म के लिए माता और पिता की आवश्यकता न हो। छोटे से छोटे तृण वनस्पति, एवं कीट पतंग पशुपक्षी से लेकर मानव तक सब इस नियम के अधीन हैं। एक ही मूलभूत शक्ति प्राणियों के लिये माता-पिता, या नर-नारी के रूप में विशिष्ट बन जाती है। इन्हें ही द्यावा-पृथिवी का युग्म कहा गया है। द्यौः पिता पृथिवी माता—यही रोदसी ब्रह्माण्ड के विराट् जननी-जनक हैं। इस सौर जगत् को रोदसी क्यों कहते हैं ? रोदसी सृष्टि का अर्थ है वह प्राणमयी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सृष्टि जहाँ जीवन रुद्र तत्त्व के अधीन है। रुद्र का अर्थ है अशनाया तत्त्व, अर्थात् मध्यगत प्राण या अग्नि का जिस क्षण माता-पिता के शुक्र-शोणित रूप में संयोग होता है, उसी क्षण से वह प्राण जाग्रत् हो जाता है, अर्थात् वर्धित होने लगता है। आत्मपोषण के लिये वह बाहर से भूतों को खींचकर केन्द्र में लाना चाहता है। स्वयं प्राण रुद्र या अग्नि का स्वरूप है। उसे आत्म पोषण के लिये अन्न या सोम चाहिए। अन्नाद अग्नि का अन्नरूप सोम के लिये व्याकुल होना ही 'रुदन' है। जो रुदन करता है वही रुद्र है—

अग्निर्वै रुद्रो यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः,

शतपथ ६।१।३।१०

बालक का रोना उसकी भूख या अन्नेच्छा का संकेत है। द्युलोक और पृथिवी के बीच की जितनी प्राणमयी सृष्टि है सब रुद्र सृष्टि है, सब अन्न-अन्नादमयी या अग्नि-सोमात्मक सृष्टि है। इसी कारण द्यावापृथिवी रूपी विश्व को रोदसी ब्रह्माण्ड कहा जाता है। रोदसी सृष्टि क्षरात्मिका मूर्तिमयी सृष्टि है।

१४. अधामच्छद प्राण

रोदसी ब्रह्माण्ड या सौर जगत् में अभिव्यक्त होने वाले प्राण को भूत संपृक्त होना पड़ता है। प्राण अधामच्छद तत्त्व है, वह स्थान नहीं घेरता, न उसका कोई भार या वर्ण है। इसके विपरीत भूत धामच्छद तत्त्व है, वह स्थान घेरता है, और भौतिक विशेषताओं से संयुक्त होता है। प्राण प्रथम देव है। भूत अवर देव हैं। प्रथमच्छद प्राण का अवरभूतों में समाविष्ट होना ही सृष्टि है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥

(ऋ० १०।८१।१)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१५. देवसृष्टि और भूतसृष्टि

यहाँ विश्वभुवन या सृष्टि की चार कोटियों का स्पष्ट उल्लेख है। पहला ऋषि तत्त्व है जिसे ऊपर असत् या प्राण कहा गया है। वह मूल अविभक्त प्राण या शक्ति तत्त्व है। दूसरा पितृतत्त्व या माता-पिता के रूप में एक स्वयम्भू प्राण का द्विधा विभक्त हो जाना है। तीसरा देवरूपी प्राणतत्त्व है जो छन्दमयी सृष्टि का वितान करता है। इसे ही प्रथमच्छद तत्त्व कहा गया है। चौथा अवर स्थानीय भूत-भौतिक तत्त्व है जो प्राणात्मक देवों के अनुप्रवेश से यज्ञात्मक शरीर के रूप में संचित होता है। तृण से ब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त रोदसी सृष्टि का यही ध्रुव नियम है। सर्वप्रथम एक मूलभूत शक्तितत्त्व गति संयुक्त बनकर ऋषित्वभाव में आता है। उसमें माता-पिता के रूप में शक्ति के दो पृथक् विभाग बन जाते हैं। उसके बीज या शुक्रभाग से गर्भाधान होता है। गर्भित शुक्र शोणित प्राणात्मक स्पन्दन से बढ़ने लगता है। वह अपने संस्थान के बाहर से अन्न या सोम खींच कर स्वयं पुष्ट होने लगता है। यही देवसृष्टि है। मन, प्राण, श्रोत्र, चक्षु, वाक् ये पाँच देवता, अथवा प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि पृथक्-पृथक् विशिष्ट प्राण, अथवा एकादश इन्द्रियाभिमानी शक्तियाँ उसी गर्भित कलिल में निश्चित क्रम या छन्द के अनुसार यथासमय अपना स्वरूप प्रकट करती हैं। यही देवसृष्टि है। स्पन्दनशील प्राणतत्त्व ही देव है। वही भूतभाग को बाहर से लेकर शरीर का निर्माण और संवर्धन करता है। यही चौथी अवर या भूतमयी सृष्टि है। मनु ने इस क्रम का स्पष्ट उल्लेख किया है—

> ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
> देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥
>
> (मनु० ३।२०१)

प्राणमयी और भूतमयी सृष्टि के इस संस्थान में प्राणमयी सृष्टि जिस मूलभूत नियम पर आश्रित है वह त्रयीविद्या का नियम है। त्रयीविद्या के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

संस्थान द्वारा ही प्राण भूतों का आकर्षण करते हैं। प्राण अग्नि का रूप है। वह अग्नि बीच में धकधक करती हुई अपने चारों ओर के भूत भाग से जितना अंश अपनी अशनाया के अनुसार खींच लेती है उसे अपने स्वरूप में परिणत करने लगती है। भूतों का प्राणरूप में परिवर्तन यज्ञ है। प्राणों की प्रक्रिया से पुनः भूतों का निर्माण उसी यज्ञचक्र का शेषांश है। यह चक्र प्रत्येक प्राणिकेन्द्र में प्रवर्तित है। किसी विटप को देखें। उसका बीज जब अंकुरित होता है तब बीज में निहित प्राणकेन्द्र जाग्रत् या स्पन्दित हो जाता है और वह स्पन्दन या मन्थन पृथिवी में व्याप्त रसों को अपने भीतर खींचता है। उसी अन्न से विटप का संवर्धन होता है।

१६. अग्नित्रयी, और सोम

स्पन्दन करने वाला प्राण अग्नि है और उसके चारों ओर भरा हुआ रस या जल तत्त्व आपोलोक है। समंचन और प्रसारणशील प्राण या अग्नि का संस्थान ही त्रयीविद्या का रूप है। इसी को पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक कहा जाता है एवं इसके चारों ओर व्याप्त शक्ति का समुद्र चौथा आपोलोक है। उसी से द्यावापृथिवी रूप रोदसी का स्वरूप बनता रहता है। गर्भस्थ शिशु स्पन्दनशील प्राण या जागरणशील अग्नि का रूप है। वह माता के रसों से पुष्ट होता है। रस ही उसके लिये अन्न या सोम है। इस प्रकार अग्नि के तीन लोक हैं और चौथा सोम का लोक है। अग्नि के तीन लोक ही त्रिक संस्थान या त्रयीविद्या है।

१७. मूर्ति, गति, मण्डल और त्रयीविद्या

इनमें बीच का केन्द्र यजुर्वेद है। उस केन्द्र से ही विकसित होने वाला व्यास या विष्कम्भ ऋग्वेद है। व्यास की तिगुनी परिधि होती है। तीन ऋचाओं से साम बनता है (**तृचं साम**)। परिधि या मण्डल साम है। व्यास जितना बड़ा होगा उसी अनुपात से मण्डल का आयतन बनता है। व्यास और परिधि से बना हुआ आयतन एक छन्दमात्र है। वह एक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आकार है। उस पात्र में जो रस भरा जाता है वही वास्तविक पदार्थ है। छन्द अर्थात् विष्कम्भ और मण्डल को वयोनाध कहते हैं। जो वय या रस पदार्थ उस छन्द या वयोनाध में छन्दित, सीमित या नद्ध हो जाता है वही भूतसमन्वित प्राण तत्त्व है जिसे 'वयः' भी कहा जाता है। वही 'यजुः' है। वस्तुतः यजुः ही वह तत्त्व है जो अव्यक्त केन्द्र में पहले प्रसुप्त रहता है और फिर गतिशील बन जाता है। इस स्वरूप को ध्यान में रखकर ऋक्-यजुः-साम की निम्नलिखित व्याख्या की गई है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥

(तैत्तिरीय ब्राह्मण)

ऋक्तत्व से मूर्ति या पिण्ड के विस्तार का निर्म्माण होता है। गतितत्त्व यजु है। तेज या मंडल साम है। इन तीनों के सम्मिलित रूप वेदत्रयी से **'इदं सर्वम्'** या विश्व की सृष्टि होती है। इसमें ऋक्-साम क्रमशः व्यास और परिधि हैं। उस आयतन का निर्म्माण करनेवाला अर्थात् केन्द्र को वृत्तरूप में विकसित करने वाला गतितत्त्व है, वही यजु है। ऋषियों ने यजु को संकेत भाषा में गति और स्थिति का प्रतीक माना है। उसका यत् भाग वायु या गति का संकेत है, एवं जू भाग आकाश या स्थिति का सूचक है। आकाश सर्वत्र व्यापक है, वह अखण्ड स्थिति तत्त्व है। उसी आकाश के गर्भ में सब गतियाँ सम्भव होती हैं जिनका प्रतीक वायु है। अतएव यत्—जू कहें, या वायु—आकाश कहें, या गति-स्थिति कहें, वैज्ञानिक तथ्य एक ही रहता है। जिस केन्द्र बिन्दु में लम्बाई,चौड़ाई-मोटाई नहीं है, उसमें व्यक्त आकाश की कोई कल्पना नहीं है, वह तो अव्यक्त अमूर्त सत्तामात्र है। उसमें काल के सम्पर्क से गति एवं दिग्देश का आविर्भाव होता है। गतितत्त्व एवं उसके सहकारी आगति तत्त्व के छन्दोमय रूप को ही वायु या याजुषपुरुष कहा गया है। ऋक्साम तो याजुषपुरुष के विस्तार

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के लिये आयतन मात्र प्रस्तुत करते हैं। पुरुष वही है जो पुर में निवास करता है (**पुरि शेते इति पुरिशयः, तं पुरिशयं सन्तं पुरुष इत्याचक्षते परोक्षेण**)। ऋक्साम या व्यास और परिधि अथवा विष्कम्भ-परिणाह से जो आयतन बनता है वही पुर है। यजुस्तत्त्व या याजुषपुरुष उसका केन्द्र है। उसके अन्तराल में जिस प्राण तत्त्व का संचरण होता है वही शक्ति का एकांश अग्नि या याजुष कहलाता है। प्रत्येक प्राणवन्त केन्द्र में यह याजुषाग्नि दहक रही है। सूर्य इस याजुष पुरुष या गति-स्थिति के स्पन्दन का सबसे स्फुट रूप है। उसमें ऋक्-यजुसाम का समन्वित संस्थान क्रियाशील है। यही गतित्व सूर्य्य का जीवन है। सूर्य्य के लिए कहा जाता है कि उसमें जो हिरण्यमय पुरुष या तेज है वह साक्षात् त्रयी विद्या का रूप है। यह सूर्य तो एक प्रतीक है। इसकी अक्षपरम्परा में अनन्त सूर्य पिरोए हुए हैं। प्रत्येक अपने-अपने ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। उसी अक्षछिद्र से शक्ति का स्रोत प्रत्येक मण्डल या ब्रह्माण्ड में उत्तरोत्तर के महामहिमा स्रोत से क्षरित होता हुआ प्रवाहित हो रहा है। प्रत्येक सौर मण्डल के गर्भ में जितने पदार्थ हैं सब का सुषिरात्मक आकाश सूर्य के केन्द्रवर्ती आकाश से मिला हुआ है। गति-स्थिति का नियामक सूत्र सब में ओतप्रोत रहता है। प्राण का यह दुधर्ष स्पन्दन ही सूर्य के देवरथ का संचरण है। रथ की गति उसके चक्र की परिधि या नेमि में अभिव्यक्त होती है। चक्रनेमि उसे अपने विष्कम्भ या व्यास से प्राप्त करती है। जितना व्यास का विस्तार है उतना ही नेमि का परिभ्रमण होता है। चक्र के व्यास की स्फुट गति का स्रोत उसके अक्ष-परिभ्रमण पर निर्भर है। अक्ष का परिभ्रमण तभी सम्भव है जब अक्ष बिन्दु में सुषिरात्मक आकाश हो। यह सुषिर भाग ही खं ब्रह्म है। इसका स्रोत नम्य प्रजापति या अव्यक्त अनिरुक्त प्रजापति है जिसे पूर्व में 'क' या कं ब्रह्म कहा गया है। अन्ततोगत्वा समस्त गति या प्राणात्मक कम्पन स्पन्दन का स्रोत कोई अखण्ड, ध्रुव स्थिति-बिन्दु है। वही प्रत्येक गति का हृदय है। वही याजुष पुरुष, चाक्षुष पुरुष, अखण्ड पुरुष,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मध्यस्थ वामन पुरुष, नभ्य ऐन्द्र प्राण या आग्नेय पुरुष दुर्धर्ष गति के रूप में प्रकट हो रहा है।

१८. सृष्टि का मूल तत्त्व अग्नि या अग्रि

सृष्टि का मूलकरण या उपक्रम उसी अग्रि तत्त्व या गति तत्त्व से उद्भूत होता है। प्राणन क्रिया ही सृष्टि है। प्राणन ही गति है। सृष्टि के प्रारम्भ में में अभिव्यक्त होने के कारण इसे अग्रि' (यदग्रे आस) कहा जाता है। वही परोक्ष भाषा में 'अग्नि' है। अग्नि शब्द की कई व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में मिलती हैं। उनमें से एक यह भी है। विभिन्न दृष्टिकोणों से वे सभी संगत हैं। अर्वाचीन व्युत्पत्ति शास्त्र या शब्द निरुक्ति की कसौटी इस प्रकार के प्रयत्नों को संदेह की दृष्टि से देखती है, किन्तु सृष्टि विज्ञान के तत्त्वात्मक अर्थों की दृष्टि से उनमें भारी सार है। यही उनकी चरितार्थता भी है। दर्शनार्थक इदन्द्र से भी इन्द्र, एवं इन्धनार्थक इन्ध से भी इन्द्र, दोनों व्युत्पत्तियां अर्थदृष्ट्या समीचीन हैं। इसे परोक्ष निर्वचन शैली कहा जाता है, जिसकी संगति ध्वनिमूलक न होकर अर्थमूलक थी। अतएव सृष्टि के अग्रिम गति तत्त्व को अग्रि और उसे ही प्रतीक भाषा में अग्नि कहा गया है।

१९. अभीद्ध तप या ऊष्मा

सृष्टि का विकास अभीद्ध तप से माना जाता है। उसे ही अर्वाचीन वैज्ञानिक भाषा में महान् उष्मा कहते हैं। किसी अज्ञात कारण से सर्व प्रथम एक अतिशय तापधर्म्मी ऊष्मा का जन्म होता है। उसी के अनेक खण्ड सूर्य आदि कोटि-कोटि नक्षत्रों के रूप में आकाश देश या ब्रह्माण्ड में बिखर गए हैं। उन्हें ही वैदिक प्रतीक-भाष में अंगारे कहा गया है। ये अंगारे अंगिरा अग्नि के रूप हैं। अग्नि ही अंगिरा ऋषि है—

त्वमग्ने प्रथमो अंगिरा ऋषिर्
देवो देवानामभवः शिवः सखा।
(ऋ० १।३१।१, यजु० ३४।१२)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऋषि का तात्पर्य उसी मौलिक अविभक्त प्राण से है जिसे पूर्व में असत् कहा गया है। वही आद्य अंगिरा ऋषि है जिससे यह सृष्टि होती है। अंगिरा ही अग्नि है। मूलभूत किसी दुर्धर्ष अग्नि के अनन्त अंगारे या विस्फुलिंग आकाश में छा गए हैं, जिन्हें हम विभिन्न तैजस नाक्षत्रिक रूपों में प्रकट देख रहे हैं। महाभारत में स्पष्ट ही अग्नि को मूलभूत ताप या ऊष्मा कहा गया है—

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्॥

(आरण्यक पर्व ३४)

सृष्टि के आरम्भ में मूलभूत एक ऊष्मा थी। उसी से अनन्त ऊष्माओं की शृंखला उत्पन्न हुई। ऊष्मा का वह सूत्र सर्वत्र भूतों में पिरोया हुआ है। उसे ही अग्नि कहते हैं। वही जब प्राजापत्य या प्रजनन कर्म्म में लक्षित होता है तब उसे मनु कहते हैं। मौलिक शक्ति और जीवनी प्राणशक्ति दोनों अग्नि के रूप हैं। एक एवाग्निर्बहुधा समृद्धः—एक ही मूलभूत अग्नि को बहुत से रूपों में समिद्ध या प्रदीप्त देखा जाता है। जिसे भौतिक धरातल पर केवल ऊष्मा या ताप कहा जाता है, वही शक्ति प्रजनन कर्म्म में प्रवृत्त होने पर मनु संज्ञा से अभिहित होती है। यह शक्ति की विश्वव्यापिनी अभिन्नता और एकता की स्वीकृति है। परमाणु की कुक्षि में ऋण-धनात्मक स्पन्दन, तृणवनस्पति में रसात्मक संधमन, एवं कीटपतंग मानवादि प्राणियों में श्वास-प्रश्वासात्मक प्राणन-अपानन प्रक्रिया में धरातल का भेद है, मूल शक्ति एक है। वही मर्त्य भूतों में समाया हुआ अमृत देव तत्त्व अग्नि है। जितनी रोचना या ज्योतियाँ हैं अग्नि उसमें उत्तम है (अग्निर्भवन्नुत्तमो रोचनानाम्, ऋ० ३।५।१०)। सब ज्योतियाँ अग्नि के रूप हैं। अव्यय-अक्षर-क्षर तीन ही तो ज्योतियाँ हैं। तीनों अग्नि के ही रूप हैं। अव्यय मन है। अक्षर प्राण है। भूत क्षर है। पंच-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भूतों को वैदिक भाषा में वाक् भी करते हैं। क्योंकि पंचभूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है, और आकाश का गुण शब्द है, अतएव शब्द या वाक् को सब भूतों का प्रतीक मान लिया जाता है। मन-प्राण-वाक् ये ही तीन ज्योतियाँ हैं।

२०. तीन सृष्टियाँ

इन तीनों से तीन प्रकार की सृष्टि होती है। केवल वाक् से मिट्टी पत्थर आदि असंज्ञ भौतिक क्षर सृष्टि है। वाक् और प्राण के सम्मिलन से अर्थात् पंचभूतात्मक क्षर पुरुष के साथ प्राण रूपी अक्षर पुरुष के संयोग से वृक्ष-वनस्पति आदि की अन्तःसंज्ञ सृष्टि होती है। इसे ही तैजस सृष्टि भी कहते हैं, क्योंकि तेज या ताप का अर्थ है विकास या प्राण का स्पन्दन जिससे वनस्पतियों में एक घटक कोष से दूसरे का विकास और वृद्धि होती है। तीसरी ससंज्ञ प्राणियों की सृष्टि है, जिसमें वाक् और प्राण के अतिरिक्त मन का भी विकास स्फुट हो जाता है। प्रज्ञा या मन ही संज्ञा या चेतना का हेतु है। इस रूप में प्राण तत्त्व प्रज्ञात्मक बन जाता है। इसे ही इन्द्र कहते हैं। प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा—यही इन्द्र का लक्षण है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मानव इसी ससंज्ञ प्राज्ञ सृष्टि के रूप हैं।

२१. त्रिक ही त्रयी विद्या है

क्षर-अक्षर-अव्यय, वाक् (या भूत)-प्राण-मन, असंज्ञ-अन्तःसंज्ञ-ससंज्ञ, अग्नि-वायु-आदित्य (जिसका पर्याय इन्द्र भी हैं जैसा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी से प्रकट है), पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः, ऋक्-यजु-साम, विष्कम्भ-केन्द्र-परिणाह (व्यास-बिन्दु-मण्डल), वसु-रुद्र-आदित्य—इत्यादि अनेक त्रिकों से समन्वित प्राणात्मक स्पन्दन से युक्त संस्थान ही त्रयी विद्या है।

२२. दो अरणियों का मन्थन

त्रयी विद्या अग्नि का रूप है। स्थिति के धरातल पर गति-आगति रूप स्पन्दन यही तत्त्व या शक्ति का यथार्थ रूप है। गति-आगति को ही

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एति च-प्रेति च कहा जाता है। धन विद्युत् की धारा केन्द्र से परिधि तक जाती है और ऋण विद्युत् के रूप में परिधि से केन्द्र तक लौट आती है। यही प्राणन-अपानन क्रिया दो अरणियों का मन्थन है। अग्नि अरणि-मन्थन से ही उत्पन्न होता है (**अरण्यो र्निहितो जातवेदा, ऋक् ३।८।२**)। अरणि-मन्थन का अर्थ है ऋण-धन बलों की पारस्परिक टक्कर, या प्राण-अपान रूप दो शिलाओं का पारस्परिक घर्षण जो मध्यस्थित व्यान प्राण के आधार पर होता है। अतएव व्यान को अश्माखण प्राण कहा जाता है। इसे ही ध्रौव विद्युत् या अविचाली आकर्षण बल कहेंगे। इसी पर एक ओर से सौर विद्युत् और दूसरी ओर से सौम्य विद्युत् (गर्म और ठंडी) शक्ति धाराएँ टकराती रहती हैं। यही प्राणापान का स्पन्दन या जीवन है। इसका मूल याजुष गतितत्त्व है :—

अग्निर्यजुर्मुख्यतमः स वेदस्तमाश्रयेते अपि साम ऋक् च।

(पं० मधुसूदन ओझा कृत जगद्गुरुवैभव, पृ० ४०)

२३. ऋक्-साम का छन्द और छन्दित यजु

यजुस्तत्व मुख्य है, वह केन्द्र या नभ्य, ध्रौव प्राण है। ऋक् साम उसके आयतन मात्र हैं जो अपने विस्तार-विकास के लिये उसी मुख्य प्राण का आश्रय लेते हैं। किसी वृक्ष का व्यास और मण्डल कितना बढ़ेगा, यह उसके हृद्देशीय मुख्य प्राण की स्पन्दन-शक्ति पर निर्भर है। यही प्रत्येक प्राणी के जीवन का नियम है। ऋक्-साम केवल छन्द हैं। उनसे छन्दित तत्त्व यजु है। सृष्टि का मूल निमित्त कारण यही छन्दित प्राण है जिसे देवतत्त्व भी कहते हैं। यही अग्नि है—**अग्निः सर्वाः देवताः**। बृहद्देवता के अनुसार अग्नि **'अग्रज तप'** है (बृ० दे० २।५२)। वह महत् है। वही इस ब्रह्माण्ड का नित्य होता (ऋ० २०।९।४) या प्रत्न ऋषि (ऋ० २०। ७।५) है। जहाँ अध्वर या यज्ञ का वितान है अग्नि निश्चय रूपेण वहाँ विद्यमान है। यह अग्नि अपने मूल रूप से श्वेत है, जब महिमाभाव या

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भूतों को वैदिक भाषा में वाक् भी करते हैं। क्योंकि पंचभूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है, और आकाश का गुण शब्द है, अतएव शब्द या वाक् को सब भूतों का प्रतीक मान लिया जाता है। मन-प्राण-वाक् ये ही तीन ज्योतियाँ हैं।

२०. तीन सृष्टियाँ

इन तीनों से तीन प्रकार की सृष्टि होती है। केवल वाक् से मिट्टी पत्थर आदि असंज्ञ भौतिक क्षर सृष्टि है। वाक् और प्राण के सम्मिलन से अर्थात् पंचभूतात्मक क्षर पुरुष के साथ प्राण रूपी अक्षर पुरुष के संयोग से वृक्ष-वनस्पति आदि की अन्तःसंज्ञ सृष्टि होती है। इसे ही तैजस सृष्टि भी कहते हैं, क्योंकि तेज या ताप का अर्थ है विकास या प्राण का स्पन्दन जिससे वनस्पतियों में एक घटक कोष से दूसरे का विकास और वृद्धि होती है। तीसरी ससंज्ञ प्राणियों की सृष्टि है, जिसमें वाक् और प्राण के अतिरिक्त मन का भी विकास स्फुट हो जाता है। प्रज्ञा या मन ही संज्ञा या चेतना का हेतु है। इस रूप में प्राण तत्त्व प्रज्ञात्मक बन जाता है। इसे ही इन्द्र कहते हैं। प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा—यही इन्द्र का लक्षण है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी, मानव इसी ससंज्ञ प्राज्ञ सृष्टि के रूप हैं।

२१. त्रिक ही त्रयी विद्या है

क्षर-अक्षर-अव्यय, वाक् (या भूत)-प्राण-मन, असंज्ञ-अन्तःसंज्ञ-ससंज्ञ, अग्नि-वायु-आदित्य (जिसका पर्याय इन्द्र भी हैं जैसा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी से प्रकट है), पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः, ऋक्-यजु-साम, विष्कम्भ-केन्द्र-परिणाह (व्यास-बिन्दु-मण्डल), वसु-रुद्र-आदित्य—इत्यादि अनेक त्रिकों से समन्वित प्राणात्मक स्पन्दन से युक्त संस्थान ही त्रयी विद्या है।

२२. दो अरणियों का मन्थन

त्रयी विद्या अग्नि का रूप है। स्थिति के धरातल पर गति-आगति रूप स्पन्दन यही तत्त्व या शक्ति का यथार्थ रूप है। गति-आगति को ही

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

एति च-प्रेति च कहा जाता है। धन विद्युत् की धारा केन्द्र से परिधि तक जाती है और ऋण विद्युत् के रूप में परिधि से केन्द्र तक लौट आती है। यही प्राणन-अपानन क्रिया दो अरणियों का मन्थन है। अग्नि अरणि-मन्थन से ही उत्पन्न होता है (**अरण्यो र्निहितो जातवेदा, ऋक् ३।८।२**)। अरणि-मन्थन का अर्थ है ऋण-धन बलों की पारस्परिक टक्कर, या प्राण-अपान रूप दो शिलाओं का पारस्परिक घर्षण जो मध्यस्थित व्यान प्राण के आधार पर होता है। अतएव व्यान को अश्माखण प्राण कहा जाता है। इसे ही ध्रौव विद्युत् या अविचाली आकर्षण बल कहेंगे। इसी पर एक ओर से सौर विद्युत् और दूसरी ओर से सौम्य विद्युत् (गर्म और ठंडी) शक्ति धाराएँ टकराती रहती हैं। यही प्राणापान का स्पन्दन या जीवन है। इसका मूल याजुष गतितत्त्व है :—

अग्निर्यजुर्मुख्यतमः स वेदस्तमाश्रयेते अपि साम ऋक् च।
(पं० मधुसूदन ओझा कृत जगद्गुरुवैभव, पृ० ४०)

२३. ऋक्-साम का छन्द और छन्दित यजु

यजुस्तत्व मुख्य है, वह केन्द्र या नभ्य, ध्रौव प्राण है। ऋक् साम उसके आयतन मात्र हैं जो अपने विस्तार-विकास के लिये उसी मुख्य प्राण का आश्रय लेते हैं। किसी वृक्ष का व्यास और मण्डल कितना बढ़ेगा, यह उसके हृद्देशीय मुख्य प्राण की स्पन्दन-शक्ति पर निर्भर है। यही प्रत्येक प्राणी के जीवन का नियम है। ऋक्-साम केवल छन्द हैं। उनसे छन्दित तत्त्व यजु है। सृष्टि का मूल निमित्त कारण यही छन्दित प्राण है जिसे देवतत्त्व भी कहते हैं। यही अग्नि है—**अग्निः सर्वाः देवताः**। बृहद्देवता के अनुसार अग्नि **'अग्रज तप' है (बृ० दे० २।५२)**। वह महत् है। वही इस ब्रह्माण्ड का नित्य होता (ऋ० २०।६।४) या प्रत्न ऋषि (ऋ० २०। ७।५) है। जहाँ अध्वर या यज्ञ का वितान है अग्नि निश्चय रूपेण वहाँ विद्यमान है। यह अग्नि अपने मूल रूप से श्वेत है, जब महिमाभाव या

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विश्वसृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होता है तब अरुण या रक्त वर्ण हो जाता है (**श्वेतं जज्ञानमरुषं महित्वा,** ऋ० ३।२।४)। यही नियम सब नक्षत्रों की जन्मकुण्डली है। एक-एक चिनगारी के चमकने और बुझने में यही सहज नियम परिलक्षित हो रहा है।

२४. सूर्य त्रयी विद्या का प्रतीक है

अग्नि मूर्तिमती त्रयीविद्यां है। ऋक्-यजु-साम का त्रिकारात्मक संस्थान अग्नि का सम्पूर्ण रूप है। अग्नि का ही विशिष्ट प्रतिनिधि सूर्य है। इस सौर ब्रह्माण्ड में सूर्य ही प्रतिष्ठा और केन्द्र है। सूर्य के लिये कहा गया है—

सैषा त्रयी विद्या तपति।

त्रयी विद्या के साक्षात् दर्शन करना चाहें तो सूर्य उसकी स्फुट मूर्ति है। उसका अभिप्राय यही है कि त्रिकात्मक स्पन्दन या घर्षण से उत्पन्न जो ताप, ऊष्मा या प्राण विश्व में व्याप्त है उसका सबसे बलिष्ट ओजिष्ट मंहिष्ठ रूप सूर्य है। निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च—मर्त्यं भूत और अमृत प्राण तत्व को देशकाल में निविष्ट करता हुआ सूर्य का हिरण्यमय देवरथ संतत गतिशील है (ऋ० १।३५।२)। उसी की संज्ञा व्यक्त कालात्मक संवत्सर है। केन्द्र-व्यास-परिधि के अर्बुद-खर्बुद उदाहरण हैं, एक-एक परमाणु में यही संस्थान व्याप्त है, किन्तु इस सौर मण्डल में उसका सबसे विशिष्ट रूप सूर्य ही है। सूर्य की रश्मियों में जो गति तत्त्व या तरंगात्मक कम्पन है उसे ही सहस्र गौओं का ब्रह्माण्डव्यापी विचरण कहा जाता है। सूर्य रश्मियाँ आती हैं, पर सीधे 'ऊर्ध्वं स्थिति' या विजडित आकार में नहीं। वे क्रीड़ा करती हुई, आगे बढ़ती और पीछे हटती हुई, दाएँ-बाएँ झूमती हुई आती हैं।

क्रीडन्नो रश्म आभुवः।

२५. ऋत-सत्य

ऊपर जिस त्रयी विद्या का उल्लेख हुआ है वह सृष्टि की आंगिरसी धारा है। यह आग्नेय प्राण तत्त्व है। जिसमें केन्द्र हो वह प्राण का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आग्नेय रूप है। जिसमें केन्द्र का विकास न हुआ हो वह ऋतात्मा सौम्य रूप होता है। केन्द्र का ही नाम सत्य या हृदय है। स-हृदय स-शरीर तत्त्व सत्य कहा जाता है। अ-हृदय स-शरीर तत्त्व ऋत कहा जाता है। हिमरूप में घनीभूत जल सत्य का रूप है। सत्य का एक देश पकड़ कर खींचा जाय तो सम्पूर्ण पदार्थ खिंच आयगा। जल ऋत है उसका नियत केन्द्र नहीं है। उसे पकड़ना चाहें तो एक देश से उसका सम्पूर्ण शरीर आकृष्ट नहीं होगा। वृक्ष के भीतर का रस गति-आगति के आघात-प्रत्याघात से घनीभूत होता हुआ जब काष्ठ बन जाता है तब सत्यात्मक हो जाता है। इस दृष्टि से सूर्य की मूर्ति है। वह सत्यनारायण देव हैं। जितने पिण्ड हैं सब सत्य के रूप हैं। वस्तुतः जो अग्नि जल में व्याप्त है वह ऋताग्नि कहलाती है। जल में कम या अधिक जो कुछ तापमान है वह अग्नि का रूप है। जिसके कण बिखरे हुए हैं वह ऋताग्नि है। वे ही अग्नि-कण जब घनीभूत होकर एक केन्द्र में संचित हो जाते हैं तब ऋताग्नि सत्याग्नि में परिणत हो जाती है और अग्नि सत्ता का स्पष्ट भान होने लगता है। ऋताग्नि को प्रायः अग्नि कहते हैं, सत्याग्नि को इन्द्र शब्द से अभिहित किया जाता है (अहोरात्रवाद पृ० २६)। सूर्य और इन्द्र किन्हीं अर्थों में पर्यायवाची है। इन्द्र सूर्य का रूप है। त्रयी विद्या सत्य और आग्नेय है। उसका पूरक अथर्व ऋत और सौम्य है।

२६. सोम या भार्गवी धारा

अग्नि सत्य और सोम ऋत है। अग्नि और सोम के द्वन्द्व से ही सृष्टि का उद्भव और विकास सम्भव होता है। अग्नीसोमात्मकं जगत्—यही विश्व का स्वरूप है। यहाँ प्रत्येक भूतमय प्राणी को अग्नीसोमीय पशु कहा जाता है। अग्नि का अर्थ है अंगिरा अर्थात् विशकलन धर्म्मा तेजतत्त्व। सोम का अर्थ है भृगु अर्थात् समूहन धर्म्मा स्नेहतत्त्व। शुष्क तत्त्व आग्नेय और आर्द्र तत्त्व सौम्य है। अग्नि अन्नाद तत्त्व है, सोम अन्न तत्त्व है। अग्नि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का निजी स्वरूप कृष्ण है, सोम की आहुति से ही वह श्वेत या शुक्ल बनता है। यदि वृक्ष को जल या पोषणकारी पार्थिव तत्त्व न प्राप्त हो तो उसके भीतर की अग्नि उसे जलाकर कृष्ण कर डाले। किन्तु जब तक इसे सोम-रूपी जलीय पार्थिव पोषण प्राप्त होता रहता है तब तक उस अग्नि का प्राणात्मक स्पन्दन सकुशल बना रहता है। वही प्राण का शुभ्र रूप है।

२७. नीर का क्षीर में परिवर्तन ही सृष्टि

सोम मातृ तत्त्व है। अग्नि पितृ तत्त्व है। प्रत्येक बीज अग्नि का रूप है। जब तक आर्द्र सोम से उस बीज का सम्पर्क नहीं होता, सृष्टि का उपक्रम नहीं होता। बीजरूपी अग्नि से गर्भित होकर मातृधर्म्मा सोम सृष्टि करता है। इसे ही वैदिक कल्पना में यों कहा जाता है कि सोम जल है, अग्नि साक्षात् घृत है। जल का घृत रूप में परिवर्तन ही सृष्टि है। नीर का क्षीर भाव में आना ही सृष्टि है। जब तक मातृतत्त्व रेत से गर्भित नहीं होता तब तक दुग्ध का जन्म नहीं होता। दुग्ध के रोम-रोम में जो घृत के कण व्याप्त रहते हैं वे ही मन्थन से स्फुटरूप में आ जाते हैं। जल का कितना ही मन्थन किया जाय उसमें आज्य या घृत की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु वही सोमरूपजल जब मातृतत्त्व युक्त प्राणी के शरीर में प्रविष्ट होता है तब पितृशक्ति से गर्भित होकर क्षीर बन जाता है। भूत-समन्वित प्राण ही घृत तत्त्व है। कहा है—**अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्**। उस नीर का क्षीर भाव में आना ही प्रजनन या सृष्टि है। इस दृष्टि से समस्त प्रकृति एक विराट् धेनु है और प्रत्येक प्राणी उसके दोहन से टपकी हुई एक बूँद है (विराजो दोहोऽसि)।

२८. अग्निलोक-आपोलोक

जिसे अतत्व या आपोलोक कहते हैं उसके गर्भ में प्राण का समंचन-प्रसारण ही अग्निगर्भित सोम का रूप है। अग्नि तीन या त्रिकभाव का प्रतीक है। ऋक्-यजु-साम का जो स्वरूप पूर्व में कहा गया है वे ही अग्नि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के तीन लोक हैं। यह स्पन्दन शक्ति के जिस धरातल पर या जिस गर्भ में आरम्भ होता है उसे ही चौथा आपोलोक कहते हैं। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः रूपी आग्नेय संस्थान और चौथा आपोमण्डल या सोम लोक इनके पारस्परिक मिलन से ही सृष्टि होती है। मातृकुक्षि में किसी गर्भित घटककोश की कल्पना कीजिए। वही जन्म लेनेवाले शिशु का आरम्भण है। उस कोश में अग्नि या स्पन्दनात्मक प्राण जाग्रत् हो जाता है और अपने चारों ओर के जलीय पोषणात्मक तत्त्वों को अन्न रूप में ग्रहण करके बढ़ने लगता है। एक कोश से दो कोश और दो से तीन, यों क्रमशः संवर्धन होते हुए गर्भस्थ शिशु के शरीर का पूरा विकास हो जाता है। प्रत्येक घटक कोश (अं० सैल) भूत समन्वित प्राण का रूप है। जिसके चारों ओर आपोलोक या जल का आवरण वा मण्डल या परिधान है। एक-एक कोश अग्नि का मूर्त कण है। अग्नि को साक्षात् घृत का रूप कहा जाय तो प्रत्येक कोष उस घृत का सूक्ष्मतम बिन्दु है, जिसे वैदिकभाषा में 'पृषत्' कहा जाता है। महान् आपोमय समुद्र या शक्ति की साम्यावस्था के धरातल पर आग्नेय तत्त्वों का प्रकट होना विश्व की आरम्भिक घर्षण क्रिया का परिणाम है। घर्षण या मन्थन एक प्रकार का बल है। शान्त रस के धरातल पर क्षोभात्मक बल का प्रकट होना ही सृष्टि है। बल को वैदिक भाषा में 'सहस्' भी कहते हैं। अग्नि **सहसः सूनुः** या बल से जन्म लेता है। जब अग्नि का जन्म होगा वह बल या घर्षण का परिणाम होगा। प्रत्यक्ष भी हम देखते हैं कि अग्नि अरणि मन्थन से जन्म लेता है। अग्नि कणों का संचय ही शक्ति का अभिव्यक्त रूप है। इसे कई प्रकार से कहते हैं :—

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्
(ऋ० १०।९०।८)

२९. आज्य पृषत् की व्याख्या

आज्य की पृषत् या फुहार जैसी छोटी-छोटी बूँदों के एकत्र हो जाने से ही शक्ति का स्फुलिंग या महान् तेजोमण्डल बन जाता है। वही बढ़ते-

१७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

बढ़ते अभीद्ध तप या सौर केन्द्र जैसे प्रचण्ड ताप-संस्थानों के रूप में प्रकट होता है। गति-आगति का क्षोभ कहें, या त्रयी विद्या का तप कहें, या पृप्रदाज्य का संभरण कहें, या विद्युत् शक्ति की सूक्ष्मतम मात्राओं का एक केन्द्र में संपुञ्जन कहें, या यज्ञीय भाषा में अग्निचयन अथवा उखासंभरण कहें—सृष्टिविद्या का एक ही तथ्य परिगृहीत किया जाता है। जहाँ कहीं प्राणमयी सृष्टि होगी वहीं शक्ति के महान् समुद्र के भीतर किसी एक बिन्दु पर प्राणात्मक स्पन्दन की इस प्रक्रिया की दुर्धर्ष सत्ता का प्रकट होना अनिवार्य है। इसे ही कहते हैं—**अप्सु संक्लिश्य प्राविध्यत्**, अर्थात् आपोलोक या आपोमण्डल को संक्लिष्ट या पीड़ित करके अग्नितत्त्व उसके भीतर प्रविष्ट हो जाता है और वहीं से त्रयीविद्या या ऋक्-यजु-साम, या व्यास-केन्द्र-परिधि के रूप में स्पन्दन करता हुआ सत्यात्मक सृष्टि का विकास करता है। विराट् ब्रह्माण्ड में सूर्य जैसे तेज पिण्ड की रचना, गर्भ में शिशु की वृद्धि, अंकुर से वृक्ष-वनस्पति का विकास, सबका मूलभूत नियम एक ही है।

३०. भृगु-अंगिरा रूप दो बल

प्रतीक भाषा में ऋक्-युज-साम या त्रयीविद्या अग्नि है, एवं चौथा अथर्ववेद सोम या आपोलोक कहा जाता है। स्वयम्भू तत्त्व अग्नि है और अथर्वासंज्ञक परमेष्ठी जल है। परमेष्ठी ही अथर्वा है। जो स्वयम्भू के बाद होता है उसे 'अथ अर्वाक्' इस व्युत्पत्ति या परोक्ष संकेत द्वारा अथर्वा कहा जाता है। अग्नि और सोम में विशिष्टता का पतिपादन दृष्टि का तारतम्य है। वस्तुतः अग्नि गति और सोम आगति है। अग्नि प्रसारण और सोम आकुंचन है। दोनों का समुदित नाम प्रजापति है। दोनों अविनाभूत हैं। ये एक ही अव्यक्त शक्ति के दो व्यक्त भाव है। जल या आपः ही प्राथमिक शक्ति या 'आरम्भण' या सृष्टि का उपादान है। उस आपः में अग्नि और सोम दोनों का अस्तित्व अवश्य है। 'आपः' को सृष्टि का विश्वव्यापी कारण

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

माना जाय, जैसा कि 'यद् आप्नोत् तस्माद् आपः' इस व्युत्पत्ति से संकेत किया जाता है तो उस महत् आपः (विश्वव्यापी शक्ति) में अग्नि और सोम दोनों की ही सत्ता माननी होगी। वह महत् एकरसात्मक तत्त्व है। उसी में दोनों प्रकार के बल हैं। दर्शन में उन्हें नाम-रूप कहते हैं। ब्राह्मणों में उन्हें दो महत् अभ्व या यक्ष कहा है, वैदिक भाषा में भृगु-अंगिरा कहते हैं। अर्वाचीन विज्ञान की युक्ति का आश्रय लेना चाहे तो उन्हें ही विद्युत्चुम्बकीय बल और आकर्षण बल (इलैक्ट्रोमैगनेटिक फोर्स तथा ग्रैविटेशनल फोर्स) कह सकते हैं। विशकलन और स्नेहन, विकर्षण और आकर्षण ये उनके मौलिक धर्म हैं। इसी द्विविरुद्ध भाव का उदय सृष्टि का मूल हेतु है। वैदिक परिभाषा के अनुसार यह सृष्टि भार्गवी और आंगिरसी धाराओं के परस्पर सम्मिलन से उत्पन्न होती है। मूलभूत आपः तत्त्व या परमेष्ठी में ही दोनों धर्म्म उत्पन्न हो जाते हैं :—

आपो भृग्वगिंरोरूपमापो भृग्वगिंरोमयम् ।
अन्तरेते त्रयो वेदा भृगूनगिंरसः श्रिताः ॥

गोपथ पूर्व भाग १।२६।

भृगु और अंगिरा—स्नेह और तेज—दोनों जिस मूलभूत अप्तत्व में व्याप्त रहते हैं वह आरम्भक प्राकृतिक भौतिक शक्ति तत्त्व (प्राइमार्डिअल मैटर) है। उसकी साम्यावस्था (स्टेट आव इक्वीलिब्रियम) को क्षुभित करने वाला स्पन्दनात्मक संस्थान ही त्रयीविद्या या मूलभूत वेदतत्त्व है। इसी के लिये कहा गया है कि भृगु-अंगिरा के भीतर तीनों वेद प्रविष्ट होकर मन्थन करने लगते हैं। वेदत्रयी (ऋक्-यजु-साम) ही अग्नित्रयी है। यही व्यास-परिधि-केन्द्र का रूप है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है शक्ति का केन्द्र से परिधि की ओर, और परिधि से केन्द्र की ओर तरंगित होना ही त्रयी संस्थान है। इसी त्रयी के स्पन्दन से सब मूर्तियाँ या पिण्ड या भूत-भौतिक पदार्थ बनते हैं। यदि त्रयी का स्पन्दन न हो तो शक्ति भूतरूप में विप-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रिणमित नहीं हो सकती। अतएव वैदिक परिभाषाओं की दृष्टि से त्रयीविद्या, अग्नि त्रेता, तीन लोक, तीन देवता, तीन वेद, इनका मौलिक महत्त्व है। एक परमाणु की रचना भी त्रिक या त्रिकेन्द्रक चक्र के बिना सम्भव नहीं।

३१. देव और भूत एवं वैश्वानर

इस सृष्टि में देव और भूत दो ही तत्त्व हैं। प्राण या शक्ति देव है। प्राकृतिक पदार्थ भूत है। देव अदृश्य सूक्ष्म और भूत दृश्य स्थूल होते हैं। देवों का वाहन मन और भूतों का वाहन शरीर है। देवों का भूतरूप में आना और भूतों का देवरूप में परिणत होना ही यज्ञ है। प्राण (या अग्नि) इस यज्ञ का विधान कर्ता है। प्राणन क्रिया या अग्नि के जागरण से बाहर के भूत या अन्न की प्राण में आहुति होती है। प्राण या देव अन्नाहुति को लेकर विशकलित करते हैं। उससे प्राण या शक्ति का संवर्धन होता है और वह प्राण पुनः भूतभाग की रचना करता है। मानव के शरीर में और वृक्ष-वनस्पति के अभ्यन्तर में यही यज्ञीय प्रक्रिया अहर्निश होती रहती है। अन्न-अन्नाद सम्बन्ध ही जीवन है। वृक्ष के भीतर जो प्राणात्मक स्पन्दन सक्रिय है वह एक वर्ष में जितना भूतभाग परिगृहीत करता है वही उसकी वार्षिक यज्ञसृष्टि है। वह अग्नि द्वारा परिगृहीत सोम है। अग्नि सोम रूप में आता है और सोम अग्नि बनता है। काष्ठ सोम या अन्न है। उसी से अग्नि देव, प्राण या शक्ति का जन्म होता है। समस्त विश्व देव और भूत, अन्नाद और अन्न की पारस्परिक भावना पर निर्भर है। संघर्ष द्वारा जब देव तत्त्व भूतों को अपने स्वरूप में लाता है उसे ही यजन कहते हैं। अग्नि या प्राणतत्त्व जिस प्रकार भूतों को अपने स्वरूप में परिणत कर सके वही यजन का स्वरूप है। जहाँ यजन है वहाँ देवतत्त्व की सत्ता है। प्रत्येक यज्ञ का देवता अग्नि है। अग्नि ही देवों का मुख है। **अग्निः वै सर्वा देवताः** अर्थात् जितने देव हैं सब एक अग्नि या प्राण के ही विशिष्ट रूप हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अग्नि वायु आदित्य ये तीन देवता कहे जाते हैं, पर ये तीनों अग्नि की ही तीन अवस्थाएँ हैं। शरीरस्थ अग्नि जिस अन्न का परिपाक करती है उससे ही स्थूल देह, प्राणशक्ति और मन तीनों का निर्माण होता है। उसी का तरल रूप प्राण या वायु है। उसी का विरल रूप मन या आदित्य है। एक कोश के भीतर जैसे दूसरा कोश समाविष्ट रहता है वैसे ही अग्नि-वायु-आदित्य ये तीनों शक्ति के रूप प्रत्येक प्राणि-केन्द्र में अनुस्यूत रहते हैं। इन्हें नर कहा जाता है। संचालक तत्त्व की संज्ञा नर है। ये ही तीन देव या प्राण या तीन अग्नियाँ हैं। पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ, ये इन तीन देवों की व्याप्ति के तीन लोक हैं। ये लोक ऊपर नीचे नहीं हैं, स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतम यही इनका तारतम्य है। स्थूल पृथिवी में जैसे ये तीनों हैं वैसे ही स्थूल सूर्य में भी तीनों हैं। प्रत्येक परमाणु या कोश में ये तीनों लोक और उनके संचालक तीनों नर या देव अवश्य रहते हैं।

३२. वैश्वानर अग्नि क्या है ?

इन लोकों के तीन संचालक या नियामक प्राण विश्व-नर कहे जाते हैं। इनके पृथक् रहने से कोई प्राणनक्रिया नहीं होती। प्रत्युत ये तीनों शक्तियाँ एक में मिलकर जिस नयी शक्ति को उत्पन्न करती हैं उसे वैश्वानर कहा जाता है। पुरुष के भीतर जो मन-प्राण-वाक् की समन्वित शक्ति कार्य कर रही है, वही वैश्वानर है—**अयमग्निर्वैश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पचयते (शतपथ १०।८।१०।१)**। इस शरीर में और ब्रह्माण्ड में, अध्यात्म और अधिदैवत में उभयत्र वैश्वानर की सत्ता है। दोनों जगह मन-प्राण-वाङ्मयी ओत-प्रोत सृष्टि है। द्यावापृथिवी में व्याप्त वैश्वानर-लक्षण प्राणाग्नि ही प्रत्येक संस्थान की यज्ञाग्नि है। सृष्टि की महान् उष्णता का एक स्वल्प अंश जो मानव शरीर में है, जिसे वैज्ञानिक भाषा में फारेनहाइट ताप कहते हैं, वैश्वानर अग्नि का ही रूप है। प्राण और अपान के परस्पर घर्षण से यह अग्नि उत्पन्न हुआ और निरन्तर प्रतिक्षण उत्पन्न होता रहता है :—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राणादपानाच्च मिथोऽनुघर्षाद्वैश्वानरोऽग्निर्भवतीह देही ।
(मधुसूदन ओझाकृत अहोरात्रवाद, पृ० २४)

शरीर के भीतर इस ताप की मर्यादा सामान्यतः दश अंश की है। ९७ अंश से कम ताप हो जाय तो शरीर नहीं रहेगा और १०७ अंश से अधिक हो जाय तो भी शरीर की श्रृंखला टूट जाती है। सृष्टिव्यापी ताप के इतने अंश से मानव मात्र जीवित है अर्थात् मानव-देह में प्राणाग्नि ध्रियमाण है। वैश्वानर की सत्ता यज्ञ है। घर्षणात्मक यजन से ही यह अग्नि जीवित रहती है। इसमें अग्नि द्वारा जिन देवों का आवाहन होता है और जो देव भूतों के आधार से यहाँ निवास करते हैं वे तैजस कहलाते हैं। वही तैजस अंश अपने भीतर जिस चेतना या प्रज्ञा का आधान करता है वह इन्द्र है। उसे ही प्रज्ञात्मक प्राण कहते हैं। उसी से देह में चैतन्य आता है। भूत-प्राण-प्रज्ञा इन तीनों को ही क्रमशः वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ आत्मा कहा जाता है। इन तीनों का त्रिवृत्भाव होता है, अर्थात् प्रत्येक में तीनों का अन्तर्भाव है। इस त्रिवृत्भाव के कारण ही मन-प्राण-वाक् की समष्टि बनती है।

३३. व्यान प्राण का ध्रुव विन्दु

प्राण और अपान का संघर्षण जिस ध्रुव आधार पर होता है वह तीसरा प्राण व्यान है। उसी के लिए कहा जाता है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥
कठ उप० ५।३

वह मध्यस्थ वामन ध्रुव स्थिति तत्त्व है जिसके आश्रय से शरीरस्थ अन्य सब देव या प्राण शक्तियाँ विधृत रहती हैं। उसे पर्वत, अद्रि या अश्माखण प्राण भी कहते हैं। वही जीवन का हेतु है :—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥
कठ उप० ५।५

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राण और अपान को व्यानरूपी सिल पर टकराने वाले दो लोढ़े कहा गया है। प्राणापान की इस घर्षण क्रिया को उपांश्वन्तर्याम कर्म्म भी कहा जाता है। वैश्वानर सब अग्नियों की नाभि या स्थूणा के समान है। ताप और दाह इसके धर्म्म हैं। इस शरीर में जो प्राण वायु सूर्य से और अपान वायु पृथिवी से आता है, वे दोनों रस एक में मिलकर शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि उत्पन्न करते हैं और सूत्रात्मा के बन्धन में बँधे हुए एक दूसरे से अलग नहीं होते।

३४. वैश्वानर अग्नि के तीन नियम

वैश्वानर अग्नि से संचालित शरीर की क्रिया को और स्पष्टता से समझना चाहें तो उसकी तुलना एक इंजिन यन्त्र से कर सकते है। इंजिन के तीन नियम काम करते हैं—पहला ज्वलन या समिन्धन (इग्नीशन) है जो तेल या कोयले को शक्ति में परिणत करता है। दूसरा दबाव और फैलाव का नियम (कम्प्रैशन-रेअरिफिकेशन) है। तीसरा अन्न-अन्नाद (एसीमिलेशन-एलीमिलेशन) का नियम है जिसका घनिष्ट सम्बन्ध मल-विक्षेपण (एग्ज्हास्ट) से है। ये तीनों आवश्यक नियम इस शरीर यंत्र में भी लागू हो रहे हैं। पहला वैश्वानर अग्नि का समन्धिन है। इसे ही याजुष अग्नि कहते हैं। दूसरा तत्त्व प्राण के समंचन-प्रसारण का नियम है। **प्राणो वै समंचनप्रसारणम्,** इस परिभाषा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। सिकुड़ना और फैलना, संकोच और प्रसार प्राण का यही स्पन्दन है जो शरीर के प्रत्येक घटककोश का धर्म्म है। हृदय द्वारा रुधिराभिसरण इसी नियम के अधीन है। प्राणापान का ऊर्ध्व-अधः व्यापार इसी कारण हो रहा है।

३५. ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य का नियम

तीसरा नियम यह है कि जो भी प्राण व्यापार होता है, वह स्वकेन्द्र को भूतों से पुष्ट करके कुछ मलभाग बाहर निकालता है। इंजिन की राख और

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मूर्च्छित भाप इसके उदाहरण हैं। शरीर के प्राणयन्त्र में से जहाँ भी स्पन्दन की क्रिया है कुछ न कुछ मलभाग अवश्य बाहर फेंका जाता है। प्रत्येक घटककोश में यह नियम लागू है। इसे वैदिक भाषा में ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य का नियम कहते हैं। वस्तु का अपना प्राण केन्द्र उसका ब्रह्म केन्द्र है। वह जिस भूत भाग को अपने स्वरूप की पुष्टि और संरक्षा के लिए ले लेता है वह उस प्राणाग्नि या ब्रह्म का अपना भोजन या ब्रह्मौदन कहलाता है। ऐसा करते हुए वह जिस मलभाग को बाहर छोड़ता है वह उसका प्रवृक्त, या फेंका हुआ प्रवर्ग्य कहलाता है। यह समस्त विश्व उस अनन्त ब्रह्म का प्रवर्ग्य ही है। किसी आदित्यवर्ण महान् पुरुष का यह विश्व एक अंश है। इसे ही वेद कहता है—द्रप्सश्चस्कन्द, अर्थात् किसी महतो महीयान् शक्ति समुद्र की एक बूँद टपक कर उससे अलग हो गई है। वही यह विश्व है जिसे वेदों में **'इदं सर्वम्'** कहा जाता है। जैसा वह शक्ति समुद्र सत्‌चित् आनन्द स्वरूपवाला है वैसी ही यह बूँद है। समुद्र की मात्रा अनन्त है। बूँद की मात्रा सीमित है। अनन्त भूमाभाव अमृत है, सान्त सीमाभाव मर्त्य है। पहला अनन्त महाकाल है, दूसरा सापेक्ष व्यक्त सम्वत्सरात्मक काल है।

३६. अन्न-अन्नाद नियम

प्राणाग्नि के केन्द्र में समंचन-प्रसारण या संकोच-प्रसार की प्रक्रिया जिस नियम के अनुशासन से प्रवृत्त रहती है उसे अन्न-अन्नाद का नियम कहते हैं। अग्नि अन्नाद और सोम उसका अन्न है। प्रत्येक प्राण-संयुक्त स्पन्दनात्मक केन्द्र में अन्न-अन्नाद के नियम की सत्ता ही जीवन है। अन्नाद अग्नि को जब तक अन्न न मिले वह रुद्र या घोर या प्रकुपित या बुभुक्षित रहता है। अन्न पाकर वह शिव, अघोर, शान्त और तृप्त बन जाता है। पुराणों में यही शिव का उमासहित रूप कहलाता है। अग्नि या प्राण का अन्न वही बन सकता है जो स्वयं किसी प्राणात्मक केन्द्र में रहकर उसका

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रवर्ग्य या त्यक्तभाग बन चुका है। कोई प्राणी ईंट–पत्थर खाकर जीवित नहीं रह सकता। प्राणात्मक संस्थान या शरीर का त्यक्त भाग ही अन्न बनता है, जैसे अन्तःसंज्ञ पौधों और वृक्षों से उत्पन्न अन्न और फल, एवं संसज्ञ पशुओं से उत्पन्न दुग्ध-घृत आदि अन्नाद प्राणाग्नि के अन्न हैं।

३७. काल के अन्न-अन्नादभाव

काल से जीर्ण या पक्व होकर अन्न या प्रवर्ग्य भाग अपने मूल केन्द्र से पृथक् होता है। काल सबको जीर्ण करने वाला सबका अन्नाद है। सब काल के अन्न हैं। काल ही मृत्यु है जो प्राणी के बलात्मक-ग्रन्थिबन्धन का अन्त कर डालता है। काल प्रतिक्षण प्राणी को जीर्ण करके अन्नाद बनता है। किन्तु प्राणी भी अन्नाद काल के ही अंश भूत एक-एक क्षण को पचाकर जीवित रहता है। एक क्षण की उपलब्धि के बाद दूसरा क्षण हमें प्राप्त न हो तो जीवन निःशेष हो जाय। इसीलिए कहा जाता है—अहमन्नम्, अहमन्नादः, मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ। जो विराट् काल मुझे खा रहा है, उस विराट् महाकाल के अंश को मैं भी खा रहा हूँ (अहमन्नमदन्तमद्मि)। इसी को दूसरे प्रकार से कहें तो काल अपने बाणों की वृष्टि करता हुआ उनसे हमें बींध रहा है और उनसे विद्ध होते रहने का नाम ही जीवन है।

लव निमेष परिमाण जुग कोटि कल्प शर चण्ड।
भजसि न मन तेहि रामु कहै काल जासु कोदण्ड॥

३८. काल-कोदण्ड

काल के ये अचूक बाण ब्रह्म-स्तम्ब पर्यन्त सर्वत्र निशाने पर बैठ रहे हैं। ये हमें प्राप्त न हों तो हम जीवित नहीं रह सकते। महाकाल सीधा धनुर्दण्ड है। वह तब तक कोई बाण नहीं चला सकता जब तक प्रत्यंचा चढ़ाने से वक्र न हो। वक्र धनुष ही बाण से बींधने की शक्ति प्राप्त करता है। वक्रीभूत काल ही सापेक्ष काल है जिसकी सर्वोत्कृष्ट इकाई सम्वत्सर है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पृथिवी के सूर्य के चारों ओर घूमने की पूरी अवधि ही एक सम्वत्सर है। क्रान्तिवृत का नाम सम्वत्सर है। उसे बिन्दु-बिन्दु पर वक्र होना पड़ता है। तभी पृथिवी की सौर परिक्रमा पूरी होती है। यह त्रिनाभिचक्र या अण्डाकार परिभ्रमण आकर्षण के नियम का परिणाम है। पृथिवी भूत है, सूर्य भी भूत है, दोनों भूत एक दूसरे के साथ जिस बल से बँधे हैं उस बल ग्रन्थि या बन्धन की संज्ञा रज या आकर्षण है। जितने लोक हैं सब रज हैं (इमे वै लोका रजांसि)। निकट से निकट और दूर से दूर स्थित कोई लोक ऐसा नहीं है जो रज या आकर्षण के अनुशासन में न हो।

३९. संख्यान और काल

रज या आकर्षण गतितत्त्व से प्रयुक्त होता है। इसका भी मूलाधार कोई स्थिति तत्त्व है जो अजन्मा है और जिसमें सब गतियों की समष्टि रहती है। वह अन्तिम स्थिति तत्त्व कालातीत अव्यय ब्रह्म कहा जाता है। काल क्या पदार्थ है? कल संख्याने से काल और कला की व्युत्पत्ति है। एक कालातीत तत्त्व में खण्ड या कला भाव की कल्पना नहीं है। वह निष्कल है। उसे भी एक कहते हैं, पर वह **एकमेवाद्वितीयम्** वाला एक है। वही गतितत्त्व से संयुक्त होकर अव्यक्त अक्षर काल का रूप लेता है। अक्षर काल ही जब एक-दो-तीन आदि कला या संख्याओं से युक्त होता है तब वह व्यक्त काल या क्षरकाल के रूपों में आता है। व्यक्त या क्षरकाल से दिक्-भाव, दिक्भाव से अपेक्षकृत अधिक स्थूलरूप में आने से देश भाव और देश के अन्तिम स्थूल रूप में परिणत होने से प्रदेश भाव का जन्म होता है। गणित की आकृतियों के रूप में इसे स्पष्टता से समझा जा सकता है। लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई या तीन मात्राओं से युक्त घनभाव प्रदेश है। उससे पूर्व केवल लम्बाई-चौड़ाई की अवस्था देशभाव है। उससे भी पूर्व केवल रेखा की अवस्था दिक्भाव है। प्राची, प्रतीची, उदीची, दक्षिणा एक-एक रेखा है, वह दिक् है। जब प्राची-प्रतीची और दक्षिणा-उदीची

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का स्वस्तिक बनता है तो वह देश की अवस्था है। उसी में ऊर्ध्व-अधः दिक् की तीसरी रेखा मिलने से प्रदेश-भाव की स्थिति होती है।

प्रदेश-देश-दिक् क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म होते हुए और अधिकतर सूक्ष्म भाव में लीन होते हैं। रेखा से पूर्व का एक व्यक्त बिन्दु है। वही व्यक्त-काल है। उसे क्षरकाल भी कहते हैं। व्यक्तभाव की संज्ञा ही क्षरभाव भूतभाव या बहुभाव है। व्यक्त बिन्दु से भी पूर्व की अवस्था अव्यक्त बिन्दु है जो अक्षर काल की अवस्था है। अक्षर काल गतितत्व की संज्ञा है। वह प्रधान या प्रकृति की अवस्था है। उस अव्यक्त काल से भी पूर्व की अवस्था कालातीत तत्त्व है। उसे गति नहीं, शुद्ध स्थिति कहते हैं। वही निष्कल महाकाल है। वही अक्षर से भी पूर्व का अव्यय काल है। वह प्रकृति नहीं, पुरुष रूप है। वह स्वयम्भू पुरुष महाकाल कहलाता है। वही अज है। उसी के रूप में रजोगुणात्मक अन्य सब गत्यात्मक अक्षर और क्षरकाल विकसित होते और जन्म एवं प्रलय को प्राप्त होते रहते हैं।

४०. अक्षर-क्षरकाल

वस्तुतः स्थिति और गति का सापेक्ष भाव ही सृष्टि है। स्थिति रसतत्त्व है। उसी के धरातल पर गत्यात्मक बल जन्म लेते हैं। उनमें महान् बल दो हैं काल और देश। काल ही मूर्तरूप में दिक् देश प्रदेश बनता है। कालातीत तत्त्व पुरुष है। कालात्मक रूप प्रकृति है। काल ही सबसे प्रथम छन्द है जिससे छन्दित होकर अनन्त अव्यक्त पुरुष सान्त सीमित रूप में आता है। कालातीत अव्यय मूल प्रतिष्ठा या निःस्पन्द स्थितिभाव है। उसके धरातल पर गतितत्त्व के उदय से अक्षर अव्यक्त काल का जन्म होता है। उस अव्यक्त अक्षर काल का ही स्थूल प्रवर्ग्य रूप क्षरव्यक्त काल कहलाता है, जिसका प्रत्यक्ष रूप ऋत सम्वत्सरात्मक काल है।

ऋतरूप से सर्वव्यापक काल को मूर्तरूप में आने के लिए किसी एक केन्द्र में अभिव्यक्त होना आवश्यक है। एक-एक पदार्थ काल की ही रचना

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। वही एक-एक बिन्दु काल का हृद्य आत्मरूप है। एक वृक्ष को लें। ऋतरूप में व्याप्त जो संम्वत्सरात्मक काल है वह अंकुरित होने वाले बीज के केन्द्र से परिगृहीत होकर ही विटप रूप में प्रतिवर्ष मूर्त होता जाता है। यही नियम समस्त प्राणि सृष्टि का है। जिस बिन्दु पर बीज उस ऋतात्मक व्यापक काल को परिगृहीत करता हुआ अपने स्वरूप में ढाल रहा है या उस काल की शक्ति से स्वयं किसी मूर्त स्वरूप में ढल रहा है, वह बिन्दु ही उसका हृदय या हृद्यात्मक रूप है। यही उस व्यक्त ऋतात्मा काल का छन्दोभाव या छन्दित भाव एक केन्द्र पर सीमाभाव या दिक्भाव कहलाता है।

दिक्भाव से अतीत जो क्षर काल है वह एक बिन्दु पर पकड़ में आता हुआ सीमित बनता है, अर्थात् दिक् या छन्द या सीमा से संपृक्त हो जाता है। काल का सच्चा स्वरूप तो गति या आगे बढ़ने की दुर्धर्ष शक्ति है। उस गतिशक्ति के कारण दिक् या छन्दोभावात्मक काल उस वस्तु का पिण्ड बनता है, जैसे अंकुरित होता हुआ बीज काल की नियमित अवधि में वस्तु पिण्ड रूपमें आने लगता है। यही दिक्भाव का देशभाव में प्रकट होना है। जिस प्रकार दिक् भाव को छन्द कहते हैं, उसी प्रकार वस्तु के मूर्त पिण्ड भाव को रस कहते हैं क्योंकि शक्ति का रसरूप में केन्द्र में संचित होना ही काल द्वारा भूतों की सृष्टि है। वृक्ष-विटप-पशु-मानव सब में रस का संचय काल से ही सिद्ध होता है और उसी से वस्तु पिण्ड या मूर्ति का निर्माण होता है। यह वस्तु पिण्ड या मूर्ति ही देश को व्याप्त करती है। अतएव दिक्भाव की यही देशभाव में अभिव्यक्ति है। काल के छन्द से रस का क्रमशः संचय जहां समाप्त होता है, वह उस वस्तु का मण्डल या वितान होता है और उसे प्रदेश कहते हैं। प्रदेश में लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई या प्राची-प्रतीची, दक्षिणा-उदीची और ऊर्ध्वा-अधः, ये तीनों परिमाण अपने पूर्ण स्थूल रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। यही हृद्य बिन्दु का पर्यवसान है। यही प्रदेश भाव है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

४१. कालतत्त्व का विकासक्रम

इस विकास क्रम को संक्षिप्त तालिका के रूप में यों समझा जा सकता है :—

१. कालातीत पुरुष—शुद्ध स्थिति पुरुष है। उसमें गति के संस्पर्श से

२. अक्षर अव्यक्त काल—का आविर्भाव होता है जो काल का गतितत्त्व रूप है। गति भाव ही अक्षर है। इससे

३. क्षर व्यक्तकाल—(फिजिकल टाइम) का आविर्भाव होता है। यह ऋतभावापन्न या सर्वव्यापक सम्वत्सरात्मक काल है। सूर्य इस काल का निर्माता है।

इसके अनन्तर क्षर व्यक्तकाल या सम्वत्सरात्मक काल से तीन विवर्त या विकास और होते हैं जिन्हें क्रमशः यों जानना चाहिए :—

४. दिक् भाव या छन्दोभाव या प्रत्येक वस्तु का अपने-अपने केन्द्र में काल की गति से विकसित होना अर्थात् उसका हृद्य या आत्मरूप या आरम्भिक बिन्दु रूप में आना।

५. उसके अनन्तर उस हृद्य केन्द्र में रसभाव या द्रुत शक्ति का संचय या वस्तुपिण्ड का निर्माण जिसे देशभाव कहेंगे।

६. सबके अन्त में वस्तु का वितान या मण्डलभाव है जिसे प्रदेश (फिजिकल स्पेस) कहते हैं। वस्तुतः संख्या १ से ३ के रूप काल के विवर्त्त हैं और संख्या ४ से ६ तक के रूप देश के विवर्त्त है। यही देश-काल का सहयुक्त रूप (टाइम-स्पेस रिलेटा) है जिसके माध्यम से प्रत्येक वस्तु की भूतभौतिक सत्ता या उपलब्धि सम्भव बनती है।

४२. अर्वाचीन विज्ञान में देश-काल की एकता

"अर्वाचीन विज्ञान की भाषा में व्यक्त काल और व्यक्त देश की पृथक् स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं हैं। वे दोनों किसी एक अव्यक्त तत्त्व के दो रूप हैं। वह अव्यक्त सत्ता देश और काल का सम्मिलित रूप है, और इन

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दोनों को अपने गर्भ में रखती है। देश और काल दोनों समानधर्मा हैं। समानधर्मा दो वस्तुओं का एक में मिलना सम्भव हुआ करता है। सापेक्षवाद के सिद्धान्त की कल्पना से पहले किसी के लिये भी यह मानना सम्भव न था कि देश और काल दोनों स्वरूप में इतने सदृश हैं कि उनके सम्मिलन का कोई विशेष महत्त्व हो सकता है। किन्तु अब तो इन दोनो के सम्मिलन या देशकाल की सहयुक्त इकाई के आधार पर ही सृष्टि विज्ञान की व्याख्या का ज्ञान सम्भव हो रहा है।"*

पुनश्च—सामान्य देश में दाहिने-बाएँ की कल्पना नहीं है, क्योंकि दाहिने-बाएँ का स्पर्श देश के साथ न होकर देश में खड़े हुए किसी दर्शक के साथ होता है। दाहिने और बाएँ भागों में देश का बँटवारा दर्शक की कल्पना के अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं रखता। उसी प्रकार देश-काल के चौखटे में देश से पृथक् काल का कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि देश-

* The physical theory of relativity suggests, although without absolutely conclusive proof. that physical space and physical time have no separete and iudependent existence. They seem mcre likely to be abstractions or selections from some thing more complete, namely a blend of space and time which comprises both. It is of course always possible to take any two things of not too dissimilar nature, and blend them into a single unity which shall comprise both. Before the advent of the theory of relativity, no one could have imagined that space and time were sufficiently similar in their natures for the result of blending them together to be of any special interest, yet such a blend has proved to be of outstanding importance for the nnderstanding of physics. (James Jeans, Physics & Philosophy. p. 64)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

काल की सम्मिलित इकाई के साथ पृथक् देश और पृथक् काल कोई सम्बन्ध न होकर केवल दर्शक के साथ होता है। प्रत्येक दर्शक का देश और काल पृथक्-पृथक् हो सकता है, किन्तु देश-काल की सम्मिलित सत्ता सार्वजनिक सत्य है।*

वैदिक सृष्टि विद्या के अनुसार भी देश और काल किसी प्रकार स्वतन्त्र या पृथक् नहीं हैं, बल्कि वे देश-काल के रूप में सर्वथा सहयुक्त हैं। इन दोनों को ही नाम-रूप कहा जाता है। काल नाम है और देश रूप है। जिसका नमन हो वह नाम है। नमन का तात्पर्य है वक्र भाव। अमित का मित भाव में आना ही नमन या वक्रता है। सौर सम्वत्सर वाला काल ही गणना काल है। उसे ही कुटिलाकल कहते हैं। उसका ही वस्तुओं के नाम-रूप से सम्बन्ध बनता है।

४३. काल ब्रह्मौदन है, देश उसका प्रवर्ग्य है

भारतीय दृष्टि से काल और देश के सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि मूल में काल तत्त्व है, और देश तत्त्व उसी का तूल या विवर्त्त है। इस विकास को ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य के सृष्टिव्यापी वैज्ञानिक नियम के द्वारा समझा जा सकता है। जो मूल तत्त्व हो उसे ब्रह्मौदन कहते हैं। उससे जो तूल विकसित होता है वह उस मूल की अपेक्षा से उसका प्रवर्ग्य कहा जाता है। ब्रह्मौदन का प्रवर्ग्य रूप में विवर्त्त ही सृष्टि है जो पूर्व-पूर्व का प्रवर्ग्य है वह अपने से उत्तर-उत्तर का ब्रह्मौदन बन जाता है। कोई ब्रह्मौदन अपने प्रवर्ग्य के बिना नहीं रह सकता। उदाहरण के लिये जो अन्न हम खाते हैं वह विशकलित होकर कुछ भाग से रस बन जाता है और कुछ भाग से मल। रस ब्रह्मौदन और मल उसका प्रवर्ग्य है। पुनः रस का कुछ भाग उत्तरोत्तर धातुओं के रूप में ब्रह्मौदन और प्रवर्ग्य की सृष्टि करता है। यही प्रक्रिया काल तत्त्व के साथ घटित होती है। कालातीत

* वही पृ० ६५।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अव्यय पुरुष ब्रह्मौदन या सृष्टि का मूल है। जिस तत्त्व से मूल का संवर्धन हो वह ब्रह्म का ओदन या अन्न (पोषक तत्त्व) ब्रह्मौदन कहा जाता है। उसी का त्यक्त एकांश उसका प्रवर्ग्य हो जाता है। सृष्टि के लिए प्रवर्ग्य आवश्यक है। प्रवर्ग्य से ही सृष्टि होती है (उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वम्)। पुरुष के शरीर में जो शुक्र भाग है वह उस शरीर को ही पुष्ट करता है। उसका जो रेतोभाग सन्तान के लिए त्यक्त होता है वह उसका प्रवर्ग्य है। मूलभूत ब्रह्मौदन की शक्ति तूल भूत प्रवर्ग्य में अनुप्रविष्ट रहती है। यही प्रक्रिया कालातीत अव्यय के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। वह शुद्ध स्थिति तत्त्व है। उसका प्रवर्ग्य गत्यात्मक अक्षर अव्यक्त काल स्वयं मूलशक्ति या ब्रह्मौदन के रूप में गति करता है और क्षर व्यक्तकाल के रूप में विकसित होता है। यही क्षर व्यक्तकाल संवत्सरात्मक काल है। पुनः क्षर व्यक्तकाल दिक् भाव में विकसित होता है, दिक् भाव देश भाव में और देश भाव प्रदेश के रूप में स्थूल बनता है। प्रदेश काल का अवसान या अन्तिम प्रवर्ग्य है जिससे आगे पुनः विकास सम्भव नहीं।

ब्रह्मौदन या मूल-कालातीत अव्यक्त पुरुष	—उसका प्रवर्ग्य या तूल-अक्षर अव्यय काल
—अक्षर अव्यक्त काल	—क्षर व्यक्तकाल (ऋतसम्वत्सरात्मक काल)
—क्षर व्यक्तकाल	—दिक्भाव (सत्यसम्वत्सरात्मक या ह्यात्मक काल छंदभाव या रेखा)
ब्रह्मौदन या मूल दिक्भाव	—देशभाव (लम्बाई-चौड़ाई या वर्ग)
—देशभाव	—प्रदेशभाव (लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई रूप पार्थिव छन्द या घन)।

इस तालिक में प्रदेश भाव सबसे अवर और एवं स्थूल है। सूक्ष्म-भाव का क्रम-क्रम से स्थूल रूप में परिणत होना ही प्रदेश या लम्बाई-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

चोड़ाई-मोटाई का घन रूप है। वही उसका त्रिप्रमाणात्मक छन्द है, जो पृथिवी छन्द कहा जाता है। छन्द का अर्थ है आयतन। पार्थिव भौतिक छन्द या आयतन ही त्रिप्रमाणात्मक होता है।

४४. चतुष्प्रमाणात्मक देश (फोर-डाइमेन्शनल स्पेस)

वैज्ञानिकों का कथन है—सामान्य त्रिप्रमाणात्मक देश (**थ्रीडाइमेंशनल स्पेस, अर्थात् प्रदेश**) तीन खड़ी रेखाओं को मिलाकर बनाए हुए त्रिविष्टब्धक या तिकठी पर आधारित है। ये तीन खड़ी रेखाएँ पूर्व-पश्चिम (प्राची-प्रतीची), उत्तर-दक्षिण (दक्षिणोदीची), ऊपर-नीचे (ऊर्ध्व-अधः) इन तीन दिशाओं की सूचक हैं। द्रष्टा अपने दृश्य प्रदेश (परसैप्टुअल स्पेस) को इसी रूप में देखता है। अब हम कल्पना करें कि यह दृश्य प्रदेश असंख्य पतली पपड़ियों में काट लिया जाय तो प्रत्येक महीन पपड़ी केवल वर्गाकार रह जायगी, जिसमें पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण केवल दो ही प्रमाण रेखाएँ होंगी; ऊपर-नीचे की रेखा नहीं। इन असंख्य पपड़ियों की तह फिर से जमा दी जाय तो वही पूर्व का त्रिप्रमाणात्मक प्रदेश पुनः बन जायगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमने समतल प्रमाण के साथ उत्सेध प्रमाण को जड़ दिया या मिला दिया और उससे एक नयी ही वस्तु प्राप्त कर ली अर्थात् त्रिप्रमाणात्मक प्रदेश।

अब यदि हम किसी 'क' नामक व्यक्ति के अनुभव में इन त्रिप्रमाणात्मक प्रदेशों की एक क्षण के बाद दूसरे क्षण में लगातार आने की कल्पना करें तो हमें चतुष्प्रमाणात्केक प्रदेश की मान्यता करनी होगी। ऐसे ही दृश्य-प्रदेश का अविच्छिन्न सन्तांन क्रम 'ख' व्यक्ति का भी बन सकता है। तो इन असंख्य दृश्य प्रदेशों की समष्टि के रूप में एक ऐसे देश काल की मान्यता सिद्ध हो जाती है जो व्यक्ति विशेष के लिये निजी न होकर सर्वसामान्य के अनुभव की वस्तु बन जाती है (जेम्स जीन्स, वही पृ० ६४—६५)।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि कालतत्त्व के उत्तरोत्तर विकास क्रम

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

में दिक्-देश-प्रदेश की सर्जना जो भारतीय वैदिक दर्शन को मान्य हैं अर्वाचीन विज्ञान से भी सम्मत है।

४५. कालतत्त्व का मौलिक स्वरूप

प्रश्न है कि कालतत्त्व का मौलिक स्वरूप क्या है। सृष्टि का मूल-कारण जो गतितत्त्व है वही काल है। 'कल संख्याने' धातु से काल और कला दोनों बनते हैं। किसी अखण्ड तत्त्व की कलाभाव में अभिव्यक्ति काल या गति के कारण ही सम्भव होती है। वह अखण्ड अव्यय तत्त्व मूलस्वरूप में अज या अजन्मा है, वह अवक्र कहा जाता है (अजस्यावक्रचेतसः)। वक्र भाव को ही नमन भाव (झुकना) कहते हैं। नमन की ही संज्ञा नाम है। नाम से ही रूप बनता है। नमन या वक्रता (कर्वेचर) से ही सीमा या छन्द बनता है (छन्दश्छादनात्)। गति भाव का आवश्यक परिणाम सीमाभाव है। सीमाभाव से ही अनन्त वस्तु का छादन या आवरण होता है। यदि एक बिन्दु से उत्थित गति अनन्तकाल तक बाहिर की ओर ही जाती रहे तो कोई कार्य सम्भव न होगा। गति को वक्रभाव में आना पड़ेगा। तभी उससे आगति उत्पन्न होती है। गति का नमन ही आगति है। काल का नमन भाव ही उसका दिग्-देश-प्रदेश में परिणत होना है।

४६. काल के तीन रूप

कालातीत तत्त्व परात्पर ब्रह्म है। उससे कालात्मक तत्त्व का विकास होता है। जहाँ काल है वहीं छन्द या नमन है। यह काल तीन प्रकार का है—पहला अनन्त काल, दूसरा कराल काल और तीसरा कुटिल काल।

१. अनन्तकाल—यही महाकाल है जो अव्ययकाल भी कहा जाता है। यह निरपेक्ष काल है। इसी में महामायाधर्म का सम्पर्क होता है। महामाया अमित को मित बनाने वाला धर्म है। महामाया एक छन्द है। माया मित भाव है। इस अनन्तकाल में मायाधर्म या मितभाव का सम्पर्क होने से पाँच पुरों का प्रादुर्भाव होता है—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र,

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पृथिवी। स्वयम्भू-परमेष्ठी का एक वर्ग है, सूर्य-चन्द्र-पृथिवी का दूसरा। पहला सृष्टि से पूर्व का सूक्ष्मभाव है, दूसरा भौतिक सृष्टि का स्थूल है।

२. कराल काल—स्वयम्भू अव्यक्त स्रोत है। उससे जिस महान् या विराट् का जन्म होता है वह परमेष्ठी है। स्वयम्भू और परमेष्ठी दोनों का कालात्मक नमन या छन्द पुराण की भाषा में कराल काल कहा जाता है (करालं महाकालकालं कृपालम्)। इसे ही भाषा में काल-कोदण्ड कहा गया है। जिस प्रकार धनुर्दण्ड दो सिरों पर झुका रहता है वैसे ही यह सापेक्षकाल अपने दो ध्रुवों के चंगुल में सौर सम्वत्सररूपी कुटिल काल के गोले का स्तम्भन करता है। शालाओं में पृथिवी के गोले को फँसा कर यथास्थान रखने वाला जो धनुषाकृति आंकुड़ा होता है उससे इस करालकाल की उपमा दी जा सकती है। अनन्तकाल तो विष्कम्भ की भाँति ऊर्ध्व या सीधा होता है। विष्कम्भ या व्यास या सीधी रेखा क्या है? एक ध्रुव बिन्दु का बहुधा या नाना बिन्दु भाव में अभिव्यक्ति ही सीधी रेखा है। एक बिन्दु के दोनों छोरों पर दो अतिरिक्त बिन्दुओं की कल्पना करते ही सीधी रेखा विकसित हो पड़ती है। यही रेखा उन बिन्दुओं पर गति करती है जिससे बिन्दु-बिन्दु पर नमन करने वाली या झुकने वाली रेखा का जन्म हो जाता है। वही वृत्त कहलाता है। ऊर्ध्व रेखा का विकास नमन या वक्र भाव के बिना अन्यथा सम्भव ही नहीं है। गति ही तो वक्रभाव या सीमाभाव में परिणत होती है। शाश्वत गति जैसी कोई कल्पना विश्व में सम्भव नहीं है। गति को आगति भाव से संयुक्त होना ही पड़ता है। गति-आगति की समष्टि ही चक्र है। काल का व्यक्त स्वरूप चक्रात्मक ही है। वही तीसरा कुटिल काल है। विश्व में देश भी वक्र है और काल भी वक्र है। देश-काल के सीमित परिमाण की संज्ञा ही विश्व है।

३. कुटिलकाल—व्यक्त और सम्वत्सर रूपी जो काल है वह कुटिल-काल है। यही गणनकाल है। लव-निमेष, अहोरात्र, पक्ष-मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सर, यही कुटिलकाल का रूप है। काल के ये विविध रूप

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तभी सम्भव हैं जब सूर्य और पृथिवी अपने केन्द्र बिन्दु पर ध्रुवरूपेण प्रोत हो चुके हैं। इस ध्रुवभाव या केन्द्रस्थ भाव को ही सत्य या सत्ता कहा जाता है। एक केन्द्र के चारों ओर अनुस्यूत गति या परिक्रमा को सत्य कहते हैं। केन्द्र विहीन विचलित गति ऋत का रूप है। सूर्य सत्य नारायण है। उसी के ध्रुव कक्ष में पृथिवी चन्द्र आदि ग्रहोपग्रह अविचालीभाव से कीलित हैं। यह ध्रुव सम्वत्सर ही वस्तुतः काल का वह रूप है जिससे भूतभौतिक पार्थिव विश्व का निर्माण होता है। यह इस सौर जगत् का प्रजापति या सृष्टि स्थिति संहार का विधाता है। इस सौर-मण्डल के केन्द्र सूर्य को हृदयस्थ मनु तत्त्व भी कहा जाता है। विराट् के गर्भ में एक-एक बिन्दु पर ही शक्ति की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। विराट् विश्व में सूर्य कितना भी बड़ा हो वह एक बिन्दु है। अतएव सूर्य ही मनु तत्त्व है। विवस्वान् सूर्य के पुत्र मनु वैवस्वत कहे जाते हैं। इसी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि सौर-मण्डल में जितने पदार्थ जन्म लेते हैं सबके स्वस्तिक (दिग्देशभाव) सूर्य के विराट् स्वस्तिक से मिले रहते हैं, अथवा सब का नभ्य बिन्दु या हृद्य केन्द्र सूर्य के केन्द्र या मनु तत्त्व से समन्वित रहता है। सब प्राणियों में यह स्थिति है, पर मानव की प्रज्ञा में सबसे अधिक स्फुट है। वस्तुतः मानवी प्रज्ञा या विज्ञान तत्त्व का सूर्य से जो विकास कहा जाता है उसका सांकेतिक रहस्य यही है। किसी महतो महीयान् शक्ति समुद्र के मध्य में सूर्य जैसे अनेक केन्द्रों का उत्पन्न होना ही सृष्टि प्रक्रिया है। सृष्टि-विज्ञान की भाषा में सूर्य और सम्वत्सर दोनों पर्याय हैं। दोनों प्रजापति हैं। दोनों काल के निर्माता और कालरूप ही हैं। काल ही मृत्यु है और काल ही अमृत है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२६. इन्द्र

मूलभूत शक्ति की संज्ञा इन्द्र

ऋग्वेद में इन्द्र देवता की महिमा और व्याख्या के अनेक मन्त्र हैं। इन्द्र इश्वर का वाचक है। परमैश्वर्यरूप सृष्टिका विधाता यदि किसी शब्द से यथार्थ में अभिहित किया जाय तो उसके लिये 'इन्द्र' यही उपयुक्त नाम हो सकता है। इस विश्व में सर्वव्यापक शक्ति तत्त्व इन्द्र है। इस शरीर में इन्द्रियों का अधिष्ठाता मध्यप्राण भी इन्द्र कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि कोई मूलभूत शक्ति या अग्नि इस देह में प्रतिष्ठित हुई है। उसी के संचालन से अन्य सब अवयव कार्य में प्रवृत्त हैं। वह अग्नि या जीवनी शक्ति समिद्ध होने के कारण 'इन्ध' कहलाती है। उसका शतायु-पर्यन्त समिन्धन हम सब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वनस्पति, पशु और मानव, इन तीन धरातलों या रूपों में वह शक्ति प्राणन क्रिया कर रही है। उसकी मध्यगत सत्ता से ही जीवन का सत्र संतत है। इस शक्ति की संज्ञा इन्ध-नात्मक होने के कारण परोक्ष या सांकेतिक भाषा में 'इन्द्र' कही जाती है। शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस निरुक्ति का जो कुछ मूल्य हो, तात्त्विक दृष्टि से यह नितान्त सत्यात्मक है।

मध्यप्राण—एक और बहुधा

मध्य या केन्द्रीय प्राण शक्ति मूलरूप में एक है। किन्तु सृष्टि या अभिव्यक्ति में आते ही वह बहुधा हो जाती है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** ऋषियों का दर्शन है। यह अर्थवाद या कथन मात्र नहीं, सृष्टि का अविचल तथ्य है। विश्व में मूलशक्ति एक है पर उसके रूप बहुधा हैं। शरीर की मूलभूत शक्ति एक है, पर वही चक्षु श्रोत्र वाक् प्राण

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मन आदि के रूप में कार्य करती है। इन्हें देव कहा जाता है। स्थूल इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता शक्ति के ही रूप हैं। इन्द्रियों को प्रकारान्तर से लोक कहा गया है, और उनके देवों को लोकी या लोकपाल। देवों का अधिपति इन्द्र एक होते हुए भी नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसके मूल में इन्द्र की प्रातिस्विक शक्ति ही कारण है, यही उसका स्वाभव है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते

शरीर में इन्द्रियों की सत्ता इस बात का प्रमाण है कि उनके मूल में इन्द्र शक्ति सक्रिय और सत्तावान् है। वनस्पति जगत्, पशु जगत्, और मानव जगत् इन तीनों में इन्द्रियों का विकास देखा जाता है। वृक्ष भी स्पर्श का अनुभव करते हैं। उनमें स्पर्शेन्द्रिय का और इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विकास है। जहाँ इन्द्रिय की किया है उसके मूल में मनस्तत्त्व अवश्य रहता है। अतएव इन्द्र को 'मनस्वान्' कहा जाता है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुनापर्यभूषत्।

इन्द्र मनस्वी देव है। उसी की सत्ता अन्य देवों या इन्द्रियों को क्रतु या संकल्पात्मक कर्म शक्ति से युक्त करती है।

इन्द्र के तीन रूप

इन्द्र इन्धनात्मक शक्ति है। उसके तीन रूप हैं—मन, प्राण, वाक्। पंचभूतों की संज्ञा वाक् है। क्योंकि पंचभूतों में सबसे सूक्ष्म आकाश है जिसका गुण शब्द है, अतएव शब्द या वाक् को सब भूतों का प्रतीक मान लिया जाता है। अग्नि-वायु-इन्द्र ये तीन रूप एक ही मूलभूत शक्ति-तत्त्व के हैं। स्थूल भूतरूप में उसे अग्नि, प्राणरूप में वायु और मनस्तत्त्व के रूप में इन्द्र कहा जाता है। अग्नि पृथिवीलोक, वायु अन्तरिक्ष लोक और इन्द्र या आदित्य द्युलोक की शक्ति है। द्युलोक में जो आदित्य है उसे ही इन्द्र भी कहा जाता है—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।

हम अपने ही शरीर में देखें। जठराग्नि वासव इन्द्र है जो वसु या भूततत्त्वों को शरीर में सम्भृत करता है। मध्यभाग में मरुत्वान् इन्द्र है जो हृदय और पुप्फुस का संचालन करता है। यह ठीक वैसी ही विद्युत् शक्ति है जो किसी यंत्र को संचालित करती है। मरुत् या वायुरूप प्राणों के द्वारा ही यह विद्युत् मिल रही है। तीसरा मस्तिष्क संस्थान है जहाँ चिन्तन या मनन शक्ति का अधिष्ठान है। वह सबसे सूक्ष्म और व्यापक है, एवं उसकी शक्ति सबसे अधिक प्रभावशालिनी है। वह मघवान् इन्द्र है। मन की यज्ञियशक्ति ही मघ तत्त्व है। मघ तत्त्व के अभाव में ही मन मोह ग्रस्त या तमोग्रस्त होता है।

इन्द्ररथ का वाहन अश्वतत्त्व

इन्द्र का रथ यह शरीर है। इन्द्र को अपने रथ में गति की आवश्यकता है। गति तत्त्व ही अश्व तत्त्व है। पंजर का नाम रथ नहीं। रथ वह है जिसमें पंजर का संचालक वाहन भी हो। इन्द्र के रथ में दो अश्व हैं। उन्हें ही 'अश्विनी' कहते हैं। प्राणापान या प्राण के द्विविधरूप ही अश्विनीकुमार हैं। प्रत्येक शरीर को जीवन या प्राणन की आवश्यकता है। वनस्पति, पशु, मानव इन तीनों को गति या स्पन्दन प्राणापान से ही प्राप्त होता है। दो रूपों में अभिव्यक्त होते हुए भी प्राण एक ही है। शतपथ ब्राह्मण में उसकी यथार्थ वैज्ञानिक परिभाषा की गई है—

प्राणो वै समञ्चन-प्रसारणम्।

फैलना और सिकुड़ना—यही स्पन्दन का रूप है। जहाँ यह क्रिया हो वहीं प्राणन की अभिव्यक्ति जाननी चाहिए। प्राणनात्मक कर्म ही जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यह प्राणन क्रिया श्वास-प्रश्वास की धौंकनी है। जिस शरीर में यह धौंकनी चल रही है वहीं जीवन है। अथवा, यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राणापान की धौंकनी के लिये शरीर की अनिवार्य आवश्य-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कता है। विराट् शक्ति की अभिव्यक्त हमारे अनुभव में तभी आती है जब वह शरीर में प्रकट हो। भूत-प्राण-मन की समष्टि की संज्ञा शरीर है। इसी संघात को देह कहते हैं। प्रत्येक शरीर शक्ति का एक आवपन या पात्र है। यही यज्ञ की वेदि है, अथवा समष्टि या विराट् भुवन का केन्द्र बिन्दु या नाभि है—

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः (ऋ० १।१६४।३५)।

इस मन्त्र भाग में शरीर की सीमा में प्रवर्तमान यज्ञ की ओर संकेत है। शरीर में जो शक्ति कार्य करती है वह छन्द या सीमा से छन्दित हो जाती है। जहाँ छन्द है वहीं दैवी यज्ञ है। जो शक्ति छन्द से बहिर्भूत है वह आसुरी है। प्रत्येक शरीर देश और काल के छन्द का अनुशासन मानकर जीवित है। जन्म, वृद्धि और अन्त ये कालकृत छन्द हैं जो क्रमशः शरीर की देशगत सीमा में प्रकट होते हैं। इन्हें ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती इन नामों से अभिहित किया जाता है।

दध्यङ् अथर्वा का अभिप्राय

ऊपर जिस अश्व या अश्विनी का उल्लेख किया गया है उसकी एक संज्ञा दध्यङ् अथर्वा भी है। अथर्वन् की दो व्युत्पत्तियाँ हैं जो दोनों संगत हैं। शतपथ के अनुसार प्राण या अग्नि अथर्वा है (श० ६।४।२।१) यजुः ११।३२ के अनुसार अथर्वा ने प्राणाग्नि का सर्व प्रथम मंथन किया—

अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।

अथर्वा में जो 'अथर्' शब्द है वह अग्नि का वाचक है, जिससे ईरानी परम्परा में अतर्-आजर्-आतिश शब्दों की धारा चली। पर गोपथ में एक दूसरी व्युत्पत्ति दी है—

तद् यद् अब्रवीद् अथ अर्वाङ् एनम् एतासु अप्सु अन्विच्छ इति तद् अथर्वाऽभवत् तदथर्वणोऽथर्वत्वम् (गो० पू० १।४)।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

'अथ अर्वाङ्' से अथर्वा की व्युत्पत्ति क्या संकेत करती है ? पहले जलों की सृष्टि और उसमें अग्नि का जन्म या गर्भ धारण—यह सृष्टि की प्रक्रिया है जिसका कई बार उल्लेख ऋग्वेद में आता है—अग्नि 'अपांगर्भः' (ऋ० ३।५।३) अर्थात् जलों का पुत्र है। देवों ने दर्शनीय अग्नि को जलों में ढूँढ़ निकाला—

अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसृणाम्

(ऋ० ३।१।३)

पहले ऋतात्मक जल, फिर सत्यात्मक अग्नि—यही सृष्टि का क्रम है। माता-पिता का शुक्र-शोणित ऋत या सोम है। उसमें शिशु प्राण रूप अग्नि का जन्म होता है। इस शिशु को ऋग्वेद में 'चित्र शिशु' कहा जाता है। यही क्रमशः चित होनेवाला अद्भुत प्राण तत्त्व या जीवन है। कवियों ने इसे ही 'कुमार' कहा है जो किसी देश या काल विशेष की विजड़ित घटना नहीं, वरन् सृष्टि का नित्य तत्त्व है। इसका जन्म प्रतिक्षण हो रहा है। हमारे जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना या लीला यही 'कुमार-सम्भव' है जो तारकासुर रूपी मनस्तत्त्व को मर्यादित करनेवाली दैवी शक्ति है। "चन्द्रमा मनसो जातः' के अनुसार चन्द्रमारूपी नक्षत्र या तारक ही मन है।

जल पहली सृष्टि है—अप एव ससर्जादौ। उसमें त्रयी विद्या का बीज अग्नि या प्राण का रूप है। वही 'अथ अर्वाक्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अथर्वा है। यह अथर्वा गति का प्रतीक है। यह अश्व या गतितत्त्व प्रत्येक प्राणी के मस्तक के साथ जुड़ा है। ऐसा कोई जीवधारी नहीं जिसमें अथर्वा अश्व का शीर्ष भाग न हो। इस वैदिक आख्यान का मूल तात्पर्य क्या है ? हमारा जो भौतिक शरीर है वह पार्थिव है। इस पृथिवी को जो प्राणात्मक स्पन्दन प्राप्त है उसका मूल मनस्तत्त्व में है। भौतिक दृष्टि से भी समस्त शरीर में रुधिर का अभिसरण कराने वाला यन्त्र हृदय है। यह ऐसा इंजिन है जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त स्पन्दन या संधमन करता रहता है। जिस शक्ति

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

से यह निरन्तर संचालित होता है वह वैद्युत शक्ति इन्द्र कही जाती है। यह अन्तरिक्ष चारी मरुत्वान् इन्द्र है। पर इस प्राणात्मक इन्द्रशक्ति के प्रेरणाकेन्द्र मस्तिष्क में हैं जहाँ से हृदय नित्य संचालित रहने का विधान प्राप्त करता है। जो स्थूल मस्तिष्क है वह भौतिक है। किन्तु उसके आधार पर प्रतिष्ठित जो मनस्तत्त्व है वह देव कहा जाता है। यह ऐसे ही है जैसे सूर्य के पंचभौतिक शरीर के मूल में भी कोई 'सूर्य का सूर्य', या ज्योतिर्मय देवतत्त्व है। भौतिक सूर्य या भौतिक मस्तिष्क को स्थूल विज्ञानगत साधनों से देखा या जाना जा सकता है। पर मस्तिष्क के अभ्यन्तर में कार्य करने वाले मानस तत्त्व का केवल अनुभव किया जा सकता है। यही देवों का देवत्व है। प्रत्येक भूतात्मक संस्थान के पीछे यही देवमयी शक्ति है। वह देवात्मक मनस्तत्त्व जो मस्तिष्क की प्रतिष्ठा है, इन्द्र कहलाता है। ऋग्वेद में इन्द्र को यथार्थ ही **'मनस्-वान्'** कहा है। उसी की शक्ति अन्य सब देवों या शरीर संस्थान के प्राणावयवों को शक्ति प्रदान करती है। वैदिक परिभाषाओं में अर्थ की व्यापकता निहित रहती है। अतएव प्राण की शक्ति भी इन्द्र है और मनस्तत्त्व भी इन्द्र है; एवं इन दोनों से ऊपर शुद्ध आत्मतत्त्व भी इन्द्र है।

अथर्वा को दध्यङ् क्यों कहा जाता है? कालान्तर के आख्यानों में इसे ही दधीचि ऋषि की संज्ञा दी गई जिसके दृढ अस्थि तत्त्व से इन्द्र के वज्र का निर्माण होता है। दधि अञ्चतीति दध्यङ्, अर्थात् जो 'दधि' का निर्माण करता है वह दध्यङ् प्राण है। इसे ही 'दधिक्रा' या या 'दधिक्रावा' भी कहा गया है। दधि का विकिरण करने वाला यह प्राण सूर्य के केन्द्र में है। वही अपनी रश्मियों से महती ब्रह्माण्ड व्यापिनी शक्ति का विकिरण या वितरण करता हुआ भूतों का निर्माण करता है। जिसे हम दधि कहते हैं, वह दुग्ध का जमा हुआ रूप है, उसे ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथिवीलोक का प्रतीक माना गया है—**दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्**

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(शतपथ ७।५।१।३)। गेहूँ के पौधे में पहले जल या सोम संचित होता है। उस जलीय सोम में दूध मिल जाता है और वही दूध रूपी सोम गेहूँ के दाने के कोटर या पोखली में भर जाता है। अन्त में वही दुग्ध जम जाता है जिसे लोक भाषा में दधि और विज्ञान की भाषा में श्वेतसार या स्टार्च कहते हैं। पानी-दूध-दही ये तीनों सोम के ही तीन रूप हैं। सोम के कूटने-पीसने-छानने-दूध मिलाने और पीने की समस्त प्रक्रिया प्रत्येक प्राणि संस्थान में नित्य होती है। वनस्पति-पशु-मनुष्य तीनों के शरीर का निर्माण सोम की चमत्कारिक पद्धति पर ही निर्भर करता है। जो प्राणतत्त्व इस सोमयज्ञ का संधमन करता है, जो जीवन की धौंकनी चलाकर शरीरगत उष्णता और बाह्य सूर्य की उष्णता से सोम का अधि-श्रयण और पवित्रीकरण करता है, वही इन्द्र है। यदि वह इन्धनात्मक मध्य प्राण या समिद्ध जीवनीय अग्नि सक्रिय न हो तो सोम सम्बन्धी कोई प्रक्रिया शरीर में सिद्ध नहीं हो सकती। प्रत्येक शरीर या देह संस्थान में प्राणाग्नि द्वारा रस या सोम की शुद्धि और पाचन के लिये तीन अच्छिद्र पवित्र लगे हुए हैं—पहला छानने का नतना शरीर की कोष्ठाग्नि या वैश्वानर है जो खाए हुए अन्न को पचाकर रसों को छानती है। आदि से अन्त तक यह अति सूक्ष्म और पेचीदी रासायनिक क्रिया है जिसमें कई प्रकार के अम्ल और क्षार स्वयम् उत्पादित होकर योग प्रदान करते हैं। दूसरे अच्छिद्र पवित्र प्राणापान हैं और तीसरा मन है। शरीर की धातुओं का पवित्रीकरण इन तीनों के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाया जाता है। ये तीनों ही तीन प्रकार की अग्नियाँ हैं, अथवा एक ही अग्नि के तीन रूप हैं जो इसी कारण 'त्रिषधस्थ' कही जाती है। पहली पार्थिव वैश्वानर अग्नि को पवमान, दूसरी आन्तरिक्ष्य प्राणापान रूपी अग्नि को पावक और तीसरी दिव्य या मानस अग्नि को शुचि कहते हैं। पहली पवमान अग्नि को निर्मंथ्याग्नि भी कहा जाता है। यही शरीर की शक्ति के अरणिमन्थन से मथी जाती है। जीवन की मूल भूत अग्नि यही है। यह पार्थिव या स्थूल

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है जो रासायनिक रूप में उन रसों में निवास करती है जिनसे शरीरस्थ अन्न सामग्री का परिपाक किया जाता है।

इन्द्र और सोमपान

वेदों में इन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता सोमपान है। इन्द्र रूपी अग्नि निरन्तर सोम चाहती है। सोम के अभाव में क्षण भर भी अग्नि का स्पन्दन या जीवन सम्भव नहीं। वैश्वानर जठराग्नि को अन्नरूपी सोम न मिले तो उसकी क्षीणता का अन्त मृत्यु है। ऐसे ही जितनी धातु चितियाँ हैं सब एक दूसरे से अनुस्यूत हैं और सब में प्राणाग्नि का संधमन हो रहा है। अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि, से मज्जा और मज्जा से शुक्र का संस्थान पुष्ट किया जाता है। पहला सोम है, बाद वाला अग्नि है। प्रत्येक को सोम और प्रत्येक को अग्नि के रूप में कार्य करना पड़ता है। ये ही अध्यात्म शरीर यज्ञ की सप्तचितियाँ हैं। सर्वत्र इन्द्र के सप्त मरुतों की शृंखला व्याप्त है। प्रत्येक चिति में इन्द्र का सोम पान चालू है। सबसे अन्त में ओज और ओज से मनः शक्ति का निर्माण होता है। मन रूपी इन्द्र को सदा सोम चाहिए। सोम के भी अनेक रूप हैं। अंशु सोम स्थूल रसात्मक सोम है। सोम का अग्नि द्वारा जहाँ मन्थन होता है वही संस्थान 'ओषधि' कहलाता है। शरीर और उसके प्रत्येक अवयव या चिति में 'ओषधि' संस्थान कार्य कर रहा है। दूसरा ग्रह सोम है जो शरीर के भिन्न भागों में या इन्द्रियों में प्राण शक्ति रूप में संचित होता है। तीसरा राजा सोम है जो मनस्तत्त्व के रूप में आलोम-आनखाग्र व्याप्त है। इसे ही चन्द्रमा कहते हैं। चान्द्र सोम की शान्ति अमृत है जो शरीर को प्रतिक्षण जीवन देकर अमर बना रही है। सबसे अन्त का वाजसोम है जो हमारे भीतर बुद्धि या विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है। हमारे व्यक्तिभाव को समष्टि प्राण, समष्टि विज्ञान और समष्टि चेतना के साथ जोड़नेवाला यही वाज सोम है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इन्द्र और बृहस्पति

इसके अधिष्ठाता बृहस्पति समष्टि विज्ञान या सूर्य के ही रूप हैं। ये इन्द्र रूपी व्यष्टि मन और व्यष्टि अहंकार या चान्द्र सोम या प्रज्ञान के नियामकगुरु हैं। बृहस्पति की गौएँ जिस अद्रि की गुफा में मुँदी है वही समष्टि विज्ञान या विराट् मन है। उन गौओं को या चैतन्य धाराओं को व्यष्टि जीवन के लिये उन्मुक्त करनेवाला इन्द्र व्यक्ति का निजी मन है बृहस्पति और इन्द्र दोनों एक दूसरे से अविनाभूत हैं। समष्टि और व्यष्टि दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। एक ब्रह्म है, दूसरा क्षत्र है। जो क्षत्र है वही राजा है। जो राजा है वही धर्म का पालक या व्यवस्थापक है। धर्म ही मर्यादा या सीमा भाव है। यही व्यक्ति या व्यष्टि भाव है। क्षत्र से उच्चतर ब्रह्म भाव है। वह निर्धर्मक स्थिति है। उसमें सब धर्मों का अन्तर्भाव या समन्वय रहता है। वही ऋषि की स्थिति है। राजसूय से राजा और वाजपेय से सम्राट् बनता है—स **वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्त** (गोपथ पू० ५। ८)। अनेक राजाओं का अधिपति सार्वभौम सम्राट् कहलाता है। एक जनपद की सीमित पृथिवी का स्वामी पार्थिव या राजा कहलाता है। समस्त जनपदों की भूमियों को वश में करनेवाला सम्राट् होता है। व्यष्टि जीवन 'राजा' और समष्टि जीवन 'सम्राट्' के समान है। प्रत्येक जीवन एक इकाई, एक जनपद राज्य या एक यज्ञ के समान है।

जीवन का अधिपति देवता इन्द्र है। एक-एक प्रजा या जनता में एक-एक इन्द्र होता है। जो उसका सर्वश्रेष्ठ और ओजिष्ठ बलिष्ठ रूप है वही इन्द्र कहलाता है। इन्द्र की शक्ति का स्रोत सोम पान है। सोम की वैदिक कल्पना एक ओर सरल और दूसरी ओर जटिल है। सारे विश्व की व्याख्या ही अग्नि-सोम के रूप में की गई है। **'अग्नीषोमात्कं जगत्'** यही सृष्टि का संक्षिप्त सूत्र है। जहाँ भी प्राण या जीवन का स्पन्दन है वहीं 'अग्नीषोमीय पशु' का आलम्भन हो रहा है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। अन्नाद में अन्न की आहुति ही यज्ञ है। सोम मातृ तत्त्व है, अग्नि पितृ

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तत्त्व है। अग्नि अक्षर या शक्ति है, सोम क्षर या भूत है। अग्नि के बिना सोम निर्जीव है और सोम के बिना अग्नि अरूप रहता है। सोम से ही भूतात्मक शरीर का निर्माण मातृ-कुक्षि या गर्भ में किया जाता है। अग्नि रूप इन्द्र को सोम की उपलब्धि ही उसकी पूर्णता है।

सोम की व्याख्या

सृष्टि के मूलभूत शक्ति तत्त्व को वेदों में पारमेष्ठ्य समुद्र कहा गया है। वही ऋत है—**ऋतमेव परमेष्ठि**। उस महतो महीयान् अखंड समुद्र की ऊर्मियाँ या लहरें ही विश्व का ओजायमान जीवन प्रवाह है। उस महा समुद्र की तुलना में एक-एक विश्व एक ऊर्मि या एक मधु बिन्दु है। उस मधु बिन्दु की निरन्तर आहुति सूर्य को प्राप्त हो रही है। उसी सोमाहुति से सूर्य का जीवन संचालित है। सूर्य की एक संज्ञा इन्द्र भी है। सूर्य अपने विश्व का केन्द्र या मध्य प्राण या इन्द्र है। पारमेष्ठ्य सोम की अजस्रधारा ही सूर्यरूपी इन्द्र का विराट् सोमपान है। समष्टि विज्ञान के एकाकार अखंड संस्थान में जो सृष्टि के नानाभावों का उदय होता है, वही उसका सोमपान या मातृसंपर्क है जिससे व्यष्टि का अस्तित्व संभव होता है। जहाँ अग्नि में सोम की आहुति नहीं वहाँ तम या अंधकार व्याप्त रहता है। अग्नि का निजी रूप कृष्ण है, वह अनभिव्यक्त है। सोम से ही उसमें प्रकाश उत्पन्न होता है। जो अग्नि काष्ठ या समिधा में व्याप्त है वह कृष्ण है। अग्नि के संयोग से सोमरूप समिधा का समिन्धन ही ज्योति या शक्ति का आविर्भाव है। सूर्य या इन्द्र द्युलोक का अधिपति है। **'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** का यही तात्पर्य है। जहाँ इन्द्र है वहीं द्युलोक है और जहाँ द्युलोक है वहाँ इन्द्र की सत्ता अवश्य है। कोई ऐसी पृथिवी नहीं जिसका निजी द्युलोक न हो। जो स्थूल दृश्य है वह भौतिक रूप पृथिवी है। उसी में अग्नि का पार्थिव रूप दिखाई पड़ता है। उस पृथिवी के आधार पर स्थित अग्नि का

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जो विरल रूप है वही द्युलोक का इन्द्र तत्त्व है। कोष्ठ की अग्नि क्षारात्मक रसों के रूप में स्थूल है। उससे अन्ततः उत्पन्न होने वाली जो मन की विचार शक्ति या ज्योति है वह उसका विरल रूप है, वही इन्द्र है। शीर्ष भाग में उस ज्योति का लोक है। उसे ही ज्योति से आवृत स्वर्ग कहा जाता है जहाँ मनस्वान् इन्द्र का अधिष्ठान है। जैसे व्यष्टि में मन है, वैसे ही समष्टि ब्रह्माण्ड में विज्ञानात्मा सूर्य है। वहाँ सूर्य से स्थूल भौतिक सूर्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए। सूर्य का स्थूल भूतात्मक अंश तो उसका पार्थिव भाग है। उस पार्थिव लोक पर अधिष्ठित विज्ञान या बुद्धि तत्त्व ही सूर्य का द्युलोक है। यह बुद्धि ही प्रज्ञा या धीतत्त्व है। मस्तिष्क का जो स्थूल रूप है वह उसका पार्थिव भाग है। उसी संस्थान के द्वारा प्रज्ञा भाग प्रकाशित होता है। यही नियम प्रत्येक प्राणिकेन्द्र में चारिचार्थ हो रहा है। जो सूर्यगत प्रज्ञा तत्त्व या प्राण है उसे निरन्तर सोम चाहिए। इन्द्र ने अपना परिचय देते हुए **'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा'** कहा है। प्राणमय संस्थान में अभिव्यक्त प्रज्ञात्मक चितितत्त्व ही इन्द्र है। यही विश्व में जीवन की अभिव्यक्ति है जो मानव, पशु और वनस्पति के रूप में त्रेधा विभक्त है। पर सबका मूलभूत नियम एक है। एक में मन, एक में प्राण, और एक में भूतों की विशिष्टता का तारतम्य या भेद है, अन्यथा तीनों में तीनों है। प्रत्येक त्रिवृत् सृष्टि है।

अश्व का प्रतीक

सूर्य के एक ओर परमेष्ठी है, दूसरी ओर पृथिवी। पारमेष्ठ्य समष्टि सोम और पार्थिव व्यष्टि सोम दोनों सूर्य की सत्ता के लिये आवश्यक हैं। सूर्य अपनी रश्मियों से जहाँ भी पृथिवी पर सोम है प्रत्येक तृण या जलाशय से उसका संग्रह करता है। मेघों के रूप में सोम के विशाल द्रोणकलश भौतिक सूर्य के चारों ओर आकाश में संचित हो जाते हैं। वही सोम अभिवर्षण द्वारा पुनः पृथिवी पर आता है। उससे ओषधि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वनस्पतियों का जीवन चक्र प्रवर्तित होता है। इसी सोमाहुति परम्परा से अन्त में पुरुष का निर्माण होता है।

जहाँ सोम की आहुति है वहीं भूत की अभिव्यक्ति या भूतात्मक शरीर की रचना होती है। भूतात्मक देह की संज्ञा ही 'दधि' है। इस दधि का निर्माता ही दध्यङ् अथर्वा अग्नि है जिसे सोम विद्या का रहस्य ज्ञात है। दध्यङ् अथर्वा मूल आग्नेय प्राण है। उसके द्वारा सोम का रहस्य दो अश्विनी-कुमारों को प्राप्त होता है। प्राणापान का द्विधा विभक्त क्रम ही अश्विनी हैं। जब तक शरीर में अश्विनीकुमारों का निवास है तभी तक उसका गति से सम्बन्ध रहता है। गति का वास्तविक रूप समञ्चन-प्रसारण है। गति के दो रूप हैं, एक गति दूसरा आगति। गति-आगति का युग्म ही एक अश्व के दो रूप हैं जिन्हें अश्विनी कहा जाता है। ये अश्विनी वस्तुतः विराट् विश्व और व्यष्टि शरीर दोनों के लिये आवश्यक हैं। विराट् में गति का स्रोत सूर्य है। सूर्य की शक्ति ही व्यष्टि में सूर्या है। सूर्या का वर सोम है। सूर्या का प्रति-क्षण विवाह ही जीवन और प्राण है। सोम के सहयोगी अश्विनी हैं। यदि किसी संस्थान में अश्विनीरूप प्राणापान का द्विविध स्पन्दन नहीं है तो उसमें सोम या मधु का पाचन नहीं हो सकता। आख्यान के रूप में कहा जाता है कि अश्विनी कुमार वधू-कामुक सोम के सहयोगी हैं, अथवा उनके रथपर बैठकर सूर्य की पुत्री सूर्या अपने पति के यहाँ जाती है। यदि विराट् सूर्य की ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति का एक अंश हमें प्रतिक्षण न मिले, यदि हमारे जीवन का स्वस्तिक विश्वस्वस्तिक के साथ संतुलित न रहे, तो जीवन का रथ नहीं चल सकता। उसमें विषमता उत्पन्न हो जायगी तो वह उसकी गति कुंठित कर देगी। अतएव सूर्य-सूर्या-सोम-अश्विनी की कथा का रहस्य स्पष्ट है। इसका ही परिवर्तित या उपबृंहित रूप विवस्वान्—सूर्य और सरण्यू छाया की कहानी है। सूर्य की पुत्री या दुहिता शक्ति ही सरण्यू या उसकी छाया है। यह छाया प्रत्येक चिदंश या जीव को प्राप्त हो रही है। ईश्वर आतप और जीव छाया रूप है। विराट् प्राण सूर्य और व्यष्टि प्राण छाया है। इसी छाया ने

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अश्वा का रूप धारण किया और सूर्य ने अश्व का। उनके सम्मिलन से दो अश्विनी कुमारों का जन्म हुआ जो प्रत्येक जीवन-केन्द्र या शरीर संस्था के संचालक हैं। एक ही मूलभूत तत्त्व की द्विविध कल्पना इन आख्यानों में पाई जाती है। सबसे रहस्यात्मक शक्ति तो प्राण या जीवन है। समष्टि जीवन का व्यष्टि जीवन के साथ जो स्थिर और फलवान् सम्बन्ध है उसको बताना ही वैदिक आख्यान का लक्ष्य है। अश्व और अश्वा शब्द सृष्टिविषयक भावों के प्रतीक हैं। गति तत्त्व का स्थूल प्रतीक अश्व है। सूर्य ही विराट् अश्व है जिसके मेध से यह विश्व विरचित हुआ है और नित्य रचा जा रहा है। यह अनादि अनन्त अश्वमेध है। विराट् प्राण ही विराट् अश्व है। उस विराट् शक्ति के एकत्र संचय या यज्ञ से ही विश्व की रचना होती है। सूर्य ही अपनी सहस्र रश्मियों से प्राणों को समञ्चित और प्रसारित करता हुआ इस यज्ञ का विधाता है। सूर्य सापेक्ष काल या संवत्सर का प्रतीक है। संवत्सर प्रजापति के घूमते हुए चक्र की संज्ञा सूर्य है। सूर्य स्वयं महाकाल का अभिव्यक्त रूप है। यह अभिव्यक्त सापेक्ष काल ही हमारे वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, अहोरात्रों के रूपों में प्रतिपल प्रकट हो रहा है। इनकी उपलब्धि ही जीवन है। काल के ये खंड जब तक हमें प्राप्त होते रहते हैं तब तक आयुष्य का अमृतसत्र चलता रहता है। महाकाल की दृष्टि से एक ही उषा है। सापेक्ष काल की दृष्टि से अनेक उषाएँ हैं जो आती-जाती रहती हैं। यही काल चक्र का परिभ्रमण है। वस्तुतः काल रूपी अश्व का जब से आरम्भ हुआ तभी से यह उषा है। अतएव उषा काल के उपक्रम का छोर या सिरा है—**उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः।** जो सिर या मस्तक है वही शरीर का एक छोर है। प्रत्येक उषा सूर्य की पुत्री है। वह किसी एक दिन थी, दूसरे दिन नहीं—ऐसा नहीं है। प्रत्येक क्षण उषा के आरम्भ का क्षण है। प्रत्येक क्षण से संवत्सर के आरम्भ की गणना की जा सकती है। काल के पटल पर जितने भी चिह्न मानव ने अंकित किए हैं वे अपनी कल्पना के अनुसार

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हैं; वे ध्रुव नहीं, सापेक्ष हैं। अतएव शतपथ में जो यह कहा है कि संवत्सर उषा में अपने रेत का सिञ्चन करता है और उससे कुमार का जन्म होता है यह प्रतिक्षण होने वाली क्रिया है। वही कुमार रुद्र है। जो रुद्र है वह अग्नि है (श० ६।१।३।८।१०)। संवत्सर सविता है, उषा उसकी सावित्री शक्ति है। संवत्सर और उषा के संयोग से ही कुमार या प्राण या जीवन का जन्म होता है। प्रत्येक प्राणी का जीवन-चक्र उसका अपना संवत्सर है। जितनी कालावधि में जो अपने जीवन का एक मंडल या चक्र पूरा कर लेता है वही उसका जीवन चक्र या संवत्सरचक्र है।

अग्नि रूपी अद्भुत कुमार या चित्र शिशु

प्रत्येक बीज के अभ्यन्तर में यह अग्नि रूपी प्राण तत्त्व सोया हुआ रहता है। जब बीजाधान किया जाता है तब मातृ कुक्षि में वह जीवन केन्द्र जाग्रत् हो जाता है। उसका वह जागरण ही जीवन का आरम्भ या यज्ञ का उपक्रम है। वही कुमार का जन्म है। यही कुमार अग्नि भी कहा जाता है और इसी की संज्ञा इन्द्र है। समिन्धन या समिद्ध अग्नि ही इस कुमार का जागरण या रुदन भी कहलाता है। अशनाया तत्त्व की संज्ञा रुदन है। बालक अन्न के लिये रोता है। ऐसे ही प्राणरूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेते ही अन्न या सोम के लिये व्याकुल हो पड़ता है। इसी अशनाया या अन्नग्रहण की इच्छा को ब्राह्मण ग्रन्थों में रुदन कहा गया है। पृथिवी और द्युलोक के मध्य में जितनी प्राणसृष्टि है, वनस्पति-पशु-मानव जिसके त्रिविध रूप हैं, उस सब को रोदसी सृष्टि कहते हैं। रोदसी में सर्वत्र अन्न-अन्नाद एवं स्त्री-पुरुष का नियम व्याप्त है। पुष्टि और प्रजनन प्राण के दो लक्षण हैं। अग्नि से पुष्टि और इन्द्र से कामात्मक प्रजनन संभव होता है। दोनों के मध्य में प्राणात्मक शक्ति वायु है।

जहाँ जीवन है वहाँ तीन नियम कार्य करते हैं। एक तो अन्न-अन्नाद या अशनाया का नियम है। इससे स्थूल भौतिक देह का निर्माण होता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यह अग्नि देवता का पार्थिव क्षेत्र है। दूसरा नियम श्वास-प्रश्वास की क्रिया है। प्राण की धौंकनी से ही अन्न का ग्रहण और परिपाक होता है। प्राणन क्रिया ही अन्तरिक्ष लोक का वायु देवता है। इस से तीसरी अवस्था प्रजनन की है जिसके कारण प्रत्येक बीज वृक्ष के रूप में परिवर्तित होता हुआ अन्त में पुष्प और फल के माध्यम से पुनः बीज सृष्टि में पर्यवसान पाता है। बीज से चलकर फिर बीज तक पहुँच जाना ही जीवन का पूरा चक्र है। जो बोया जाता है वह बीज या शुक्र है। उसका अन्तिम परिणाम भी बीज ही है। यह समस्त रोदसी सृष्टि शुक्र-शोणित या बीज सृष्टि है। सर्वत्र माता-पिता का द्वन्द्व आवश्यक है। अर्ध शरीर पुरुष, अर्ध शरीर नारी—यही प्राणि सृष्टि है। इसमें प्रजनन की प्रक्रिया ही इन्द्र का रूप है। प्रजनन आनन्द की सर्वोच्च स्थिति है। उसका मूल काम है। काम मन का रेत या वीर्य है—**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्** (ऋ० १०।१२६।४)।

मन की रहस्यात्मक शक्ति

मन ही इन्द्र है—**यन्मनः स इन्द्रः** (गोपथ उ० ४।१२)। **यो जात एव प्रथमो मनस्वान्** (ऋ० २।१२।१)—यह मनस्वान् इन्द्र ही सब देवों का अधिपति देव है। शरीर में मन ही सबसे महत्त्वपूर्ण दिव्य शक्ति है। इसे ज्योतियों की ज्योति एवं अमृत ज्योति कहा गया है। ऋषि ने प्रश्न किया है—

कवीयमानः क इह प्रवोचद्
देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् (ऋ० १।१६४।१८)

जो कवि है और अपने दर्शन को छन्दों में निबद्ध करता है, वह जानता हो तो इस बात को बतावे कि विश्व में मन रूपी देवता की सृष्टि कहाँ से और कैसे हुई ? सचमुच मन की रचना बहुत बड़ा रहस्य है। इन्द्रियाँ, प्राण और शक्ति के अन्य अनेक स्फुट रूपों का स्रोत और रहस्य मन में

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। मन-प्राण-वाक् (पंचभूत) की समष्टि ही तो मानव या जीवन है। ये तीनों ही आदित्य-वायु-अग्नि देवता हैं। तीनों इन्द्र के रूप हैं जो द्युलोक अन्तरिक्ष-पृथिवी के अधिपति हैं। इन तीनों का एक सूत्र में नध जाना ही तानूनप्त्र सम्बन्ध कहलाता है। एक के भी अभाव से शरीर की स्थिति संभव नहीं रहती। इन तीनों में भी मन की महिमा सबसे विशिष्ट है। उपनिषद् के अनुसार—'तीन वस्तुएँ आत्मा के लिए रची गईं। मन-वाक्-प्राण को आत्मा की अभिव्यक्ति के लिये निर्मित किया गया। जब मन अन्यत्र चला जाता है तो देखता, सुनता नहीं। मन से ही व्यक्ति देखता है, मन से ही सुनता है। वस्तुतः काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय—ये सब कुछ मन के ही रूप हैं। वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय प्रवृत्ति और क्रियाओं की समष्टि ही आत्मा है (बृ० उप० १।५।३)।

जिसे प्रज्ञा या बुद्धि कहते हैं वह मन ही है। पुराणों ने इस रोचक विषय का और विस्तार किया। तदनुसार क्षेत्रज्ञ पुरुष से अधिष्ठित प्रधान या प्रकृति से सर्वप्रथम महत् का प्रादुर्भाव होता है। गुणों के वैषम्य से ही नानात्व की सृष्टि होती है। इस महान् की अनेक संज्ञाएँ हैं, जैसे मन, मति, बुद्धि, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित्, भू, ज्ञान आदि। सबको जानने और सबकी उपलब्धि करने के कारण मन को ही संवित् कहा जाता है। जितने द्वन्द्व हैं वे इस मन में ही घर बनाते हैं, इसलिए इसका एक नाम 'विपुर' है। लोक में मन ही सबका अधिपति और नियामक है, अतएव ईश्वर भी इसकी संज्ञा है। यही सबसे बृहत् है, अतएव ब्रह्म इसकी संज्ञा है। यह उत्पन्न होता है, अतएव भव है। शरीर रूपी पुर में निवास करने के कारण यही पुरुष है। विराट् में इसकी स्वयं सत्ता सबसे पूर्व विद्यमान है, अतएव यह स्वयम्भू भी कहा जाता है। सब कार्यों का स्मरण करने से यही स्मृति है। भोग्य पदार्थों का चयन करने के कारण इसे चिति भी कहते हैं। प्रत्येक में जो बोधक शक्ति है वह बुद्धि मन ही है। कहाँ तक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कहा जाय, भूतमात्रा, प्राणमात्रा और प्रज्ञामात्रा—इन तीनों मात्राओं के छन्द और विवेक का हेतु मन ही है। भूतमात्रा से यह भूतों का अपने भीतर भरण कर लेता है, प्राणमात्रा के रूप में भूतों के पृथक्-पृथक् विभागों को बाँटता है और प्रज्ञामात्रा के रूप में सबका ज्ञान रखता है—ऐसी विलक्षण रहस्यमती शक्ति मन है (**बिभर्ति मानं मनुते विभागं मन्यतेऽपि च,** वायु० ४। २३-५०)। यजुर्वेद के शिव संकल्प मन्त्रों के अनुसार प्रजाओं के अन्तःकरण में निवास करने वाला यह मन अद्‌भुत यक्ष है। जो कभी विश्राम नहीं लेता, सदा काम में व्याप्रुत रहता है, जिसमें अनन्त शक्ति है, जो जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में अपनी दूरंगम प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कभी बाहर जाता है और कभी भीतर लौट आता है, जो नश्वर भूतों में रहते हुए स्वयं अमर ज्योति है, प्रज्ञान, धृत्ति, चित्त जिसके अनेक रूप हैं, ऋक्-यजु-साम जिसकी नाभि या केन्द्र में पिरोए हुए हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान की समस्त रचना जिसके अन्तराल में परिगृहीत है, जिसके बिना कोई कार्य करना सम्भव नहीं, यज्ञों में और सभाओं में होने वाले मानवों के कर्म जिसपर निर्भर हैं, जिसका स्वरूप अजर और वेग सबसे अधिक है—ऐसा विचित्र मन प्रजापति की सृष्टि में सबसे रहस्यमयी रचना है। वह मन ही इन्द्रतत्त्व है। मन की शक्तियों का भी कहीं अन्त है? 'यदि यह पृथिवी दस गुनी बड़ी हो जाय और प्रतिदिन मनुष्य संख्या चढ़ने लगे तो भी इन्द्र की बृंहण शक्ति का कभी अन्त नहीं होगा' (ऋ० १। ५२। ११)। ऐसा जो समष्टि मन है, उसी का एक अंश हमारा व्यष्टि मन है जो प्रत्येक व्यक्ति केन्द्र से स्फुट हुआ है। यह अभिव्यक्ति ही मानव का जीवन है। यही इन्द्र की प्रतिरूपता है—**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**। विश्व का बड़ा या छोटा कोई रूप ऐसा नहीं जो इन्द्र के बिना बन सके। इन्द्र सबकी नाभि में बैठा हुआ नभ्य प्राण है। मन के रूप में प्रतिष्ठित उसी केन्द्र से प्राणों की रश्मियाँ चारों ओर छिटकती हैं जिनसे व्यक्तित्व रूपी मंडल का विधान बनता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

है। मन-प्राण-वाक् (पंचभूत) की समष्टि ही तो मानव या जीवन है। ये तीनों ही आदित्य-वायु-अग्नि देवता हैं। तीनों इन्द्र के रूप हैं जो द्युलोक अन्तरिक्ष-पृथिवी के अधिपति हैं। इन तीनों का एक सूत्र में नध जाना ही तानूनप्त्र सम्बन्ध कहलाता है। एक के भी अभाव से शरीर की स्थिति संभव नहीं रहती। इन तीनों में भी मन की महिमा सबसे विशिष्ट है। उपनिषद् के अनुसार—'तीन वस्तुएँ आत्मा के लिए रची गईं। मन-वाक्-प्राण को आत्मा की अभिव्यक्ति के लिये निर्मित किया गया। जब मन अन्यत्र चला जाता है तो देखता, सुनता नहीं। मन से ही व्यक्ति देखता है, मन से ही सुनता है। वस्तुतः काम, संकल्प, विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय—ये सब कुछ मन के ही रूप हैं। वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय प्रवृत्ति और क्रियाओं की समष्टि ही आत्मा है (बृ० उप० १।५।३)।

जिसे प्रज्ञा या बुद्धि कहते हैं वह मन ही है। पुराणों ने इस रोचक विषय का और विस्तार किया। तदनुसार क्षेत्रज्ञ पुरुष से अधिष्ठित प्रधान या प्रकृति से सर्वप्रथम महत् का प्रादुर्भाव होता है। गुणों के वैषम्य से ही नानात्व की सृष्टि होती है। इस महान् की अनेक संज्ञाएँ हैं, जैसे मन, मति, बुद्धि, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित्, भू, ज्ञान आदि। सबको जानने और सबकी उपलब्धि करने के कारण मन को ही संवित् कहा जाता है। जितने द्वन्द्व हैं वे इस मन में ही घर बनाते हैं, इसलिए इसका एक नाम 'विपुर' है। लोक में मन ही सबका अधिपति और नियामक है, अतएव ईश्वर भी इसकी संज्ञा है। यही सबसे बृहत् है, अतएव ब्रह्मा इसकी संज्ञा है। यह उत्पन्न होता है, अतएव भव है। शरीर रूपी पुर में निवास करने के कारण यही पुरुष है। विराट् में इसकी स्वयं सत्ता सबसे पूर्व विद्यमान है, अतएव यह स्वयम्भू भी कहा जाता है। सब कार्यों का स्मरण करने से यही स्मृति है। भोग्य सदार्थों का चयन करने के कारण इसे चिति भी कहते हैं। प्रत्येक में जो बोधक शक्ति है वह बुद्धि मन ही है। कहाँ तक

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कहा जाय, भूतमात्रा, प्राणमात्रा और प्रज्ञामात्रा—इन तीनों मात्राओं के छन्द और विवेक का हेतु मन ही है। भूतमात्रा से यह भूतों का अपने भीतर भरण कर लेता है, प्राणमात्रा के रूप में भूतों के पृथक्-पृथक् विभागों को बाँटता है और प्रज्ञामात्रा के रूप में सबका ज्ञान रखता है—ऐसी विलक्षण रहस्यमती शक्ति मन है (**बिभर्ति मानं मनुते विभागं मन्यतेऽपि च,** वायु० ४। २३-५०)। यजुर्वेद के शिव संकल्प मन्त्रों के अनुसार प्रजाओं के अन्तःकरण में निवास करने वाला यह मन अद्भुत यक्ष है। जो कभी विश्राम नहीं लेता, सदा काम में व्यापृत रहता है, जिसमें अनन्त शक्ति है, जो जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में अपनी दूरंगम प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कभी बाहर जाता है और कभी भीतर लौट आता है, जो नश्वर भूतों में रहते हुए स्वयं अमर ज्योति है, प्रज्ञान, धृत्ति, चित्त जिसके अनेक रूप हैं, ऋक्-यजु-साम जिसकी नाभि या केन्द्र में पिरोए हुए हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान की समस्त रचना जिसके अन्तराल में परिगृहीत है, जिसके बिना कोई कार्य करना सम्भव नहीं, यज्ञों में और सभाओं में होने वाले मानवों के कर्म जिसपर निर्भर हैं, जिसका स्वरूप अजर और वेग सबसे अधिक है—ऐसा विचित्र मन प्रजापति की सृष्टि में सबसे रहस्यमयी रचना है। वह मन ही इन्द्रतत्त्व है। मन की शक्तियों का भी कहीं अन्त है ? 'यदि यह पृथिवी दस गुनी बड़ी हो जाय और प्रतिदिन मनुष्य संख्या चढ़ने लगे तो भी इन्द्र की बृंहण शक्ति का कभी अन्त नहीं होगा' (ऋ० १। ५२। ११)। ऐसा जो समष्टि मन है, उसी का एक अंश हमारा व्यष्टि मन है जो प्रत्येक व्यक्ति केन्द्र से स्फुट हुआ है। यह अभिव्यक्ति ही मानव का जीवन है। यही इन्द्र की प्रतिरूपता है—**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**। विश्व का बड़ा या छोटा कोई रूप ऐसा नहीं जो इन्द्र के बिना बन सके। इन्द्र सबकी नाभि में बैठा हुआ नभ्य प्राण है। मन के रूप में प्रतिष्ठित उसी केन्द्र से प्राणों की रश्मियाँ चारों ओर छिटकती हैं जिनसे व्यक्तित्व रूपी मंडल का विधान बनता है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इन्द्र और असुर

इन्द्र अपने मंडल का अधिपति है। वह विश्वकर्मा विश्व देव है (ऋ० ८।९१।२)। वह धर्मकृत् है (ऋ० ८।९८।१) अर्थात् अपने मंडल में मर्यादा का पालन कराने वाला है। जहाँ तक इन्द्र की सत्ता है, कोई असुर उसका धर्षण नहीं कर सकता। असुरों का पराभव इन्द्र का अपराजित यश है।

जहाँ इन्द्र का मंडल है उसपर असुरों का आक्रमण होता रहता है। इन्द्र और असुर दैवी और आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। इन्द्र अपने मंडल का राजा है। वह असुरों का प्रवेश नहीं चाहता। असुर उसके मंडल में बलपूर्वक प्रवेश कर जाना चाहते हैं। इन्द्र और वृत्र के संघर्षों को दैवासुरम् कहा जाता है। दैवासुरम् की लीला भूत-प्राण-मन इन तीनों क्षेत्रों में हो रही है।

वस्तुतः सृष्टि के मूल में दो प्रधान तत्त्व हैं—एक आकर्षण दूसरा विकर्षण। मित्र और वरुण का सम्बन्ध पारस्परिक आकर्षण पर आश्रित है। इनके भी अपने-अपने मंडल हैं। मित्र को आंगिरस और वरुण को भार्गव कहते हैं। पर ये दोनों मंडल माता पिता की तरह एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं। इसके विपरीत इन्द्र और वृत्र एक दूसरे को परे फेंकते हैं। उनमें विकर्षण का नियम काम करता है। विकर्षण या विरोध ही वैर है। आकर्षण से शृंगार और विकर्षण से वीर रस का जन्म होता है। इन्द्र सबसे महान् वीर है। जो वीर है उसे असुरों का पराजय करना ही चाहिए। युद्ध में विजय से ही वीर की चरितार्थता होती है। प्रसुत शक्ति का संघर्ष के लिये जागरण ही उसका वीरण है। एक बार जब इन्द्र को युद्ध का नायक कल्पित किया गया तो उसके वाहन, आयुध, सेना, आदि अनेक उपकरणों का वर्णन रोचनात्मक अर्थवाद है। इन्द्र अपने रथ में दो अश्वों का संयोजन करता है—**योजान्विन्द्र ते हरी**। ऋषि ने प्रश्न किया है—कौन इन्द्र के हरी अश्वों को जानता है (**हरी इन्द्रस्य विचिकाय कः स्वित्**, ऋ०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

१०।११४।६)। कहा है—**ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी**—ऋक् और साम ही इन्द्र के दो अश्व हैं (ऐ० ब्रा० २।२४)। ऋक् और साम को रथ में जोड़कर ऋषि उसका संचालन करते हैं—

यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्ररथं वर्तयन्ति।
(ऋ० १०।११४।६)

यज्ञ ही यह रथ है जिसे विमित किया गया है, अर्थात् मात्रा या नाप-जोख के अनुसार जिसका पञ्जर-संस्थान रचा गया है। इस यज्ञीय रथ को गति देनेवाले इन्द्र के दो अश्व हैं और इसकी व्यवस्था करनेवाले मनीषी कवि हैं। प्रत्येक का शरीर ही देवरथ या इन्द्ररथ है। मन रूपी प्रज्ञा तत्त्व का अधिष्ठता इन्द्र इस रथ का नियामक है। ऋक् और साम वाक् और मन के, प्राण और अपान के या दो अश्विनी के या गति-आगति के प्रतीक हैं। इन्द्र के मंडल का व्यास ऋक् और घेरा या परिधि साम कहा जाता है। वस्तुतः इन द्वन्द्वों का अन्त नहीं है। समस्त रचना ऋक्-साम का वितान है। व्यास और परिधि को ही वृत्त का विस्तार समझना चाहिए। मण्डल छोटा हो या बड़ा, उसका केन्द्र बिन्दु एक सदृश रहता है। उस केन्द्र में स्थिति के धरातल पर गतितत्त्व रहता है। केन्द्र बिन्दु या स्थिति गति के सम्मिलित रूप को यजु कहा जाता है। यजु में यत् और जू के दो प्रतीक हैं। 'यज्जू' ही सांकेतिक भाषा में यजु कहा जाता है। यज्जू में 'यत्' गति और जू स्थिति तत्त्व का प्रतीक है। इन्हीं सांकेतिक परिभाषाओं को और आगे बढ़ाते हुए गति को वायु और स्थिति को आकाश भी कहा जाता है। इस प्रकार स्थिति तत्त्व-गति तत्त्व और आगति तत्त्व इन तीनों के सम्मिलन से वृत्त का मूर्तरूप, या मण्डल का सम्पूर्ण रूप बनता है। मंडल ही जीवन की इकाई है। प्रत्येक शरीर एक-एक मण्डल है।

मण्डल ही पुर या राष्ट्र है। मुख्य प्राण इन्द्र मण्डलेश्वर है, अन्य सब प्राण उसके सामन्त कहे जाते हैं। इन्द्र का असुरों से सदा युद्ध चलता रहता है क्योंकि मण्डल की रक्षा का दायित्व इन्द्र पर है। पर वस्तुतः वेदों और

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ब्राह्मणों में जो युद्धों के वर्णन हैं वे सब रोचक अर्थवाद हैं। इन्द्र तो अशत्रु उत्पन्न हुआ है (**अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे**, ऋ० १० । १३३ । २; **अशत्रुं हि मा जनिता जजान**, १० । २८ । ६)। इन्द्र के वलों की कहानी माया है। न उसका कोई शत्रु पहले था, न आज है—

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न पुरा विवित्से ॥
(ऋ० १० । ५४ । २)

शतपथ में भी इसी की व्याख्या करते हुए कहा है—

नैतदस्ति यद्दैवासुरंयदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्
(श० ११।१।६।१७)।

आख्यानों में और इतिहासों में जो देवों और असुरों के युद्ध की कहानियाँ कही जाती हैं, उनमें घटना की तथ्यात्मक सचाई नहीं देखनी चाहिए। वे वर्णन तो अर्थवादरूप हैं। वे सृष्टि विद्या के प्रतीक हैं। इन वर्णनों में इतिहास की खोज व्यामोह है। वृत्र, बल, शम्बर, नमुचि, पणि—ये असुर ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, ये तो आसुरी भावों के प्रतीक हैं। जैसे इन्द्र कोई पुरुष विशेष नहीं, ऐसे ही असुर भी जातीय पुरुषों के नाम नहीं। दैवासुरम् की कल्पना सृष्टि के ज्योति और तम का संघर्ष है। वृत्र एक है, और अनेक भी है, इसीलिए उसे 'वृत्राणि' भी कहा जाता है। इन्द्र की शक्तियों का अवरोधक वृत्र है—**सर्वं वृत्वा शिश्ये**, जो सबको घेर कर बैठ गया, वही आवरक तत्त्व वृत्र है। वृत्र का निराकरण इन्द्र का सबसे बड़ा यशस्य कर्म है। इन्द्र वृत्रहन् है। इन्द्र की विजय शाश्वत है। वह जेता और अपराजित है। 'जितं ते' कहकर उसे प्रणाम किया जाता है। सूर्य प्रकाश का सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक है। सूर्य और प्रकाश पर्याय हैं। **इन्द्रः सूर्यमरोचयत्** (ऋ० ८।३।६), अर्थात् इन्द्रत्व के कारण ही सूर्य में रोचना या ज्योति है। इन्धन ही इन्द्रत्व है। समिद्ध अग्नि ही 'इन्ध'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

या इन्द्र है। प्रत्येक व्यक्ति महान् अश्वत्थ वृक्ष की एक शाखा है। इस शाखा में अग्नि गर्भित है। शाखा का ज्वलनशील होना ही जीवन है। सौ वर्ष की अवधि तक जलने के लिये जीवन या प्राणरूपी समिधा या शाखा का प्रकृति निर्माण करती है। इष् और ऊर्ज् इस शाखा को जीवन के लिये अन्न और शक्ति प्रदान करते हैं। यह शाखा कटी हुई नहीं है। इसकी अव्यक्त जड़ सदा हरी रहती है, अतएव यह शाखा फूलती-फलती है। मधु या सोम चखकर जीवित रहनेवाला मध्वद् सुपर्ण या जीव इस शाखा पर रहता और प्रसव करता है। जो एक सुपर्ण की गति है वही सब सुपर्णों के जीवन चक्र का नमूना है।

इन्द्र और श्वा

ऋग्वेद में इन्द्र को **'शुनं हवेम मघवानमिन्द्रम्'** (३।३६।६, ३।३०।२२) आदि मंत्रों में श्वा कहा गया है। इन्द्र भौंकने वाला कुत्ता है, यह भी विचित्र कल्पना है। इसके पीछे तत्त्वात्मक संकेत है। जो अमृत आकाश है इन्द्र उसका अधिष्ठाता है। इसे ही परम व्योम कहते हैं। परम-व्योम में परावाक् या अमृतावाक् का स्रोत है। उसी की भूतात्मक अभिव्यक्ति भौतिक आकाश के रूप में होती है। आकाश का गुण शब्द है। शब्द ही वाक् है। जो शब्द या वाक् है वही ब्रह्म है। वेदों में वाग्ब्रह्म का पूरा दर्शन ही है—**यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्** (ऋ० १०।११४।८)। परावाक् और अपरावाक्—यही विश्वसृष्टि है। जहाँ आकाश है वहीं शब्द है। जो परमाकाश या अमृत आकाश है वही वैयाकरणों द्वारा स्फोट और ऋग्वेद में गौरी वाक् या चतुष्पदा वाक् का पहला 'परा' नामक चरण कहा जाता है। इसी आकाश तत्त्व का अधिष्ठातृदेव इन्द्र है। आकाश में अनन्त शब्द भरा हुआ है। स्तनयित्नु मेघ शब्द से लेकर नाना वागात्मक शब्दों का उद्गम स्थान आकाश है। यही इन्द्र का भौंकता हुआ कुत्ता है। श्वान तो एक प्रतीक है। जैसे स्तनयित्नु मेघ गर्जन के रूप में प्रचंड शब्द सहसा उत्पन्न करता है, ऐसे ही कुत्ता अपने कंठ से अकस्मात् शब्द

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का ढेर उँडेल देता है।' अतएव श्वा आकाश का प्रतीक है। सरमा देवशुनी वाक् की संज्ञा है। जो सृष्टि व्यापिनी शक्ति का मूल सरस्वान् समुद्र है, जिसे ब्राह्मसर भी कहते हैं, उसी के जलों का मापन व्यष्टि रचना में होता है। प्रत्येक व्यक्तिगत शरीर एक-एक कमण्डलु है जिसमें उस सरस्वान् समुद्र का सलिल भरा हुआ है। यही सर-मा का शब्दार्थ है। सरमा ब्रह्म-वादिनी है। जैसे आम्भृणी, सरस्वती आदि वाक् की संज्ञाएँ हैं ऐसे ही सरमा है। सरमा इन्द्र की गतिविधि से परिचित है। आकाश तत्त्व कहाँ नहीं है ? वह इन्द्र का प्रत्यक्ष रूप है। आकाश का गर्जन या शब्द इन्द्र का वज्र है। भौतिक आकाश मानों परमव्योम या अमृताकाश रूपी सर-स्वान् समुद्र का फेन है। शब्द तन्मात्रा ही सृष्टि का मूल है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश में आकाश सबसे सूक्ष्म है। वाक् तत्त्व आकाश नाम का पहिला भूत है। वह मर्त्या वाक् है। उससे ऊपर जो ब्रह्म तत्त्व है वह अमृता-वाक् कहा जाता है। मर्त्यावाक् इन्द्र की माया या इन्द्राणी या शची शक्ति है। अमृतावाक् स्वयं इन्द्र है। केवल शब्द को और पंचीकृत पंच भूतों के समुच्चय को भी वाक् कहा जाता है। पंचभूतों का मूल उपादान वाक् है। देवश्वा और देवशुनी प्रतीकों का यही अभिप्राय है। शब्दात्मक आकाश के रूप में इन्द्र की सत्ता का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अव्यक्त रूप में इन्द्र नभ्य आत्मा है। सृष्टि में उसी का वितान होता है। यही परिबृंहित या समृद्ध रूप उसका श्वा रूप है। 'यद्वै समृद्धं तच्छुनम्' (श० ७।२।२।६)। मूल आत्म तत्त्व का विस्तृत तूल भाव कितना अनन्त है इसका पल्लवित वर्णन विज्ञान और दर्शन के शब्दों में मिलता है। वही शुन इन्द्र है। सर्वत्र उसमें शब्द का अधिष्ठान है।

इस प्रकार वेदों में इन्द्र का स्वरूप अनेक आख्यानात्मक वर्णनों और प्रतीकों के रूप में पल्लवित हुआ है। हमारे इस शरीरात्मक विश्व में प्रज्ञान रूपी इन्द्र की महिमा सबसे अधिक और रहस्यात्मक है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

२७. सरस्वती

सरस्वती क्या है? कैसे इसके द्वारा मानव का कल्याण हो सकता है? सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। भारतीय धर्म की सब धाराएँ सरस्वती की उपासना करती हैं। वैदिक धर्म में सरस्वती, जैन धर्म में श्रुतदेवता और बौद्ध धर्म में प्रज्ञा देवी के नाम से सरस्वती की ही उपासना की जाती है। प्रज्ञा ज्ञान की देवी है। बुद्ध भगवान को तपश्चर्या और समाधि के फलस्वरूप जो उपलब्धि हुई थी उसकी संज्ञा बुद्धि या प्रज्ञा है। प्रज्ञा ही मानव की सबसे बड़ी विशेषता है। यों तो भौतिक शक्ति और कर्म की शक्ति की भी बहुत बड़ी महिमा है, किन्तु प्रज्ञा या मन की शक्ति इन सबसे ऊपर है। एक सूत्र में "मन ही मनुष्य है।"

मन के दो स्वरूप हैं। एक प्रत्येक व्यक्ति में बटा हुआ अपना-अपना मन है। जीवन का जितना विकास है वह सब व्यक्ति के निजी मन से ही होता है। संसार में जितने व्यक्ति हैं, उतने ही प्रकार के मन हैं। प्रत्येक केन्द्र में अपनी-अपनी प्रज्ञा है। इन प्रज्ञाओं के अनंत भेदों का कोई लेखा जोखा नहीं हो सकता। जिस प्रकार सृष्टि में और सब वस्तुएँ अंत रहित हैं वैसे ही प्रज्ञा मन या बुद्धि के भी असंख्य भेद हैं। इन बुद्धियों का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न पर हम विचार करने लगें तो ज्ञात होता है कि बुद्धि या मन कोई स्थूल वस्तु नहीं। शरीर को तो हम भौतिक रूप में देख पाते हैं किन्तु उसके भीतर रहने वाली जो प्रज्ञा या बुद्धि है, वह तो एक सूक्ष्म शक्ति है। उसका अपना जो सूक्ष्म रूप है, वह तभी हमारे सामने प्रगट होता है, जब हम उसकी प्रेरणा से शब्दों का उच्चारण करते हैं। और उससे भी आगे बढ़कर उन विचारों के अनुसार कर्म करते हैं। इस प्रकार शक्ति के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भंडार में संचित बिजली जिस प्रकार हमारे बल्ब और पंखे में प्रकट होकर सामने आती रहती है, उसी प्रकार मन की सूक्ष्म शक्ति वचन और कर्म में निरन्तर मूर्तरूप प्राप्त करती रहती है। व्यक्ति की इस प्रज्ञा या बुद्धि को सीधी सादी भाषा में व्यष्टि मन कहते हैं। जितने व्यक्ति हैं, उतने ही व्यष्टि मन हैं। अब कल्पना कीजिए उस उद्गम या स्रोत की जिसमें जितने भी प्रकार की बुद्धियाँ या मन हैं वे सब एक साथ जुड़े हों या जिनका अधिष्ठान एक ही स्थान में हो। ऐसी प्रज्ञा शक्ति के विशिष्ट भण्डार को समष्टि मन कहा जाएगा। सृष्टि की रचना के मूल में अवश्य ही इस प्रकार का एक समष्टि मन विद्यमान है, जो अत्यन्त शक्तिशाली है, जिसकी महिमा सबसे ऊपर है, और जिसमें व्यक्तियों के अलग-अलग भेद एक में समाए हुए हैं।

इस प्रकार के समष्टि मानस को हम देवता कह सकते हैं। व्यष्टि मन की सीमा है और जिसकी सीमा है उसका अंत है। किन्तु जो असीम और अपरिमित है, जिसकी शक्ति अमृत और अनंत है, वह देवता कहलाता है। उसे किसी भी नाम से पुकारें, वही अमृत तत्त्व है। सब धर्म, दर्शन, आचार, अध्यात्म, नीति, साहित्य, कलाएँ मानव की व्यक्तिगत बुद्धि में भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, किन्तु अपने समष्टि रूप में वे एक विराट् मानस तत्त्व में लीन हैं। उसी महती शक्ति को हम ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की संज्ञा देते हैं। उस सरस्वती का वाहन हंस है। व्यक्ति की जो अपनी-अपनी बुद्धि या मन है, जिसे "अहं" कहते हैं, वही हंस है। यदि विराट् ज्ञान को मूर्तरूप देना हो, अर्थात् उसे किसी एक केन्द्र में प्रकट करना हो तो मन रूपी हंस के बिना यह संभव नहीं। सरस्वती का आवाहन हंस के द्वारा ही संभव है। व्यक्ति का मन उस पक्षी के समान है, जिसके शक्तिशाली पंखों में विराट् आकाश को नापने की महती विशेषता है। वह अपनी उड़ान से उस गहराई का पता लाता है, जहाँ सबके लिए जाना संभव नहीं होता। इस शक्ति का स्रोत अपने-अपने मन की एकाग्रता या

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

समाधि है। उसे प्राप्त करने का साधन तपश्चर्या है, केवल ज्ञान या इच्छा नहीं।

सरस्वती को सर्व-शुक्ला कहा गया है। यह शुक्रवर्ण उस प्रकाश या ज्योति का रूप है, जिसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान एक ज्योति है। जो प्रत्येक मानस में अभिव्यक्त होती है। सृष्टि के आरंभ से आज तक मानव के मन में ज्ञानरूपी ज्योति का कितने प्रकार से उदय हुआ है, इसकी केवल कल्पना की जा सकती है। अनेक ऋषि, मुनि, बुद्ध, बोधिसत्व, अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, इसी ज्ञान ज्योति की उपासना करते रहे हैं। नामों के भेदों से वस्तु तत्त्व में भेद नहीं पड़ता। सबने सरस्वती के मन्दिर में ज्ञान ज्योति की उपासना की है, और आगे भी मानव के लिये कल्याण का मार्ग यही है।

सरस्वती शब्द भी ध्यान देने योग्य है। जो सरोवर से जन्म लेती है, उसे सरस्वती कहते हैं। यह सरोवर क्या है और कहाँ है? ऊपर जिस समष्टि मन का उल्लेख किया गया है, वही यह सरोवर है। उसे कोई प्रगट रूप में नहीं देख पाता। इसलिए उसे बुद्धि का अव्यक्त सरोवर कहा कहा जाता है। ऋषियों ने उसे ही "ब्राह्म सर" कहा है। वेद उसे ही सोने का कुआँ (हिरण्यय उत्स) भी कहते हैं (उत्सो देव हिरण्ययः, ऋग्वेद्र)। वहाँ सुवर्ण का तात्पर्य चमकने वाली स्थूल और बोझिल धातु नहीं, बल्कि वही अध्यात्म तत्त्व है, जिसे मन कहते हैं और जिसकी चमकती हुई सुनहली किरणों में सारे जीवन का मूल्य समाया हुआ है। जीवन के जितने भी मूल्यवान् रत्न हैं, उन सबका स्रोत वही सुनहला कुआँ है।

ऊपर ज्ञान का स्वरूप ज्योति या प्रकाश कहा गया है। उसे ही प्रकारान्तर से जल भी कह सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का मानस उस विराट ज्ञान सरोवर का एक सीमित, परिमित अंश है। अथवा इसे यों कहाजाय तो उचित होगा कि व्यक्ति का मन एक कमंडलु के समान है। यह कमंडलु उसी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विराट् ज्ञान सरोवर के जल से भरा हुआ है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त इसी कमंडलु के जल की बूँदों से हम अपने जीवन का विकास करते रहते हैं। जो समष्टि का जल है, वह नित्य स्वच्छ रहता है। उसमें भावों के मल नहीं रहते, क्यों कि वह अगाध है। उसकी निर्मलता ही उसका माधुर्य और अमृत स्वाद है। पर जैसे ही वह जल एक व्यक्ति के मानस-पात्र में आता है, वह सीमित हो जाता है। व्यक्ति के राग और द्वेष उसे मैला कर देते हैं। अतएव आवश्यक है कि व्यक्ति इस विषय में सावधान रहे, सदा अपने मन को सरस्वती या विराट् ज्ञान के चिन्तन से स्वच्छ बनाता रहे।

जिस प्रकार अनेक पात्रों में रखे हुए जलों में से अलग-अलग बूदें लेकर उन्हें एक में मिलाया जा सकता है, ऐसे ही व्यक्ति के मन के साथ नित्य प्रति क्रिया होती रहती है। अपने विचार हम दूसरों को देते रहते हैं, दूसरों के संस्कार हम अपने भीतर लेते रहते हैं। इस प्रकार जितने व्यक्तियों से हम संपर्क में आते हैं, उनके मानस का जल हमारे मानस में अनायास मिला जाता है। आदान-प्रदान का यह क्रम ही मानव जीवन के व्यवहार हैं। यह सिलसिला कभी बन्द नहीं होता। इस शृंखला की कड़ियाँ रात दिन चारों ओर फैलती रहती हैं। किन्तु आवश्यक है कि मनुष्य अपने मानस के जल को स्वच्छ और निर्मल रक्खे, दूसरों के साथ संपर्क में आने से अपने मानस में किसी प्रकार की उष्णता या हरारत या प्रतिकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न न होने दे। यही उत्तम और संयत मन का लक्षण है।

ऐसे मन की आवश्यकता हमें अपने कल्याण के लिये सबसे अधिक है। ऐसा ही स्वच्छ मन उस समष्टि मन के निकट होता है, जिसे ऊपर देव या अमृत तत्त्व कहा गया है।

जिस सरस्वती के मंदिर का हम निर्माण करते हैं, वह ईंट पत्थर का ढेर नहीं, बल्कि ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता का एक प्रतीक है। उस प्रतीक के द्वारा हम उस देवता के स्वरूप का परिचय प्राप्त करते हैं। सरस्वती के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मन्दिर में संचित ग्रन्थराशि एक स्थूल प्रतीक मात्र है। वह शब्दराशि निस्सन्देह उस स्रोत से अवतीर्ण हुई है जिसका उल्लेख ऊपर अव्यक्त "ब्राह्म-सर" या समष्टि मन के नाम से किया गया है। इन स्थूल ग्रन्थों की सफलता यही है कि ये जीवन में चरितार्थ हों। लिखित अक्षरों के पीछे जो वास्तविक अक्षर तत्त्व है, जिसका कभी नाश नहीं होता, उस तक पहुँचने का आवाहन इन ग्रन्थों से प्रत्येक मानव को मिलता है। जिसने सावधानी से अपने मन को स्वच्छ रखना सीखा है, जिसने सक्रिय मन से कार्य करते रहने की युक्ति का अभ्यास किया है और जो मन की शक्ति के द्वारा जीवन के निर्माण की कला में निपुण है, उसी के लिये सरस्वती के मन्दिर का ध्येय चरितार्थ होता है। इस प्रकार का आयोजन धर्मों के बाहरी नाम और रूपों से कहीं ऊपर है। यह ऐसी विराट् मानवीय संस्कृति है जिसकी आराधना सबके लिये है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

३

वि
क
जो
रह
अ
है,
हैं
अ

ले
नि
है,
व्या
अ
के
का
म
सा
या
का

है
या

दे
के

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

DATE DUE

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Class No 294.5921 Acc. No. 2875
Author अग्रवाल, वासुदेवशरण Book No AGR
Title वेद-विद्या

Due on	Borrower's Name	Returned on

294.5921 2875
AGR

महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
वाल्मीकि विद्यापीठ
पुस्तकालय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रकाशक

रामप्रसाद एण्ड सन्स

अस्पताल रोड़

आगरा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu